शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

लेखक की अन्य रचनाएँ

आलोचनात्मक

कबीर की विचरधारा ७)
(डालमिया पुरस्कार समिति द्वारा
२१००) की धन-राशि से पुरस्कृत)
कबीर और जायसी का रहस्यवाद ६)
(उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

अनुवादित

हिन्दी दशरूपक ६।।)
धनञ्जय विरचित संस्कृतदशरूपकम्
की व्याख्यात्मक टीका
(उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

सम्पादित

हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ ३।।)
कहानी-कला पर एक विस्तृत और
गवेषणात्मक भूमिका सहित

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

प्रथम भाग

(साहित्य, कला, काव्य और उसके सम्प्रदायों का शास्त्रीय विवेचन)

लेखक

डा० गोविन्द त्रिगुणायत

एम० ए० पी-एच० डी०

प्रोफेसर, के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा-दिल्ली

साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ गुरुजनो,
आचार्यों और विद्वानों
के
कर कमलों
में
सादर सविनय
समर्पित

प्राक्कथन

साहित्य का प्रमुख अग उसका शास्त्र होता है। जिस साहित्य का शास्त्रीय पक्ष जितना प्रौढ होता है, वह उतना ही महान् समझा जाता है। उदाहरण के लिए हम सस्कृत-साहित्य को ले सकते है। सस्कृत-साहित्य का अतुलनीय महत्त्व सम्भवत उसके पाडित्यपूर्ण वृहत्काय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के कारण ही है। हिन्दी साहित्य का उदय और विकास सस्कृत-साहित्य की प्रौढ भूमिका पर हुआ है। उसके सभी अग और उपाग उसका अवलम्ब पाकर उसी के अनुकरण पर विकसित हुए हैं। उसके शास्त्रीय पक्ष का स्वरूप और विकास तो पूर्णतया उसी पर आधारित है। रीति-युग में हिन्दी साहित्य के लक्ष्य-लक्षण ग्रंथो के रूप में सस्कृत के सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र की ही पुनरुद्धरणी की गई थी। पुनरुद्धरण-प्रक्रिया वास्तव में बडी कठिन होती है। अच्छे अच्छे विद्वान् भी इस कार्य में असफल होते देखे जाते है। रीतिकालीन आचार्य लोग भी अपने इस कार्य में सफल नही हुए थे। सस्कृत काव्य-शास्त्र का उलथा करने के प्रयास मे उन्होने मौलिकता को पगु कर दिया था। उनकी प्रतिभा कुठित हो गई थी। उसकी इतिश्री केवल सस्कृत के कुछ लक्षण और उदाहरणो के निर्बल रूपान्तरों की अभिव्यक्ति में ही समझी जाने लगी थी। भावुकता का तो इन्होने गला ही घोट डाला था। इन्ही कारणो से इस युग का साहित्य सकीर्णता की उसमन से घुटता हुआ प्रतीत होता है।

आधुनिक युग को हम हिन्दी-साहित्य के विकास का स्वर्ण-युग कह सकते हैं उसके प्रत्येक पक्ष को लेकर नित्य नए ग्रथ रचे जा रहे हैं। गद्य-विधाओं का विकास तो अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। केवल साहित्यशास्त्र ही ऐसी गद्य-विधा जिसके अध्ययन की उपेक्षा अब भी की जा रही है। इस उपेक्षा के मूल में कई कारण दिखलाई पडते हैं। सबसे पहला कारण युग की आर्थिक प्रवृत्ति है। आज का लेखक समुदाय साहित्य-सर्जना प्राय 'अर्थकृते' ही करता है। अर्थकृते रचा गया साहित्य गभीर नही हो पाता। गभीर साहित्य की रचना स्वार्थ को लेकर नही की जा सकती। उसका जन्म साहित्यकार और कठोर साधना के सुहाग से होता है। साधना का मार्ग सदैव ही कटकाकीर्ण रहा है। उसके लिए स्वार्थों की बलि देनी पड़ती है। आज का लेखक स्वार्थो की बलि-वेदी पर अपने साहित्य का प्रासाद खडा करने में असमर्थ-सा दिखाई पडता है। सम्भवत. इसीलिए साहित्य-शास्त्र जैसे गभीर विषयो का अध्ययन इतना उपेक्षित है। इसकी उपेक्षा का एक कारण और है। आज के युग में पाडित्य का स्वरूप बहुत कुछ छिछला हो चला है। इसका कारण आज के मानव का अत्यधिक व्यस्त होना है। उसे गभीर अध्ययन, चिन्तन और मनन का अवकाश ही नही मिलता। साहित्यशास्त्र का अध्ययन और सृजन प्रकाड पाडित्य और गूढ-चिन्तन की अपेक्षा रखता है। इन्ही सब कारणो से [illegible] ीय समीक्षा के सिद्धान्तो का विश्लेषण बहुत कम हो पाया है। इस दिशा

से जो कुछ थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया भी गया है उनका अधिकांश बहुत सामान्य स्तर का है। हमारी समझ में केवल दो-चार ग्रंथ ही ऐसे हैं जिन्हें समुचित स्तर की रचना कहा जा सकता है। इन ग्रंथों में डाक्टर श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' और बाबू गुलाबराय लिखित 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनमें लेखक का पांडित्य तो दिखाई पड़ता है किन्तु उनकी शैली सुबोध, सरल एवं वैज्ञानिक नहीं है। ऐसे ग्रंथों में पंडित रामदहिन मिश्र लिखित 'काव्य-दर्पण' तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' रचित 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' एवं पं० बलदेव उपाध्याय-प्रणीत 'भारतीय साहित्यशास्त्र' विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। तीसरे प्रकार के वे ग्रंथ हैं जिनमें संक्षेप में परीक्षार्थियों के उपयोग की सामग्री सजाई गई है। इन ग्रंथों में न तो पांडित्य ही दिखलाई पड़ता है, न मौलिक विवेचन ही मिलता है और न लेखक की मननशीलता का ही पता चलता है। ऐसे ग्रंथों में क्षेमचन्द्र तथा योगेन्द्र मल्लिक-लिखित 'साहित्य विवेचन', डा० सोमनाथ रचित 'आलोचना और उसके सिद्धान्त', शिवनंदन सहाय-प्रणीत 'काव्यालोचन के सिद्धान्त' आदि के नाम दिए जा सकते हैं। ऊपर हमने जिन रचनाओं को प्रथम कोटि में रखा है, आज वे भी ज्ञान के नित नए विकास के कारण पुरानी पड़ चली हैं और उनका महत्त्व क्षीण हो चला है। इसी बात को देखकर प्रस्तुत रचना का प्रणयन किया गया है। लेखक ने इस ग्रंथ को लिखते समय कई बातों पर विशेष ध्यान रखा है। सबसे पहला प्रयत्न उसने यह किया है कि गूढ़ातिगूढ़ सिद्धान्तों को अत्यन्त सुबोध, सरल एवं वैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत करे। उसका दूसरा प्रयास समस्त उपलब्ध सामग्री की आलोचना करके नई परिस्थितियों के प्रकाश में सिद्धान्तों के स्वरूप-निरूपण की ओर हुआ है। सामग्री पाश्चात्य और भारतीय दोनों काव्यशास्त्रों से ग्रहण की गई है। उसको यथासंभव मूल रूप में ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, जिससे उसकी प्रामाणिकता भी प्रकट होती रहे और विषय का स्पष्टीकरण भी अधिक हो जाय। इतना सब होते हुए भी लेखक यह दावा नहीं करता कि वह सर्वज्ञ है और उसने जो कुछ लिखा है, शास्त्रीय-समीक्षा के सिद्धान्तों के स्वरूप की सही तस्वीर है। वह इतना ही कह सकता है कि जो कुछ लिखा है वह उसकी सतत साधना का ही सुफल है।

यह ग्रंथ दो भागों में लिखा गया है। प्रस्तुत भाग में साहित्य, कला, काव्य और संस्कृत-साहित्य के काव्य-सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है। अलंकार-सम्प्रदाय का विवेचन करते समय अत्यन्त संक्षेप में कुछ प्रसिद्ध अलंकारों का उल्लेख भी किया गया है। यद्यपि उनका उल्लेख ग्रंथ की रूपरेखा से बहुत सामञ्जस्य नहीं रखता है, फिर भी उनके विवेचन से विद्यार्थियों को थोड़ी सुविधा हो जायगी—यह सोचकर ही ऐसा किया गया है। अलंकारों के लक्षण और उदाहरण अधिकतर लाला भगवानदीन की 'अलंकार-मंजूषा' के आधार पर दिए गए हैं। लेखक स्वर्गीय लाला साहब का हृदय से ऋणी है। इस भाग के अन्त में परिशिष्ट रूप में भारतीय काव्य-शास्त्र का संक्षिप्त विकास-क्रम भी जोड़ दिया गया है। इसके लेखन में लेखक ने लखनऊ विश्वविद्यालय के सुयोग्य विद्वान् डा० भगीरथ मिश्र के 'हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास' से विशेष

सहायता ली है। लेखक उनका हृदय से आभारी है। ग्रन्थ के अन्य अध्यायो के लेखन में लेखक ने आज तक के सभी उपलब्ध संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के काव्य-शास्त्र के ग्रंथो से सहायता ली है। वह इन ग्रन्थो के लेखको के प्रति आभार प्रकट करता है। इन सबसे अधिक ऋण पूज्यपाद गुरुवर प० अयोध्यानाथ शर्मा का है जिनकी कृपा और आशीर्वादो के फलस्वरूप ही आज लेखक इस प्रकार की रचना प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका है।

यहाँ पर मैं इस ग्रंथ की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में लिखने के लोभ का संवरण नही कर सकता हूँ। प्रत्येक सत्प्रयास के मूल में कोई प्रेरणा हुआ करती है। साहित्यिक प्रयास तो बिना किसी प्रेरणा के साकार रूप ही नही धारण कर पाते। साहित्य प्रेरणाओ के रूप में आचार्यों ने 'यश-प्राप्ति', 'अर्थ-लाभ', 'व्यवहार-ज्ञान', 'शिवेतरक्षतये', काम-तृप्ति, मोक्ष-प्राप्ति एव स्वान्त सुख बताए हैं। किन्तु मैं इन सब प्रेरक तत्त्वो को गौण ही मानता हूँ। मेरी समझ में प्रत्येक महान् साहित्य-कृति की प्रधान प्रेरिका नारी ही होती है—चाहे वह माता हो, भगिनी हो, शिष्या हो, पुत्री हो या पत्नी हो। नारी का जितना भव्य रूप प्रेरणा के मूल में होता है, उतनी ही महान् कृति वह होती है। कालिदास ने "क्रियाणा खलु धर्माणा सत्पत्नयो मूलकारणम्" लिखकर इसी सत्य का समर्थन किया है। मेरी इस रचना की प्रधान प्रेरिकाएँ भी दो देवियाँ ही हैं। एक मेरी विदुषी शिष्या सुश्री कुमारी सुशीला एम० ए० हैं और दूसरी विद्यानुरागणी मेरी जीवन-संगिनी श्रीमती सरला त्रिगुणायत एम० ए० हैं। एक की सात्विक प्रेरणा से इस ग्रंथ की रचना का श्रीगणेश हुआ था और दूसरी के प्रणयानुरोध से यह पूर्ण हुआ है। वास्तव में मैं इन दोनो के प्रति आभार अनुभव करता हूँ। इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि पढकर कुछ सुझाव देने का श्रेय मेरी ही देख-रेख में अनुसंधान करने वाले श्री रणवीर-चन्द्र रांग्रा को है। श्री प्रो० रामप्रसाद शास्त्री ने भी कुछ प्रूफ आदि पढ़कर मेरी सहायता की है। इन दोनो के प्रति मैं शुभ कामना प्रकट करता हूँ। अन्त में मैं अपने प्रिय शिष्य राजेन्द्र त्रिपाठी एम० ए० को आशीर्वाद दिए बिना नही रह सकता। वे मेरे साहित्यिक प्रयास में प्रतिलिपि करके मेरा सहयोग देते रहे हैं। ईश्वर उनके उन्नति-मार्ग को प्रशस्त करे।

लेखक

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. साहित्य	१-३२
व्याख्या और स्वरूप	१
साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति	१
संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों में दी गई साहित्य की परिभाषाएँ	१
संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में साहित्य का स्वरूप	२
कवीन्द्र रवीन्द्रकृत साहित्य की व्याख्या	३
अँगरेजी में साहित्य का स्वरूप-निरूपण	४
हिन्दी विद्वानों द्वारा दी गई साहित्य की परिभाषाएँ	४
समस्त मतों का निष्कर्ष और संक्षेप	५
उपर्युक्त समस्त मतों की समीक्षा और साहित्य का रूप-विधान	६
साहित्य की मूलभूत प्रेरक प्रवृत्तियाँ और प्रयोजन	६
साहित्य और कला	९
साहित्य और विज्ञान	११
साहित्य के मूल तत्त्व	१३
साहित्यकार और उसका व्यक्तित्व	१३
भाषा और साहित्य	१५
साहित्य दर्शन	१८
जीवन और साहित्य	१९
साहित्य और धर्म	२१
साहित्य और सदाचार	२३
साहित्य और समाज	२५
साहित्य का मर्म	२७
साहित्य के विविध रूप	३०
२. कला विवेचन	३३-६१
कला का स्वरूप-निरूपण	३३
संस्कृत में कला का विवेचन	३३
कला के सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र का मत	३४
कला के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों के विचार	३५
क्रोचे के कला सम्बन्धी विचार	३८
कला के सम्बन्ध में हिन्दी विद्वानों के मत	३९
समस्त मतों की आलोचना और निष्कर्ष	४०
कला सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना है	४१
भारतीय विद्वानों के सौन्दर्य सम्बन्धी मत	४२
सब मतों की आलोचना और निष्कर्ष	४४
कला और जीवन	४६
कला के लक्ष्य या प्रयोजन के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के मत	४८
कला की प्रेरणाओं और प्रयोजन के सम्बन्ध में भारतीय मत	४८
विविध कलाएँ और उनका वर्गीकरण	५१
उपयोगी और ललित कलाएँ	५३
'कला कला के लिए'	५५
कला जीवन के लिए	५९
३. काव्य	६२-२८३
काव्य शब्द की व्युत्पत्ति	६२
कवि शब्द की व्युत्पत्ति	६२

विषय	पृष्ठ
काव्य का स्वरूप-निरूपण	६३
काव्य के सम्बन्ध में हिन्दी विद्वानो के मत	६६
काव्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानो के मत	६७
पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के तत्त्व	७०
बुद्धि तत्त्व	७०
भाव तत्त्व	७४
कल्पना तत्त्व	७६
कल्पना के सम्बन्ध में दार्शनिक काट का मत	७६
कालरिज का कल्पना सम्बन्धी मत	८०
क्रोचे का कल्पना सम्बन्धी मत	८१
भारत में कल्पना पर विचार	८४
उपर्युक्त समस्त मतो की आलोचना और सार	८८
कल्पना और रस तत्त्व	९०
शैली तत्व	९१
पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई शैली-विवेचना	९१
शैली की वैधानिक विशेषताएँ	९५
शैली के विकास की स्थितियाँ	९७
भारत में शैली पर विचार	९७
भाषा और शब्द-शक्तियाँ	९८
शब्दो का महत्त्व	९९
शब्द शक्तियाँ	१००
शैली को सुशोभित करनेवाले विविध अग	१०६
भाव-पक्ष और कला-पक्ष	१०७
काव्य में अभिव्यञ्जनावाद	१०९
काव्य में आदर्शवाद	१११
यथार्थवाद	११५

विषय
सत्य शिव सुन्दरम्
काव्योत्पत्ति के हेतु
काव्य की प्रेरक शक्तियाँ
काव्य के भेद
काव्य के वर्ण्य
काव्य-दोष
रस सम्प्रदाय
रस शब्द की व्यत्युत्पत्ति, अर्थ और इतिहास
साहित्य में रस का महत्त्व
भरतमुनि का रस सूत्र
रस सूत्र के व्याख्याकार
रस के सम्बन्ध में कुछ अन्य आचार्यों के मत
साधारणीकरण
भाव और रस में अन्तर
रस का स्वरूप
रस-मैत्री और रस-विरोध
रसो के पारस्परिक विरोध का परिहार
रस सम्बन्धी काव्य दोषो की व्यापकता और उनके परिहार के उपाय
रस और ध्वनि का सम्बन्ध
रसो की सख्या
शृगार रस और उसके भेद-प्रभेद
शृगार रस की परिभाषा
सस्कृत में शृगार रस का महत्त्व
हिन्दी साहित्य में शृगार का महत्त्व
शृगार का रसराजत्व
शृगार का शास्त्रीय रूप
आलम्बन विभाव

विषय	पृष्ठ
नायक और नायिका भेद	१७२
शृंगार रस के भेद	१८२
सम्भोग शृंगार	१८३
सम्भोग और कलाएँ	१८३
सौन्दर्य के बत्तीस लक्षण	१८३
चार प्रकार की नायिकाएँ—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी	१८५
संयोग में प्रणय-लीला	१८६
संभोग शृंगार का विवेचन करते समय विचारणीय विषयों का संक्षिप्त उल्लेख	१८६
विरह-पक्ष का विवेचन करते समय विचारणीय बातें	१८७
विरह वर्णन के स्थल	१८७
विरह-वर्णन पर पड़े हुए प्रभाव	१८७
विरह का शास्त्रीय पक्ष	१८७
विरह का शारीरिक पक्ष	१८८
विरह का मानसिक पक्ष—भारतीय विरह दशाएँ—फारसी विरह दशाएँ	१८८
विरह का व्यावहारिक पक्ष	१८९
विरह और प्रकृति	१८९
सन्देश पक्ष	१८९
वर्णाकर्ता	१८९
विरह और देश-काल	१८९
विरह-वर्णन की शैलियाँ	१९०
करुण रस	१९०
शास्त्रीय रूप	१९०
करुण के भेद	१९०
हास्य रस का [illegible]	१९१
अद्भुत रस—उसका शास्त्रीय रूप	१९३
हास्य रस शास्त्रीय रूप—हास्य के भेद	१९४

विषय	पृष्ठ
रौद्र रस—शास्त्रीय रूप	१९४
वीर रस—शास्त्रीय रूप	१९५
भयानक रस—शास्त्रीय रूप	१९५
वीभत्स रस—शास्त्रीय रूप	१९५
भक्ति-रस—उसके सम्बन्ध में मतभेद	१९६
वात्सल्य रस—उसका शास्त्रीय स्वरूप	१९८
शान्त रस—उसके सम्बन्ध में मतभेद	१९९
ध्वनि सम्प्रदाय	२००
ध्वनि और उसके विविध अर्थ	२००
ध्वनि सिद्धान्त की आधार भूमि	२०२
ध्वनि सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास	२०३
ध्वनि सिद्धान्त के पूर्व की शब्द-शक्तियाँ	२०४
अभिधा शक्ति का महत्त्व	२०६
लक्षणा शक्ति	२०६
तात्पर्यावृत्ति	२०७
व्यञ्जना-वृत्ति और ध्वनि-विवेचन	२०७
व्यञ्जना के भेद	२०८
ध्वनि और उसके भेद	२०८
असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के आठ भेद	२०९
रस-रसाभास—भाव—भावाभास	२०९
भाव शान्ति—भावोदय—भाव सन्धि-भावशबलता	२१०
संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और उसके प्रमुख भेद	२११
अलंकार सम्प्रदाय	२१४
अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति व्याख्या और स्वरूप	२१४

विषय	पृष्ठ
काव्य में अलकारो का स्थान और महत्त्व	२१५
अलकार और अलकार्य का भेद	२१७
अलकार और गुणों में भेद	२१८
अलकारो का मनोवैज्ञानिक आधार	२२१
अलकारो का क्रम	२२२
अलकारों का वर्गीकरण	२२२
रसानुभूति में अलकारो का योग	२२४
अलकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य	२२५
प्रसिद्ध अलकार, उनकी परिभाषाएँ एव उदाहरण	२२६
रीति सम्प्रदाय	२५४
रीति शब्द की व्युत्पत्ति	२५५
रीति की परिभाषा और व्याख्या	२५५
गुणो का लक्षण	२५६
गुणो की सख्या	२५६
रस और गुणो का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध	२५७
प्रमुख गुणो के लक्षण और उदाहरण	२५८
सस्कृत में शैलियो का विकास	२५९
रीति के नियामक	२६४
वृत्ति, वृत्ति का स्वरूप और परिभाषा	२६५
वृत्तियो का उदय	२६६
नाटक में वृत्तियाँ	२६७
वृत्ति सख्या के सम्बन्ध में अन्य कुछ मत	२६
काव्य और वृत्ति	२७
चमत्कार सम्प्रदाय	२७
चमत्कार शब्द का ऐतिहासिक विकास	२७
वक्रोक्ति सम्प्रदाय	२७
वक्रोक्ति का स्वरूप और इतिहास	२७
आचार्य कुन्तक और वक्रोक्ति	२७
वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जनावाद में अन्तर	२७
अभिव्यञ्जनावाद और वक्रोक्तिवाद में अन्तर	२७
वक्रोक्ति के भेद	२८
औचित्य सम्प्रदाय	२८
औचित्य सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और उसका ऐतिहासिक विकास-क्रम	२८
औचित्य के भेद	२८
औचित्य और रस-परिपाक	२८
४ भारतीय काव्य-शास्त्र का विकास-क्रम	२८७-३१
सस्कृत का काव्य-शास्त्र	२८
हिन्दी के शास्त्रीय ग्रन्थो का विकास	२८
आधुनिक ढग के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ	३१

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

: १ :

साहित्य

व्याख्या और स्वरूप

(साहित्य शब्द बड़ा ही व्यापक है। इससे समस्त जीवन की अभिव्यक्ति और सम्पूर्ण ज्ञान की चेतना का बोध होता है)। समस्त जीवन और सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात् कर प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों में संजोने की शक्ति किसी एक व्यक्ति, एक जाति और एक समाज में सम्भव नहीं होती। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज अपने-अपने साहित्य का विकास अपने-अपने ढंग पर करता है। इस विकास-वैषम्य के कारण ही साहित्य के स्वरूप की कोई एक पूर्ण निश्चित व्याख्या न तो उपलब्ध ही है और न निरूपित ही की जा सकती है। किन्तु मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह किसी भी वस्तु का स्वरूप निरूपण किए बिना नहीं रह सकता। मानव-स्वभाव की इसी सामान्य प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विभिन्न देशों, विभिन्न समयों में होने वाले साहित्याचार्यों ने साहित्य को परिभाषाबद्ध करने की चेष्टा की है। ये परिभाषाएँ अधिकतर आचार्यों की अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप होने के कारण एकपक्षीय और एकांगी हैं। फिर भी साहित्य के स्वरूप का परिचय पाने के लिए इन परिभाषाओं का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ पर हम संस्कृत, हिन्दी और अंगरेज़ी के प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा दी गई साहित्य की परिभाषाओं का ही उल्लेख करेंगे। पुनश्च उनके प्रकाश में साहित्य के सम्पूर्ण कलेवर

आचार्यों ने साहित्य की स्वतन्त्र परिभाषाएँ बहुत कम दी हैं। मैं साहित्य को काव्य का व्यापकतम रूप मानता हूँ। इसीलिए इस ग्रन्थ में साहित्य और काव्य का विवेचन अलग-अलग किया गया है। अतएव साहित्य की परिभाषा के अन्तर्गत हम संस्कृत आचार्यों के द्वारा दी गई काव्य परिभाषाओ का समावेश करना उचित नही समझते। उनका उल्लेख काव्य के स्वरूप और सिद्धान्तो का विवेचन करते समय स्वतंत्र रूप से किया जायेगा। यहाँ पर केवल साहित्य की परिभाषाओ पर ही विचार करेंगे। संस्कृत के निम्नलिखित ग्रन्थो में साहित्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

श्राद्ध विवेक[1]—इस ग्रन्थ के रचयिता रुद्रधर ने साहित्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेक क्रियान्वियित्व साहित्यम्' अर्थात परस्पर सापेक्षित तुल्य कोटि की वस्तुओ के संग्रह को साहित्य कहते हैं। इस परिभाषा के आधार पर साहित्य किसी भाषा विशेष के विविध प्रकार के विविध विषयो पर लिखे गए ग्रन्थ समूह को कहेंगे। शब्द शक्ति प्रकाशिका और विक्रमाङ्कदेव चरित नामक ग्रन्थो में भी साहित्य की व्याख्या इसी अर्थ में की गई है।

शब्दशक्ति प्रकाशिका—इस ग्रन्थ में 'तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वम् बुद्धि विशेष विषयित्वम् साहित्यम्' लिखकर साहित्य विषयक उपर्युक्त अर्थ का ही समर्थन किया गया है।

विक्रमाङ्कदेव चरित[3]—इस ग्रन्थ में भी महाकवि बिल्हण ने साहित्य शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के ग्रन्थ समूह के अर्थ में ही किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य शब्द संस्कृत विद्वानो की दृष्टि में भी काव्य की अपेक्षा कही अधिक व्यापक था।

संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में साहित्य का स्वरूप—संस्कृत में साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर काव्य के अर्थ में किया गया है। इस अर्थ में इसका प्रयोग करने वाले आचार्यों में कविराज राजशेखर, मुकुल भट्ट, प्रतिहारेन्दु राज और मखक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। संस्कृत साहित्य में काव्य के सम्बन्ध में विविध मतवाद प्रचलित हैं। कुछ लोग उसे शब्दगत मानते हैं, कुछ लोग उसे शब्द और अर्थ उभयगत। साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर शब्द और अर्थ उभयगत काव्य के अर्थ में ही किया जाता है। निम्नलिखित उद्धरण से यह बात पूर्ण रूपेण स्पष्ट है—

शब्दार्थमोर्यायावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या[4]

वक्रोक्ति जीवितकार राजानक कुन्तक ने साहित्य का विवेचन करते हुए इस

---

१. श्राद्धविवेक–रुद्रधर, पृ० १८ देखिए।

२ संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, भूमिका पृ० २–कन्हैयालाल पोद्दार।

३. विक्रमाङ्क देव चरित १/११।

बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रों में वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु काव्य में ऐसे ही शब्द का प्रयोग होना है जो कवि की आन्तरिक भावना के अनुरूप हो। अन्य शास्त्रों में अर्थ केवल विषय प्रतिपादक मात्र होता है किन्तु काव्यगत अर्थ में सहृदय मर्मज्ञ को आल्हादित करने की अपूर्व शक्ति रहती है। काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर सहित भाव ही अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विलक्षण होता है। काव्य में सामञ्जस्य-विधान की कुछ अपनी विशेषताएँ होती है। इस दृष्टि से ही काव्य अर्थ में प्रयुक्त साहित्य शब्द अपने सामान्य रूप से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। इसीलिए उच्चतम साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों के परस्पर सद्भाव से उद्भूत एक विशेष अनुरंजनकारिणी रागात्मिका शक्ति का होना अपेक्षित समझा जाता है। वक्रोक्ति जीवितकार ने यही बात निम्नलिखित शब्दों में व्यञ्जित की है

"साहित्यमनयो शोभाशालिताम् प्रति काप्यसौ
अन्यूनानतिरिक्तत्वम् मनोहारिण्यवस्थिति."[1]

अर्थात् साहित्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की परस्पर स्पर्धामय मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो। वास्तव में 'साहित्य में वाचक की वाचकान्तर के साथ और वाच्य की वाच्यान्तर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष और उत्कर्ष न होकर, समान रूप में स्थिति होती' है।

कवीन्द्र रवीन्द्रकृत साहित्य की व्याख्या—महाकवि रवीन्द्र ने बंगला में 'साहित्य' शीर्षक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में[2] उन्होंने साहित्य के स्वरूप की सुन्दर व्याख्या की है। उस व्याख्या का अविकल हिन्दी रूप इस प्रकार है—"सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यही नहीं वरन् यह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का मिलन कैसा होता है।" कवीन्द्र रवीन्द्र की उपर्युक्त परिभाषा संस्कृत ग्रन्थों में प्राप्त साहित्य शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या से विशेष प्रभावित प्रतीत होती है। इतना होते हुए भी इसमें एक नवीनता और मौलिकता भी है। उपर्युक्त व्याख्या में महाकवि ने व्यक्त किया है कि साहित्य में केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ ही मेल नहीं होता है बल्कि इसमें समन्वय और सम्बन्ध के सामञ्जस्य-विधान की भी शक्ति रहती है जैसे मनुष्य का मनुष्य के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, दूर का निकट के साथ। इस प्रकार साहित्य विरोधाभास तत्त्वों में सम्बन्ध स्थापित कर उनको एक सूत्र में बाँधने का प्रयास करता है।

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।१७।

२. 'साहित्य' : कवीन्द्र रवीन्द्र, पृ० ८।

अगरेज़ी में साहित्य का स्वरूप-निरूपण—भारत के समान इगलैंड में भी साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की बहुमुखी चेष्टा की गई है। सस्कृत के आचार्यों की भाँति अगरेज़ी के आचार्यों में भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य नही है। यहाँ पर सक्षेप में हम अगरेजी विद्वानो द्वारा दी गई साहित्य सम्बन्धी व्याख्याओ का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका की परिभाषा—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका अगरेजी का एक बहुत ही प्रामाणिक कोष है। उसमें साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के लिए व्यवहृत हो सकता है।

हेनरी हडसन—हेनरी हडसन ने 'Study of Literature' नामक एक प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किए हैं वे इस प्रकार हैं—

"Literature is only one of the many channels in which the energy of age discharges itself in its political movement, a religious thought, philosophical speculation & art. We have the same energy overflowing into other forms of expression" अर्थात् विभिन्न साधनो में साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें काल विशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है। यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनैतिक आदोलन, धार्मिक विचार, दर्शन और कला के रूप में प्रकट होती है।

मैथ्यू आर्नल्ड—मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की व्याख्या कहा है।

एम० जी० भाटे—एम० जी० भाटे ने "Literature and Literary Criticism' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें इसकी व्याख्या इस प्रकार दी गई है—"Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the key-board of language." अर्थात् साहित्य वह सगीत है जो कि मानव के अन्तस्तल से इसलिए निसृत होता है कि वह भाषा के माध्यम से जीवन के साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित कर सके।

हिन्दी विद्वानो द्वारा दी गई साहित्य की परिभाषाएँ—हिन्दी विद्वानो ने भी साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। कुछ प्रमुख हिन्दी विद्वानो के मत इस प्रकार हैं—

महावीर प्रसाद द्विवेदी—आपने 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक लेख के प्रारम्भ में साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—'ज्ञान राशि के सचित कोप का नाम ही साहित्य है।' साहित्य की यह परिभापा अत्यधिक व्यापक है। मेरी समझ में साहित्य शब्द से इतने व्यापक अर्थ का बोध भी होता है।

श्यामसुन्दर दास—बाबू श्यामसुन्दर दास ने साहित्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में माना है—

(क) छपी हुई रचना के अर्थ में—उनका मत है बोल-चाल में साहित्य शब्द

इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(ख) कलात्मक पुस्तकों के रूप में—उनके मतानुसार कला-क्षेत्र में साहित्य शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है।

मुंशी प्रेमचन्द—वे लिखते हैं—"साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना है', चाहे वह निबन्ध के रूप में हो चाहे कहानी के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"—'कुछ विचार'; पृ० ६।

जयशङ्कर प्रसाद—प्रसाद जी साहित्य को काव्य का पर्यायवाची मानते थे। उन्होंने लिखा है—"काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है।"—काव्य कला और अन्य निबन्ध, पृ० ११।

इसी के आगे उन्होंने काव्य की व्याख्या भी की है। उसका उल्लेख 'काव्य-विवेचन' के प्रसंग में करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि प्रसाद जी साहित्य शब्द परक संकुचित अर्थ मानने के पक्ष में ही थे।

गुलाबराय—बाबू गुलाबराय ने साहित्य शब्द को संस्कृत की व्युत्पत्ति के आधार पर समझाने की चेष्टा की है। वे साहित्य शब्द का विग्रह "हितेन सह सहितम् तस्य भाव साहित्यम्" करते हैं। इस विग्रह के अनुसार साहित्य की आधारभूत भावना मंगलभावना ठहरती है।

गुप्त जी—गुप्त जी ने साहित्य शब्द का प्रयोग कुतूहलोद्दीपक सामग्री के अर्थ में किया है—

"नयी नयी नाटक सत्ताएँ सूत्रधार करते हैं नित्य
और ऐन्द्रजालिक भी अपना भरते हैं नूतन साहित्य।"

समस्त मतों का निष्कर्ष और संक्षेप—यदि हम उपर्युक्त समस्त मतों का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि साहित्य शब्द अलग-अलग विद्वानों द्वारा कितने अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। संक्षेप में हम उनको इस प्रकार लिख सकते हैं—

(१) काव्य के अर्थ में (राजशेखर, मुकुल भट्ट तथा प्रतिहारेन्दुराज आदि)।

(२) भाषा विशेष के समस्त विषयों के ग्रंथ समूह के लिए ([illegible])।

(३) संचित ज्ञान-राशि के अर्थ में (महावीर प्रसाद द्विवेदी)।

(४) कल्याण विधायिनी ज्ञान-राशि के अर्थ में (गुलाबराय)।

(५) सर्वोत्तम विचार की सर्वोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के अर्थ में (इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका)।

(६) युग विशेष की आकृति और स्वरूप प्रकट करने वाले साधन के अर्थ में (हेनरी हडसन)।

(७) कल्पनात्मकता के अर्थ में ([illegible])।

(८) लिखित पुस्तक के अर्थ में ([illegible])।

(९) रसात्मक पुस्तक के अर्थ में (श्यामसुन्दर दास)।

(१०) द्वन्दो के बीच सामञ्जस्य विधान करने वाली शक्ति के अर्थ में (रवीन्द्रनाथ)।

(११) कुतूहलोत्पादक सामग्री के अर्थ में।

उपर्युक्त समस्त मतो की समीक्षा और साहित्य का रूप-विधान—साहित्य सम्बन्धी उपर्युक्त मतो के उद्धरण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट है कि साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। उसे सम्पूर्णता में ग्रहण कर अभिव्यक्त करना थोडा कठिन है। इसलिए उसके जिस पक्ष पर दृष्टि पडी उसने उसके उसी स्वरूप की व्याख्या कर दी। यदि हम समस्त मतो को दृष्टिकोण में रखकर साहित्य की रूपरेखा बनाएँ तो हमें कहना पडेगा कि साहित्य जीवन और जगत के गत्यात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी झाँकी है जिसके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है। उपचार के सहारे कभी-कभी उन वस्तुओ को, जिसमें इसकी प्रतिष्ठा की जाती है, साहित्य कहते हैं। वास्तव में साहित्य की ज्ञान के सदृश एक अखण्ड सत्ता है जिसकी अभिव्यक्ति खण्डो में ही हो पाती है। इसीलिए वह पूर्ण नही होती। इन्ही खण्डो को विविध अभिधान दे दिये गए हैं, जो कभी काव्य के नाम से, कभी अलकारशास्त्र के अभिधान से और कभी ग्रन्थो के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। साहित्य का स्वरूप साहित्य की मूल प्रवृत्तियो के विवेचन से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

साहित्य की मूलभूत प्रेरक प्रवृत्तियाँ और प्रयोजन

हडसन ने साहित्य को जन्म देने वाली चार मूलभूत प्रवृत्तियाँ मानी हैं। वे क्रमश इस प्रकार हैं—

१. Our desire for self-expression अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की कामना।

२. Our interest in people and their doings अर्थात् मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव।

३ Our interest in the world of reality in which we live and in the world of imagination which we conjure into existance अर्थात् यथार्थ जगत् के प्रति हमारा आकर्षण और कल्पना जगत् के निर्माण की प्रवृत्ति।

४. Our love of form as form अर्थात् रूप-विधान की कामना।

उपर्युक्त चार मूल प्रेरणाओ के अतिरिक्त साहित्य को जन्म देने वाली कुछ और बातें भी हो सकती हैं। (हमारी समझ में साहित्य की मूलभूत प्रवृत्ति अनेकता में एकता स्थापित करने की और एकता में अनेकता देखने की कामना है)। सस्कृत में साहित्य शब्द का जो व्युत्पत्तिमूलक विग्रह किया जाता है उससे भी इस बात की व्यञ्जना होती है। साहित्य को जन्म देने वाली एक प्रवृत्ति और है। मानव ज्यो-ज्यो सभ्य होता जाता है त्यों-त्यो उसकी अभिरुचि भी परिष्कृत होती जाती है। उसकी रुचि जितनी परिष्कृत होती जाती है उसका साहित्य भी उतना ही उदात्त होता जाता है। रुचि-परिष्करण की यह भावना भी सत्साहित्य के निर्माण में वर्तमान रहती है। साहित्य-सर्जना बहुत कुछ मानव की सत्य-निष्ठा से भी प्रणोदित होती है। जीवन सत्यो को सुन्दर से

सुन्दर ढंग, सुन्दर से सुन्दर रूप में साहित्य ही प्रस्तुत करता है। इससे यह भी प्रकट है कि मानव की सत्य-निष्ठा ने भी साहित्य-सर्जना में योग दिया है।

साहित्योत्पत्ति का एक कारण तन्मयता भी होती है। जिस प्रकार विज्ञान के मूल में जिज्ञासा की भावना रहती है उसी प्रकार साहित्य के मूल में तन्मयता की भावना काम करती है। आदि मानव ने जब सृष्टि के अभिनव पदार्थ पहले-पहल देखे होंगे तो वह उन्हें देखकर विस्मयाभिभूत हुआ ही होगा। इस विस्मयाभिभूति के पश्चात् रमणीय पदार्थों ने उसकी बुद्धि और चेतना को तन्मय कर लिया होगा। तन्मयता की इसी स्थिति से जगकर वह अपनी अनुभूतियों को काव्य, नाटक, कहानी आदि-आदि विविध साहित्य-विधानों में व्यक्त करने के लिए आकुल हो उठा होगा। आज का साहित्य उसकी आकुलता का लिपिबद्ध इतिहास कहा जा सकता है। इसे चाहे हम ज्ञान-राशि का संचित कोष कहें चाहे शास्त्र कहें चाहे और कोई अभिधान दें किन्तु तन्मयता की स्थिति में उत्पन्न भावनाओं की साकार अभिव्यक्ति साहित्य ही कहलाएगी।

में भी यह बात लागू हो सकती है। वे एक नयन होने के कारण ही शायद इतने गुणी थे, उन्होने तो एडलर के उपर्युक्त मत को दूसरे ढग से स्वीकार भी कर लिया है। वे लिखते हैं—

"चांद जैस जग विधि अवतारा। दीन्ह कलक कीन्ह उजियारा।"

एडलर के इस सिद्धान्त के मूल में हमें प्रभुत्व-कामना की प्रवृत्ति जागरूक दिखाई पडती है। जिन लोगो में यह प्रवृत्ति जितनी तीव्र होती है सम्भवत उनकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रबल होती है। वे ही साहित्य-क्षेत्र में भी महान् कार्य कर पाते हैं। सम्भवत यही कारण है कि विश्व के महान् प्रतिभाशाली कवियों और विद्वानो ने अपनी प्रशसा स्वय की है। कालिदास का 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' वाला श्लोक अपनी रचना की महानता के प्रति उनका जो अखड विश्वास था उसी की ओर सकेत करता है। शेक्सपियर ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि राजाओ के राजमहल ढह जाएँगे किन्तु उसकी वाणी फिर भी अमर रहेगी। संस्कृत के महाकवि भवभूति की 'इयदेवी वाग्वश्येवानुवर्तते' वाली बात प्रसिद्ध ही है। 'कवित विवेक एक नहीं मोरे'; 'कवि न होऊ नहिं चतुर कहाउ' जैसा विनय-भाव प्रगट करने वाले बाबाजी में भी अपने काव्य के प्रति कम अहम्मन्यता नही थी। अपने मानस में उन्होने स्पष्ट घोषित किया है कि वह उन लोगो के लिए, जो कि न तो काव्य-मर्मज्ञ हैं और न भक्त ही, कोरी हास्यास्पद रचना होगी।

"कवित विवेक न रामपद नेहु। तिन कँह सुखद हासरस एहु।"

इस प्रकार स्पष्ट है किसी हीनता भाव से उत्पन्न होने वाली किसी भी प्रकार के प्रभुत्व की भावना भी साहित्य की एक प्रधान प्रेरिका हो सकती है।

एक दूसरे अगरेज विद्वान् युग ने इन दोनो मतो में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। उनका मत है कि साहित्य का जन्म काम-वासना और प्रभुत्व-कामना इन दोनो प्रवृत्तियो की प्रेरणा से ही होता है।

बाबू गुलाबराय ने उपर्युक्त मत को ही भारतीय दृष्टिकोण से समझाने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार त्रिविध एषणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरिका होती हैं। अपने इस कथन की पुष्टि उन्होने वृहदारण्यकोपनिषद् के एक उद्धरण से की है। जो भी हो इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि यदि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है तो यह त्रिविध एषणाएँ भी उसे किसी न किसी रूप में बल अवश्य प्रदान करेंगी।

साहित्य के निर्माण में एक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति कार्य करती हुई दिखाई पडती है। सभ्य मानव प्राय अपने स्वार्थों को परार्थ के आवरण में छिपाकर व्यक्त करना चाहता है। साहित्य की उद्भावना में मानव की यह प्रवृत्ति भी प्रच्छन्न रूप से क्रियाशील रहती है। इसीलिए इसने स्वार्थ और परार्थ दोनो की सिद्धि होती है।

साहित्य-सृजन की प्रेरणाओ के अन्तर्गत हम साहित्य-प्रयोजनो पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य पर विवेचन करते हुए इन प्रयोजनो पर विस्तार से विचार किया है। इस दिशा में सबसे प्रथम नाट्यशास्त्र विचारणीय है। नाटक साहित्य का प्रधान स्तम्भ है। उसको जन्म देने वाली प्रवृत्तियां साहित्य

के मूल में भी पाई जाती है। उनमें इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया॥
क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
वेद विद्येति हासानामाख्यानपरि कल्पनम्॥"

की स्थिति से जगकर वह अपनी सौन्दर्यानुभूतियो को सजीव से सजीव रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस प्रयास का इतिहास ही कला के विकास का इतिहास है। जब तन्मयता की स्थिति का चित्रण 'अह' की सीमा में सीमित कर दिया जाता है तभी साहित्य का उदय होता है। अह का अर्थ है अ से लेकर ह तक वर्ण-परिवार। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि साहित्य एक सुन्दर कला है जिसकी अभिव्यक्ति वर्णों के माध्यम से की जाती है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्य मूर्त्त कला है या अमूर्त्त। प्लेटो ने इसे सगीत से सम्यन्वित बतलाया है। सगीत अमूर्त्त कला है। अतएव साहित्य भी अमूर्त्त कला ही समझा जाने लगा। हमारी समझ में साहित्य कला मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो के बीच की वस्तु है। उसकी अभिव्यक्ति वर्णों के सहारे होती है इस दृष्टि से तो वह मूर्त्त कही जा सकती है। उसकी चेतना अनुभूतिमात्र की वस्तु है। इस दृष्टि से उसे हम अमूर्त्त कह सकते हैं। इस प्रकार हमारी दृष्टि में साहित्य मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो के मध्य की कला है।

शिवसूत्र विमर्जिनी में कला के स्वरूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है, 'कलयति स्वरूपावेशयति तदतद् वस्तु परिच्छिमत्ति इति कला व्यापार'। इसकी टीका करते हुए टीकाकार ने लिखा है, अर्थात् 'नव नव स्वरूप प्रयोल्लेखशालिनी-सम्विति' अर्थात् कला वह है जो वस्तुओ में या प्रमाता में स्व की आत्मा को परिमित रूप में प्रगट करती है। भवभूति ने कला के सदृश ही साहित्य या वाणी को भी आत्मा की कला कहा है, 'विन्देम देवताम् वाचममृताम् आत्मन कलाम्'। कला और साहित्य के स्वरूप-विवेचन से पूर्णतया स्पष्ट है कि दोनो में कोई मौलिक भेद नही है, अतएव हम साहित्य को कला ही मानेंगे।

कुछ लोगो ने अभिव्यञ्जना को ही कला कहा है। उसे वे रूप की अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं। मानव बाह्य जगत के सम्पर्क से बहुत सी वस्तुओ के चित्र सचित करता रहता है। कला उन्ही की फिर से अभिव्यक्ति किया करती है। साहित्य की प्रक्रिया भी बिल्कुल ऐसी ही है। साहित्यकार जीवन की विविध अनुभूतियो से प्रभावित होता है। उसके विविध चित्रो की अनुभूति करता है। वे सब उसके अन्तर्जगत में प्रसुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। साहित्यकार अपनी कल्पना के सहारे समय-समय पर इन्ही चित्रो का उद्घाटन करता है। इस दृष्टि से भी साहित्य को कला ही कहा जा सकता है।

पाश्चात्य विद्वानो ने मन की तीन प्रधान क्रियाएँ कल्पित की हैं—ज्ञान, भावना और इच्छा। इन तीनो को हम क्रमश बुद्धि, मन और चित्त की क्रियाएँ मानते हैं। कला और साहित्य का सम्बन्ध भावना नामक क्रिया से माना जाता है। इतना साम्य होने पर भी मानना होगा कि प्रत्येक कला साहित्य नही होती। हाँ, प्रत्येक साहित्य-कृति कला अवश्य होगी। महादेवी[1] जी के शब्दों में "कला जीवन की विविधता समेटती हुई

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० २२।

रागात्मक सम्बन्ध का अनुभव करता है। उसे अनेकता में भी एकता दृष्टिगोचर होती है। विश्व के सम्पूर्ण सत् साहित्य में लोक-धर्म की यही भावना दिखलाई पड़ती है। इसके विपरीत विज्ञान की मूल भावना जिगीषा है। जिगीषा का अर्थ है किसी वाह्य वस्तु या पदार्थ को देखकर उसकी प्राकृतिक शक्ति को पराभूत करके उन्हे स्वायत्त कर लेने की कामना। इसी कामना के कारण साहित्य में प्रतिष्ठित दिव्य सौन्दर्य का विज्ञान में पूर्ण अभाव दिखलाई पडता है।

विज्ञान का युग उपादेयता और उपादेय (Survival of the fittest) का युग है किन्तु साहित्य का विषय कोई भी वस्तु हो सकती है। वैज्ञानिक नित्य नवीन अनुसन्धान करते जा रहे हैं जो प्राचीन अनुसन्धानो से अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अतः उसका नित्य नवीन प्रयोग उसके प्राचीन रूपो को नष्टप्राय-सा करता जाता है। साहित्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रान्त धारणा कदापि उत्पन्न नही हो सकती। उसकी प्राचीनता और नवीनता में भी एक तारतम्य, एक सौन्दर्यात्मक और भावात्मक सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि साहित्य का सम्बन्ध मानव के मनोभावो से है। यही मनोभाव उनमें पारस्परिक एकता, सहानुभूति और आकर्षण उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। प्राचीन काल के असभ्य समाज में भी वे किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। साहित्य इन्ही मनोभावो की अभिव्यक्ति होने के कारण चिर नवीन और अजस्र और अखण्ड है। आज के वैज्ञानिक युग के समकक्ष यदि प्राचीन साहित्य न भी रक्खा जा सके किंतु तुलसीदास द्वारा कथित उसका 'स्वान्त सुखाय' वाला गुण उसे सर्वदेशीय और सर्वकालीन बनाने मे समर्थ है। किसी भी देश में नित्य नवीन साहित्य की सृष्टि उसके साहित्य भण्डार की वृद्धि ही करेगी, विज्ञान के नवीन प्रयोगो के समान उसका क्षय नही कर सकती।

साहित्य और विज्ञान में एक और अन्तर है। विज्ञान पर वाह्य जगत का प्रभाव अधिक है किन्तु साहित्य पर अन्तर्जगत का। पार्थिव समृद्धि की उत्पत्ति से विज्ञान की गति तीव्र होती है किन्तु साहित्य की धारा अभाव और करुणा के प्रबल उद्रेक से फूटती है और आन्तरिक भावनाओं के साथ प्रवाहित होती है।

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और विज्ञान जीवन का विश्लेषण। J. S. Mill ने भी इसी बात को इस प्रकार लिखा है—

"The study of science teaches young men to think while study of the classics teaches them to express thought." वैज्ञानिक पदार्थों का विश्लेषण यथातथ्य रूप में करता है किन्तु साहित्यिक निर्जीव पदार्थों में भी चेतनता स्थापित कर अपनी भावनाओ के अनुरूप उनकी अभिव्यक्ति कर देता है। इस प्रकार साहित्य में कवि, पाठक यहां तक कि समस्त जगत में तादात्म्य स्थापित करने की भावना निहित दिखलाई पड़ती है।

साहित्य में लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है किन्तु विज्ञान का वैज्ञानिक के व्यक्तित्व से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। इस दृष्टि से साहित्य आत्मा-

है। वास्तव में साहित्य और विज्ञान ज्ञान की दो भिन्न-भिन्न विधाएँ हैं।

साहित्य के मूल तत्त्व

हडसन ने साहित्य के मूल तत्त्व चार माने हैं।

(१) बुद्धि तत्त्व;
(२) कल्पना तत्त्व,
(३) भाव तत्त्व, और
(४) शैली या रूप तत्त्व।

सत्साहित्य में यह सभी तत्त्व किसी न किसी मात्रा में वर्तमान रहते हैं। इन तत्त्वो का विस्तृत विवेचन तो काव्य पर विचार करते हुए किया जाएगा। यहाँ पर इतना ही कहना अपेक्षित है कि साहित्य का कोई भी तत्त्व एक से विरहित होकर साहित्य के अभिधान को प्राप्त नहीं हो सकता। यद्यपि साहित्य मानव की मधुमयी भावनाओ की अभिव्यक्ति करने में ही प्रयत्नवान दिखाई देता है किन्तु उस अभिव्यक्ति को क्रमिक सयत और गम्भीर रूप प्रदान करने का श्रेय बुद्धि तत्त्व को ही है। कल्पना उसमें सौन्दर्य का सचय करती है। यदि हम कहना चाहे तो बुद्धि तत्त्व, हृदय तत्त्व और कल्पना तत्त्व को क्रमश: सत्य शिव और सुन्दर का प्रतीक कह सकते हैं। सत्साहित्य में इन तीनो का होना परमावश्यक समझा जाता है। हमारी समझ में बुद्धि तत्त्व से साहित्य में शिवत्व की प्रतिष्ठा होती है, भाव तत्त्व उसे लोक-हित की वस्तु बना देता है, कल्पना उसके स्वरूप को सँवारकर उसे सौन्दर्य प्रदान करती है। जिस साहित्य में इनमें से किसी एक तत्त्व का भी अभाव पाया जाता है वह साहित्य ही हेय होता है। श्रेष्ठ साहित्य में सत्य शिव सुन्दर के समान ही बुद्धि तत्त्व, हृदय तत्त्व और कल्पना तत्त्व तीनो का सुन्दर सामञ्जस्य पाया जाता है। शैली तत्त्व इन तीनो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्य का बाह्य-रूप शैली है। अतएव हम उसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार नही कर सकते। वास्तव में बुद्धि तत्त्व, भाव तत्त्व और कल्पना तत्त्व के सघात को साहित्य के रूप में ढालने का श्रेय शैली को ही होता है। इन तत्त्वो का विवेचन काव्य के प्रसंग में किया जावेगा। यहाँ पर इनका सकेत मात्र करना ही हमारा अभीष्ट है।

साहित्यकार और उसका व्यक्तित्व

बुद्धि तत्त्व, कल्पना तत्त्व और भाव तत्त्व के अतिरिक्त साहित्य में एक तत्त्व और पाया जाता है। वह है शैली तत्त्व। साहित्य अपने वास्तविक रूप को इसी तत्त्व के सहारे प्राप्त होता है। शैली ही साहित्य का सम्बन्ध साहित्यकार से बनाए रखती है। हडसन ने शैली के अन्तर्गत ही साहित्य के अन्य तीन तत्त्वो को समेटने की चेष्टा की है। किन्तु अन्तर केवल इतना है कि कल्पना तत्त्व के स्थान पर उसने सौन्दर्यात्मक तत्त्व लिया है। उसके मतानुसार शैली के अन्तर्गत Intellectual Element या बुद्धि तत्त्व, Emotional Element या भावात्मक तत्त्व, Esthetic Element या सौन्दर्यात्मक तत्त्व आते हैं। हम क्रमश अलग-अलग तीनो तत्त्वो पर विचार करते

हुए साहित्यकार का साहित्य से जो सम्बन्ध होता है उसे स्पष्ट करेंगे।

बुद्धि तत्त्व—साहित्य बुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व की समन्वयात्मक सृष्टि कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य में भावो के साथ-साथ विचार भी पाए जाते हैं। इन विचारो का सम्बन्ध साहित्यकार के मस्तिष्क और व्यक्तित्व से अधिक होता है। साहित्यकार के जिस प्रकार के विचार होते हैं उसका साहित्य भी उसी कोटि का होता है। यदि हम किसी साधु की रचना का किसी लम्पट की रचना से तुलना करें या किसी बहुत बडे विद्वान की रचना से किसी साधारण व्यक्ति की रचना की तुलना करें तो हमें दोनो का अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। यह अन्तर भाव, कल्पना और शैली के अतिरिक्त विचारो का भी होगा। जिसके जैसे विचार होते हैं, उसकी विचारधारा भी वैसी ही होती है। यह विचारधारा ही साहित्य में प्राणरूप से प्रतिष्ठित रहती है। यही कारण है कि यदि साहित्यकार आदर्शवादी और सात्विक है तो साहित्य में भी आदर्श और सात्विक विचारो की अभिव्यक्ति पाई जाएगी। उदाहरण के लिए हम रामचन्द्र शुक्ल को ले सकते हैं। उनकी रचनाओ में उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप दिखाई पडती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक की बुद्धिवादिता उसकी रचना में विषय प्रतिपादन की तार्किकता और वैज्ञानिकता के रूप में भी व्यक्त हुआ करती है। यही कारण है कि आज की रचनाओ में हमें जितना अधिक वैज्ञानिक विवेचन मिलता है उतना पहले की रचनाओ में नहीं। आज का युग बुद्धिवादी है। युग के साथ व्यक्ति भी बुद्धिवादी है। साहित्यकार भी एक व्यक्ति होता है। उसकी रचना में उसके व्यक्तित्व की प्रधान विशेपता बुद्धिवादिता का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि साहित्यकार इस युग का नही है अथवा किसी अन्य कारण से उसमें बुद्धिवादिता का अभाव है तो उसकी रचना में वह वैज्ञानिकता और तार्किकता नही मिलेगी जो आज के युग की विशेपता बन गई है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का साहित्यकार की बुद्धि, मस्तिष्क और चिन्तना-शक्ति से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है।

भाव तत्त्व—शैली में बुद्धि तत्त्व के अतिरिक्त भाव तत्त्व भी वर्तमान रहता है। प्रत्येक मनुष्य के भावो, उनकी प्रक्रिया और स्वरूप में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर उसकी रचना तथा रचनागत शैली में स्पष्ट दिखाई पडता है। शैली का विवेचन करते समय इस विपय पर विस्तार से विचार करेंगे। यहां पर हम इतना ही सकेत करना चाहते हैं कि साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व बुद्धि के माध्यम से ही नहीं हृदय के माध्यम से भी अवतरित होता है।

सौन्दर्य तत्त्व—जिस प्रकार प्रत्येक मानव के मस्तिष्क और हृदय में विभेद पाया जाता है उसी प्रकार उसकी सौन्दर्यप्रियता की वृत्ति भी एक दूसरे से भिन्न होती है। कोई मानव अधिक सौन्दर्य-प्रिय होता है कोई कम। सौन्दर्य का मापदण्ड भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। उनकी अनुभूति की प्रक्रिया भी अलग-अलग हो सकती है। साहित्यकार की रचना में इन सब बातो की छाया पडती है।

इस प्रकार सक्षेप में स्पष्ट है कि साहित्यकार की बुद्धि, उसका हृदय, उसकी अनुभूतियाँ उसकी रचनाओं को पूर्णतया प्रभावित करती हैं। तुलसीदास जी ने जहाँ

पर काव्य-सृष्टि का रूपक बाँधा है वहाँ पर उन्होने हृदय और बुद्धि दोनो को ही समेटने की चेष्टा की है। हृदय को वे सिन्धु के समान और बुद्धि को वे सीप के समान मानते थे। हृदयरूपी समुद्र में उत्पन्न होनेवाली बुद्धिरूपी सीप में भावरूपी मोती उत्पन्न होते हैं। इन भावरूपी मोतियो की माला ही साहित्य है। इससे प्रकट है कि तुलसीदास जी भी अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य और साहित्यकार में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे।

अंगरेज विद्वानो ने तो इस सत्य का सतर्क मडन किया है। हडसन नामक अगरेज विद्वान ने साहित्य और साहित्यकार के सम्बन्ध तथा उसकी मूल भित्ति का इस प्रकार वर्णन किया है—"For the intellectual emotional, and esthetic qualities of any man's writing will rade themselves at bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical quality of his style become an aid of the undividuality embodied in his work" अर्थात् शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा सम्बन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओ से प्रच्छन्न रूप से सम्बन्धित रहती हैं। इस प्रकार शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के शैलीगत व्यक्तित्व के अध्ययन में सहायक होता है। इससे यह स्पष्ट है कि शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसी बात को मरे नामक विद्वान ने दूसरे ढग से कहा है—"We must look for the origin of the true style in a mode of emotional and intellectual experience which is peculiar to each individual writer" अर्थात् हमें शैली के विकास के हेतु लेखक की भावात्मक और बौद्धिक अनुभूतियो के प्रकार की ओर ध्यान देना होगा क्योंकि यह प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य से साहित्यकार के व्यक्तित्व का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। आस्कर वाइल्ड[1] ने तो यहाँ तक लिखा है कि कला का लक्ष्य कलाकार को अन्तर्निहित करना और कला का प्रकाशन करना है। इसका अर्थ यही है कि कला में कलाकार अन्तर्हित रहता है। कुछ विद्वान यह प्रयत्न करते हैं कि उनकी रचनाओ पर व्यक्तित्व की छाप न पडे। प्रथम तो वे इस प्रयत्न में सफल ही नही होते और यदि किसी प्रकार सफल भी हो जाते हैं तो जिस मात्रा में वे इस प्रयत्न में सफल होते हैं उसी मात्रा में उनकी साहित्य-कृति असफल हो जाती है। अतएव हमें यह स्वीकार ही करना पडता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व से साहित्य अवश्य प्रभावित रहता है।

भाषा और साहित्य

साहित्य भावना और विचारो की मधुर अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का उदय मानव की आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण होता है। आदिम मनुष्य की अस्फुट वाणी इसी आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर समय के

१ Oscar Wilde in the Preface,—'The picture of Dorian Gray.'

हुए साहित्यकार का साहित्य से जो सम्बन्ध होता है उसे स्पष्ट करे

बुद्धि तत्त्व—साहित्य बुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व की सम
जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य में भावो के
पाए जाते हैं। इन विचारो का सम्बन्ध साहित्यकार के मस्तिष्क से
होता है। साहित्यकार के जिस प्रकार के विचार होते हैं उसका स
का होता है। यदि हम किसी साधु की रचना का किसी लम्पट की
या किसी बहुत बड़े विद्वान की रचना से किसी साधारण व्यक्ति
करें तो हमें दोनों का अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। यह अन्तर भाव
के अतिरिक्त विचारो का भी होगा। जिसके जैसे विचार होते हैं
भी वैसी ही होती है। यह विचारधारा ही साहित्य में प्राणरूप से
यही कारण है कि यदि साहित्यकार आदर्शवादी और सात्विक है तो
और सात्विक विचारों की अभिव्यक्ति पाई जाएगी। उदाहरण के लि
को ले सकते हैं। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की गहरी छ
कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक की बुद्धिवादिता उसकी र
की तार्किकता और वैज्ञानिकता के रूप में भी व्यक्त हुआ करती
आज की रचनाओं में हमें जितना अधिक वैज्ञानिक विवेचन मि
रचनाओ में नहीं। आज का युग बुद्धिवादी है। युग के साथ च
साहित्यकार भी एक व्यक्ति होता है। उसकी रचना में उसके व्य
षता बुद्धिवादिता का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि साहित्य
अथवा किसी अन्य कारण से उसमें बुद्धिवादिता का अभाव है
वैज्ञानिकता और तार्किकता नही मिलेगी जो आज के युग क
इससे स्पष्ट है कि साहित्य का साहित्यकार की बुद्धि, मस्तिष्क
घनिष्ट सम्बन्ध रहता है।

भाव तत्त्व—शैली में बुद्धि तत्त्व के अतिरिक्त भाव
है। प्रत्येक मनुष्य के भावो, उनकी प्रक्रिया और स्वरूप में इ
अन्तर उसकी रचना तथा रचनागत शैली में स्पष्ट दिखाई प
करते समय इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे। य
करना चाहते हैं कि साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व
हृदय के माध्यम से भी अवतरित होता है।

सौन्दर्य तत्त्व—जिस प्रकार प्रत्येक मानव के म
पाया जाता है उसी प्रकार उसकी सौन्दर्यप्रियता की वृत्ति भी
है। कोई मानव अधिक सौन्दर्य-प्रिय होता है कोई कम। सौन
भिन्न हो सकता है। उनकी अनुभूति की प्रक्रिया भी अलग-अल
कार की रचना में इन सब बातो की छाया पड़ती है।

इस प्रकार सक्षेप में स्पष्ट है कि साहित्यकार की बु
अनुभूतियां उसकी रचनाओ को पूर्णतया प्रभावित करती हैं

पर काव्य-सृष्टि का रूपक वांधा है वहां पर उन्होने हृदय और वुद्धि दोनो को ही समेटने की चेष्टा की है। हृदय को वे सिन्धु के समान और वुद्धि को वे सीप के समान मानते थे। हृदयरूपी समुद्र में उत्पन्न होनेवाली वुद्धिरूपी सीप में भावरूपी मोती उत्पन्न होते हैं। इन भावरूपी मोतियो की माला ही साहित्य है। इससे प्रकट है कि तुलसीदास जी भी अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य और साहित्यकार में घनिष्ट सम्बन्ध मानते थे।

अगरेज विद्वानों ने तो इस सत्य का सतर्क मडन किया है। हडसन नामक अगरेज विद्वान ने साहित्य और साहित्यकार के सम्बन्ध तथा उसकी मूल भित्ति का इस प्रकार वर्णन किया है—"For the intellectual emotional, and esthetic qualities of any man's writing will rade themselves at bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical quality of his style become an aid of the undividuality embodied in his work" अर्थात् शैलीगत वौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेपताएँ लेखक की प्रतिभा सम्बन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेपताओ से प्रच्छन्न रूप से सम्वन्वित रहती हैं। इस प्रकार शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के शैलीगत व्यक्तित्व के अध्ययन में सहायक होता है। इससे यह स्पष्ट है कि शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसी वात को मरे नामक विद्वान ने दूसरे ढग से कहा है—"We must look for the origin of the true style in a mode of emotional and intellectual experience which is peculiar to each individual writer" अर्थात् हमें शैली के विकास के हेतु लेखक की भावात्मक और वौद्धिक अनुभूतियों के प्रकार की ओर ध्यान देना होगा क्योंकि यह प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य से साहित्यकार के व्यक्तित्व का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। आस्कर वाइल्ड[१] ने तो यहां तक लिखा है कि कला का लक्ष्य कलाकार को अन्तर्निहित करना और कला का प्रकाशन करना है। इसका अर्थ यही है कि कला में कलाकार अन्तर्हित रहता है। कुछ विद्वान यह प्रयत्न करते हैं कि उनकी रचनाओ पर व्यक्तित्व की छाप न पडे। प्रथम तो वे इस प्रयत्न में सफल ही नही होते और यदि किसी प्रकार सफल भी हो जाते हैं तो जिस मात्रा में वे इस प्रयत्न में सफल होते हैं उसी मात्रा में उनकी साहित्य-कृति असफल हो जाती है। अतएव हमें यह स्वीकार ही करना पडता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व से साहित्य अवश्य प्रभावित रहता है।

भाषा और साहित्य

साहित्य भावना और विचारो की मधुर अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का उदय मानव की आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण होता है। आदिम मनुष्य की अस्फुट वाणी इसी आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर समय के

---

१ Oscar Wilde in the Preface,—'The picture of Dorian Gray.'

हुए साहित्यकार का साहित्य से जो सम्बन्ध होता है उसे स्पष्ट करेगे ।

बुद्धि तत्त्व---साहित्य बुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व की समन्वयात्मक सृष्टि कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य में भावो के साथ-साथ विचार भी पाए जाते हैं। इन विचारो का सम्बन्ध साहित्यकार के मस्तिष्क और व्यक्तित्व से अधिक होता है। साहित्यकार के जिस प्रकार के विचार होते हैं उसका साहित्य भी उसी कोटि का होता है। यदि हम किसी साधु की रचना का किसी लम्पट की रचना से तुलना करें या किसी वहुत बडे विद्वान की रचना से किसी साधारण व्यक्ति की रचना की तुलना करें तो हमें दोनो का अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। यह अन्तर भाव, कल्पना और शैली के अतिरिक्त विचारों का भी होगा। जिसके जैसे विचार होते हैं, उसकी विचारधारा भी वैसी ही होती है। यह विचारधारा ही साहित्य में प्राणरूप से प्रतिष्ठित रहती है। यही कारण है कि यदि साहित्यकार आदर्शवादी और सात्विक है तो साहित्य में भी आदर्श और सात्विक विचारो की अभिव्यक्ति पाई जाएगी। उदाहरण के लिए हम रामचन्द्र शुक्ल को ले सकते हैं। उनकी रचनाओ में उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप दिखाई पडती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक की बुद्धिवादिता उसकी रचना में विषय प्रतिपादन की तार्किकता और वैज्ञानिकता के रूप में भी व्यक्त हुआ करती है। यही कारण है कि आज की रचनाओ में हमें जितना अधिक वैज्ञानिक विवेचन मिलता है उतना पहले की रचनाओ में नही। आज का युग बुद्धिवादी है। युग के साथ व्यक्ति भी बुद्धिवादी है। साहित्यकार भी एक व्यक्ति होता है। उसकी रचना में उसके व्यक्तित्व की प्रधान विशेषता बुद्धिवादिता का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि साहित्यकार इस युग का नही है अथवा किसी अन्य कारण से उसमें बुद्धिवादिता का अभाव है तो उसकी रचना में वह वैज्ञानिकता और तार्किकता नही मिलेगी जो आज के युग की विशेषता बन गई है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का साहित्यकार की बुद्धि, मस्तिष्क और चिन्तना-शक्ति से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है।

भाव तत्त्व---शैली में बुद्धि तत्त्व के अतिरिक्त भाव तत्त्व भी वर्तमान रहता है। प्रत्येक मनुष्य के भावो, उनकी प्रक्रिया और स्वरूप में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर उसकी रचना तथा तन्नागत शैला में स्पष्ट दिखाई पडता है। शैली का विवेचन करते समय इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ पर हम इतना ही सकेत करना चाहते हैं कि साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व बुद्धि के माध्यम से ही नही हृदय के माध्यम से भी अवतरित होता है।

सौन्दर्य तत्त्व---जिस प्रकार प्रत्येक मानव के मस्तिष्क और हृदय में विभेद पाया जाता है उसी प्रकार उसकी सौन्दर्यप्रियता की वृत्ति भी एक दूसरे से भिन्न होती है। कोई मानव अधिक सौन्दर्य-प्रिय होता है कोई कम। सौन्दर्य का मापदण्ड भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। उनकी अनुभूति की प्रक्रिया भी अलग-अलग हो सकती है। साहित्यकार की रचना में इन सब बातो की छाया पडती है।

इस प्रकार सक्षेप में स्पष्ट है कि साहित्यकार की बुद्धि, उसका हृदय, उसकी अनुभूतियां उसकी रचनाओ को पूर्णतया प्रभावित करती हैं। तुलसीदास जी ने जहाँ

पर काव्य-सृष्टि का रूपक बांधा है वहां पर उन्होने हृदय और बुद्धि दोनो को ही समेटने की चेष्टा की है। हृदय को वे सिन्धु के समान और बुद्धि को वे सीप के समान मानते थे। हृदयरूपी समुद्र में उत्पन्न होनेवाली बुद्धिरूपी सीप में भावरूपी मोती उत्पन्न होते हैं। इन भावरूपी मोतियो की माला ही साहित्य है। इसमे प्रकट है कि तुलसीदास जी भी अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य और साहित्यकार में घनिष्ट सम्बन्ध मानते थे।

अगरेज विद्वानो ने तो इस सत्य का सतर्क मडन किया है। हडसन नामक अगरेज विद्वान ने साहित्य और साहित्यकार के सम्बन्ध तथा उसकी मूल भित्ति का इस प्रकार वर्णन किया है—"For the intellectual emotional, and esthetic qualities of any man's writing will rade themselves at bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical quality of his style become an aid of the undividuality embodied in his work" अर्थात् शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा सम्बन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओ से प्रच्छन्न रूप से सम्बन्धित रहती हैं। इस प्रकार शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के शैलीगत व्यक्तित्व के अध्ययन में सहायक होता है। इससे यह स्पष्ट है कि शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसी बात को मरे नामक विद्वान ने दूसरे ढग से कहा है—"We must look for the origin of the true style in a mode of emotional and intellectual experience which is peculiar to each individual writer" अर्थात् हमें शैली के विकास के हेतु लेखक की भावात्मक और बौद्धिक अनुभूतियो के प्रकार की ओर ध्यान देना होगा क्योकि यह प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य से साहित्यकार के व्यक्तित्व का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। आस्कर वाइल्ड[१] ने तो यहां तक लिखा है कि कला का लक्ष्य कलाकार को अन्तर्निहित करना और कला का प्रकाशन करना है। इसका अर्थ यही है कि कला में कलाकार अन्तर्हित रहता है। कुछ विद्वान यह प्रयत्न करते हैं कि उनकी रचनाओ पर व्यक्तित्व की छाप न पड़े। प्रथम तो वे इस प्रयत्न में सफल ही नही होते और यदि किसी प्रकार सफल भी हो जाते हैं तो जिस मात्रा में वे इस प्रयत्न में सफल होते हैं उसी मात्रा में उनकी साहित्य-कृति असफल हो जाती है। अतएव हमें यह स्वीकार ही करना पडता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व से साहित्य अवश्य प्रभावित रहता है।

भाषा और साहित्य

साहित्य भावना और विचारो की मधुर अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का उदय मानव की आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण होता है। आदिम मनुष्य की अस्फुट वाणी इसी आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर समय के

---

१ Oscar Wilde in the Preface,—'The picture of Dorian Gray.'

प्रवाह में पड सुव्यवस्थित भाषा के रूप में विकसित होती देखी जाती है, व
साहित्य का बाह्य शरीर है। मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में जिस का
की कल्पना की है भाषा को उसका शरीर ही माना है। इससे साहित्य के , भाष
कितनी आवश्यक है यह बात पूर्णतया स्पष्ट है किन्तु यह भी ध्यान में रखना पडेगा कि
साहित्य के लिए जिस भाषा की अपेक्षा होती है वह साधारण भाषा से भिन्न होगी
साहित्य प्रतिभाविशिष्ट और परिष्कृत आत्मानुभूति का सरस प्रत्यक्षीकरण होता है
भाषा का सुन्दर परिधान ही इस प्रत्यक्षीकरण को रमणीय रूप प्रदान कर सकत
है। भाषा का यह परिधान सुन्दर तभी कहा जाएगा जबकि उसमें भावानुकू
अभिव्यञ्जना, सरसता, प्राञ्जलता, स्पष्टता, धारावाहिकता आदि कुछ साहित्यो
युक्त गुण होंगे। सच तो यह है कि साहित्य की साहित्यिकता बहुत कुछ भाषा क
सशक्तता पर ही अवलम्बित रहती है। लौकिक साहित्य का तो अधिकाश सौन्दर्य उसक
भाषा की सुषमा का ही ऋणी होता है।

साहित्य और भाषा का घनिष्ट सम्बन्ध है। भाषा को यदि हम परिभाषाब
करना चाहें तो कहना पडेगा कि वह मनुष्य और मनुष्य के बीच भावो के आदान-प्रदा
करने वाले सार्थक व्यक्त ध्वनि-सकेतों को ही भाषा का अभिधान दिया जाता है
उनकी सार्थकता भाषा की सार्थकता के लिए परमावश्यक समझी जाती है। संस्कृ
आचार्यों ने साहित्य की परिभाषा देते हुए इस बात पर विशेष बल दिया है कि उस
शब्द और अर्थगत एक विशिष्ट प्रकार के साहचर्य की प्रतिष्ठा रहे जिसमें वक्रता
कारण विचित्र गुणो और अलकारो की शोभा एक दूसरे से स्पर्धा करती हुई भा
बढ़ती है। इस विषय में आचार्य कुन्तक की निम्नलिखित पक्तियाँ दर्शनीय हैं—

"शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमस्यापिते द्वयो काव्य
कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्र शून्यतया सत्या काव्य व्यवहार प्रवर्तत इत्याह सहिताविति
सहभावेन साहित्येन अवस्थितौ। ननु वाच्य वाचक सम्बधस्य विद्यमान त्वादेतयं
कथचिदपि साहित्य विरह। सत्यमेतत्। किन्तु विसिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्।
प्रशम् ? वक्रता विचित्र गुणालकार सम्पदां परस्पर स्पर्धाधिरोह"।

साहित्य-सर्जना के मूल में आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त मानव की सौन्द
पासना की प्रवृत्ति भी वर्तमान रहती है। मनुष्य स्वभाव से ही सौन्दर्योपासक प्रा
है। ज्यो-ज्यो सभ्यता और संस्कृति का विकास होता जाता है उसकी सौन्दर्यप्रिय
परिष्कृत होती जाती है। यह परिष्कार कभी-कभी कृत्रिमता की सीमा तक भी प
जाता है। साहित्यकार की सौन्दर्यात्मिक भावना केवल उसकी प्रेरणा में ही नही
जाती वरन् उसकी अभिव्यक्ति में भी वर्तमान रहती है। वह केवल रमणीय रूप
प्रकृति के मनोरम रूप से मुग्ध होकर काव्य का सृजन नही करता वरन् उसकी काम
अपनी अभिव्यक्ति को भी उस रमणीय रूप या प्रकृति के मनोरम रूप के सदृश
रमणीय बनाने की भी रहती है। इन्हीं दोनो प्रवृत्तियो के आधार पर साहित्य
भाव-पक्ष और कला-पक्ष के दो विभाग कल्पित किए गए हैं। एक की आधारभ
साहित्य की प्रेरणा होती है और दूसरे की उसकी अभिव्यक्ति। भाव-पक्ष में स

रमणीयता होती है। कला-पक्ष में रमणीयता लाने की चेष्टा की जाती है। सौन्दर्य लाने की इस चेष्टा का इतिहास ही कला-पक्ष है। इसके लिए साहित्य को सबसे प्रथम भाषा की ओर ध्यान देना पड़ता है। कला-पक्ष तभी रमणीय और साहित्यिक माना जा सकता है जब कि भाषा रमणीय और साहित्यिक हो। अतएव स्पष्ट है कि साहित्य के सौन्दर्य-विधान में भाषा का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

ध्वन्यालोककार ने महाकवियो की वाणी की विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है—

"प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
एतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"

अर्थात् महाकवियो की वाणी में ललना लावण्य सदृश कोई एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य होता है। ध्वन्यालोककार द्वारा निर्दिष्ट यह अनिर्वचनीय सौन्दर्य ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस ध्वनि की योजना व्यञ्जना पर आश्रित रहती है। व्यञ्जना शब्द की ही एक प्रधान शक्ति है, और शब्द भाषा का प्रधान अवयव है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में अनिर्वचनीय आन्तरिक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में भी भाषा का पूरा-पूरा हाथ रहता है।

सस्कृत साहित्य में काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए विद्वानों ने बहुत से मत प्रगट किए हैं। उन सब मतो को हम स्थूल रूप से दो वर्गों में बाँट सकते हैं— एक वह वर्ग जो काव्य को शब्दनिष्ठ मानता है, दूसरा वह जो उसे शब्दार्थोंमयगत मानता है। इन दोनो में से हम चाहे किसी मत को भी स्वीकार करें काव्य या साहित्य के लिए हमें भाषा की महत्ता हर प्रकार से स्वीकार करनी पड़ेगी। सम्भवत. यही कारण है कि काव्य की अधिकाश परिभाषाओ में उसके भाषागत सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। नाट्यशास्त्र में 'मृदुललितपदाढ्यं गूढ शब्दार्थहीन' लिखकर पहले उसके भाषागत सौन्दर्य का ही संकेत किया गया है। बाद में उसकी अन्य विशेषताएँ बताई गई हैं। अग्निपुराण की परिभाषा में भी काव्य को दोषरहित, अलकार सहित और गुणयुक्त पदावली, ऐसी पदावली जिसमें अभीष्ट अर्थ सक्षेप में भली प्रकार कहा जाय, को काव्य कहा गया है। भामह ने तो 'शब्दार्थौ सहितौ काव्य' कहकर काव्य की भाषागत विशेषता का ही सकेत किया है। वामन ने काव्य को अलकारप्रधान बतलाकर उसके भाषागत सौन्दर्य को ही महत्त्व दिया है। रुद्रट ने भामह की ही बात को दोहराकर 'ननुशब्दार्थौ काव्यौ' कहा है। इस प्रकार सभी आचार्यों ने काव्य के स्वरूप का उल्लेख करते हुए उसमें या तो शब्द को या शब्द-अर्थ दोनों को ही महत्त्व दिया है। शब्द और अर्थ दोनो ही भाषा के अग हैं। अतएव स्पष्ट है कि साहित्य या काव्य के सौष्ठव विधान के लिए भाषा परमावश्यक होती है।

साहित्य की भाषा उसके स्वरूप को समझाने में भी बहुत सहायक होती है। जिस युग में भाषा सुसमृद्ध और कलापूर्ण रहती है उस युग का साहित्य भी अधिक कलामय होगा। इसके विपरीत जब भाषा अविकसित और असमृद्ध होती है तो

साहित्य का रूप भी उतना कलामय नही हो पाता। उदाहरण के लिए हम हिन्दी साहित्य के वीरगाथाकाल और रीतिकाल को ले सकते है। वीरगाथा युग में भाषा पूर्ण अविकसित और अपूर्ण थी इसलिए उस समय का साहित्य भी उतना सुसंस्कृत नही है। इसके विपरीत रीतिकाल में आकर भाषा का पर्याप्त परिमार्जन हुआ। वह कलामय, भी अधिक हो चली। कोमलता, मधुरता, भावानुरूपता उसकी प्रधान विशेषताएँ वन गईं। इस युग के साहित्य पर भाषा सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषताओ का पूरा प्रभाव दिखाई पडता है। उसमें भाषा के अनुरूप ही कलात्मकता, कोमलता और भावप्रवणता पायी जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य का बहुत वडा सौन्दर्य भाषा पर आधारित रहता है। वास्तव में साहित्य का भाषा से घनिष्ट सम्वन्ध है। सच तो यह है कि भाषा के बिना साहित्यि की अभिव्यक्ति हो ही नही सकती।

साहित्य दर्शन

हमारे यहाँ शास्त्रो में प्रत्येक वस्तु को आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का सघात माना गया है। आत्म और अनात्म भाव के इसी द्वन्द से जगत और जीवन का इतिहास वना है। उपनिषदो में इन दोनो की चर्चा किसी न किसी रूप से वारम्वार की गई है। कठोपनिषद् में प्राप्ता और प्राप्तव्य भेद से आत्मा का जो वर्णन किया गया है वह इसी आत्म और अनात्मभाव के द्वन्द का द्योतक है। वेदों में वर्णित और श्वेताश्वतर उपनिषद में पुनरुल्लिखित दो पक्षियो की रूपकात्मक कथा भी इसी द्वन्द की ओर सकेत करती है। साख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के अभिधान से इन्ही दोनो का वर्णन किया गया है। इससे प्रगट है कि पुरुष और प्रकृति के सुहाग से उद्भूत यह सृष्टि भी आत्म और अनात्ममयी है। महात्मा तुलसीदास ने इसी को जड-चेतन की ग्रन्थि कहा है। साहित्य जीवन और जगत की वर्णमय भावात्मक प्रतिलिपि है। जब जीवन और जगत में आत्म और अनात्म भाव का ही सर्वत्र द्वन्द दिखाई पडता है तो फिर साहित्य उससे व्यतिरिक्त कैसे हो सकता है। साहित्य में भी सर्वत्र आत्म और अनात्मभाव पाया जाता है। किसी युग या देश के साहित्य में आत्मभाव की प्रधानता रहती है और किसी में अनात्मभाव की। अव प्रश्न यह है कि साहित्य में कौन से भाव की प्रधानता है इस वात का पता कैसे लगाया जाय। हमारी समझ में साख्यकी प्रकृति की जो विशेपताएं हैं वे ही सव अनात्मभाव की विशेषताएँ भी होंगी। और पुरुप की विशेपताएँ आत्मभाव की प्रतीक मानी जा सकती हैं। साख्य में प्रकृति त्रिगुणात्मिका मानी गई है। उसमें पुरुष को त्रिगुणातीत कहा गया है। हमारी समझ में जिस साहित्य में त्रिगुणात्मक ससार और मानव तथा उससे सम्वन्धित बातें ही वर्णित की जाती हैं वह अनात्मभाव का साहित्य कहलाएगा। इसके विपरीत जिस साहित्य में त्रिगुणातीत भावो की अभिव्यक्ति की जाएगी वह आत्मभाव प्रधान साहित्य कहलाएगा। भवभूति ने 'विन्देम देवताम् वाचम् आत्मन कलाम्' लिखकर आत्मा की कलारूप की जिस वाणी का उल्लेख किया है वह आत्मप्रधान साहित्य ही है और

ुछ नही । हमने अपने 'कबीर की विचारधारा' नामक ग्रन्थ में काव्य का वर्गीकरण ो भागो में किया है—लौकिक एव अलौकिक । अनात्मभावप्रधान साहित्य ही लौकिक ोता है इसके विपरीत आत्मभाव प्रधान साहित्य अलौकिक की सज्ञा से अभिहित कया जा सकता है। अनात्मभावप्रधान साहित्य में जिस रस की प्रतिष्ठा की जाती : वह अधिकतर ऐहिक होता है।

जीवन और साहित्य

साहित्य वास्तव में मानव-जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन भावनाओ और मनो-वकारों का सजीव संघात कहा जा सकता है। जीवन की प्रतिच्छाया होने के कारण ाहित्य भी इन विविध भावनाओ और मनोविकारो से अनुप्राणित रहता है। इससे पष्ट है कि हम साहित्य को जीवन से अलग करके नही रख सकते। हमारी धारणा तो ह है कि साहित्य और जीवन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का सम्बन्ध है। जीवन की रणाएँ ही साहित्य की प्रेरणाएँ होती हैं। जीवन का जटिल इतिहास ही साहित्य का ल विषय होता है। उसी के राग-द्वेषो से उसका कलेवर बनता है। उसकी चेतना ही ाहित्य को सजीव और सरल बनाती है। वास्तव में जीवन ही साहित्य बनाता है। दि वह जीवन से अलग हो जाए तो साहित्य साहित्य न बनकर मनोरञ्जक कलाबाजी ो रह जाएगा।

अगरेजी के प्रसिद्ध विद्वान मैथ्यू आनर्ल्ड ने जीवन और साहित्य के सम्बन्ध पर चार करते हुए साहित्य को जीवन की आलोचना कहा है। उनकी इसी उक्ति को लेकर ागरेजी साहित्य में बडा शास्त्रार्थ होता रहा है। किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ार्नल्ड की बात बहुत सही है। आलोचना से उनका तात्पर्य जीवन के गुण-दोष कथन नहीं है। उन्होने इस शब्द का प्रयोग मानव-व्यापारो की व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति के लए किया है। वास्तव में बात है भी ऐसी ही। साहित्य में जीवन की व्याख्या जिस ुन्दर ढग से हो जाती है वैसी और किसी प्रकार नही हो सकती।

जीवन द्वन्दात्मक है। उसका विकास राग-द्वेष, दुख-सुख, हानि-लाभ जैसे द्वन्दों के कास का इतिहास है। जीवन में इन्ही द्वन्दो के घात-प्रतिघात से उद्भूत भावनाओ की भिव्यक्ति साहित्य में मिलती है। प्राय. यह देखा जाता है कि जीवन में करुणा की ही ाधानता रहती है। साहित्य में जीवन के विपरीत क्षणो का चित्रण उसे अधिक सवेदनशील ौर रागात्मक बना देता है इसीलिए भवभूति ने 'करुणेव एको रस' कहकर साहित्य में रुण रस की महत्ता ध्वनित की है। मनुष्य दूसरे के सुख से अधिकतर स्पर्धा प्रकट करता ुआ देखा गया है, किन्तु दूसरे के दुख में वह आत्मीयता और सहानुभूति प्रकट करता है। ही कारण है कि कुशल कलाकार अपनी रचना में साधारणीकरण की स्थिति को त्पन्न करने के लिए जीवन के मार्मिक स्थलो को ही चुनता है।

साहित्य का विषय ही जीवन है। उसमें वर्णित आश्रय और आलम्बन इस लोक े प्राणियो से ही साम्य रखते हैं। तुलसी के मर्यादावादी पुरुषोत्तम राम भी स्थान-स्थान पर ानवीय दुर्बलताओं से व्यथित होते देखे जाते हैं। जीवन की प्रमुख इच्छाएँ और मनो-

विकार ही साहित्य के स्थायी और संचारी भाव हैं। साहित्यशास्त्र में वर्णित सम्पूर्ण रस आदि मनोविकार मानव-जीवन के ही विकार हैं। साहित्यकार स्वय मानव है अत वह मानव व्यापारो की उपेक्षा अपनी रचना में नही कर सकता। उसकी व्यक्तिगत भावनाओ पर उनका पूरा प्रभाव पडता है। वह नित्य-प्रति अनुभवो से पूर्ण वियुक्त होकर केवल कल्पना-लोक में ही विचरण नही कर सकता। वास्तव में इस जगत और जीवन के दृश्य ही उसमें कल्पना और भावना का उदय करते हैं, और विक्षिप्तावस्था में अलौकिक आनन्द का विधान करते हैं। वड्सवर्थ की निम्नलिखित पक्तियों में इसी भावना को व्यक्त किया गया है। वह इन दृश्यो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है—

" I have owed to them,
In hours of weariness, sensations sweet,
Felt in the blood, and felt along the heart,
And passing even into my purer mind,
With tranquil restorations"

इस प्रकार साहित्य जीवन में विषाद के क्षणो में सन्तोष और सुख के क्षणो में स्फूर्ति प्रदान करता है। जीवन में उसकी उपादेयता वाछनीय है।

किन्तु जगत् के वास्तविक जीवन से काव्य का जीवन कुछ भिन्न होता है। वह कल्पना और सौन्दर्य मिश्रित होता है। समस्त जीवन का चित्रण साहित्य में नही किया जा सकता। कुशल कलाकार बडी सतर्कता से जीवन के प्रभाव पूर्ण अगों में कल्पना का मिश्रण कर सौन्दर्यपूर्ण बना देता है। प्रत्यक्ष जीवन का सौन्दर्य काव्य में अलौकिक हो जाता है।

साहित्य और जीवन में यद्यपि घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु इस सम्बन्ध को व्यापक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा। प्रत्येक मनुष्य जीवन में आनन्द की कामना करता है। आनन्द-प्राप्ति की कामना के कारण ही जीवन में धर्म की महत्ता प्रतिपादित की गई है किन्तु मनुष्य की यह कामना अपूर्ण ही रहती है। साहित्य में आध्यात्मिकता के सहारे आनन्द की प्रतिष्ठा करके जीवन की अपूर्णता को पूर्णता के दर्शन प्राप्त होते हैं। उसके आस्वादन से वह अपने विषाद को भूलकर किसी दिव्य लोक की कल्पना करने लगता है। हमारी लौकिक इच्छाएँ साहित्य में भावना का रूप धारण कर परिष्कृत हो जाती हैं। अपरिष्कृत भावनाओ का परिष्करण ही साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की व्यापकता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आदर्श और यथार्थ के सामञ्जस्य विधान के स्थान पर यथार्थ चित्रण को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। जिसके फलस्वरूप विद्वानों में मतभेद उत्पन्न हो गया है और 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' इन दो सिद्धान्तो को लेकर दो वर्ग बन गए हैं। छायावाद में लौकिकता की आध्यात्मिकता का आवरण देकर व्यक्त करने की प्रणाली थी किन्तु इसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद, उपयोगितावाद, प्रयोगवाद आदि जीवन के यथार्थ चित्रण को महत्त्व देने वाले विभिन्न वादो का जन्म हुआ। इसके फलस्वरूप साहित्य ने अपने स्वाभाविक मगलमय रूप से

हटकर अश्लील और क्रांतिकारी रूप धारण किया। यथार्थ का यह चित्रण उसे अवश्य जीवन के कुछ अधिक समीप ले आया है परन्तु साहित्य में निहित अलौकिकता की शक्ति क्षीण हो गई है। उसे आज दिव्यानन्द की वस्तु न कहकर जीवन का गीतिमय इतिहास कहना अनुपयुक्त न होगा।

वास्तव में सत्य, शिवं और सुन्दर तीनो की सामञ्जस्यपूर्ण प्रतिष्ठा ही साहित्य की सफलता की पराकाष्ठा है। सत्य उसकी आधारभूमि है, शिव उसका लक्ष्य और सुन्दर उस लक्ष्य तक पहुँचने का साधन। 'हितेन सहसहित' कहकर साहित्य शब्द के व्याख्याकारो ने उसमें कल्याण-भावना की प्रतिष्ठा की है। केवल यथार्थ का चित्रण ही नही बल्कि आदर्श की कामना भी जीवन को कल्याण-मार्ग की ओर ले जाने में समर्थ हो सकती है। प्रत्यक्ष का चित्रण यदि साहित्य में स्वाभाविकता और संवेदना उत्पन्न करता है तो अप्रत्यक्ष का संकेत उसमें उन्नति-पथ के पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। समीक्षक को साहित्यकार की रचना के प्रति सहृदय होना चाहिए। उसे रचना को केवल यथार्थ जीवन के ही नही बल्कि यथार्थ और आदर्श दोनो के दृष्टिकोणो से देखना चाहिए।

कलाकार केवल चेतन का ही नही बल्कि अचेतन में भी जीवन की कल्पना करके उसे संवेदनशील बना देता है। प्रसाद के काव्य को ही ले लीजिए। कामायनी उनका सर्वश्रेष्ठ काव्य है। उसमें जीवन की मनोविकार सम्बन्धी समस्याओ का वर्णन प्रकृति को सजीव रूप देकर किया गया है। इन विकारो से उत्पन्न आकुलता का शमन आनन्द द्वारा दिखाकर 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का महान् सन्देश दिया गया है। साहित्य का यही सन्देश जीवन का पथ-प्रदर्शक है।

साहित्य और धर्म

धर्म और साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। बिना धर्म के साहित्य में सौन्दर्य ही नही आ सकता और न वह पूर्ण ही हो सकता है। साहित्य का विषय जीवन और जगत है। जीवन और जगत का विलास प्रकृति की क्रोड में होता रहता है। प्रकृति चिर-नवीन और सुन्दर है। उसके अन्तराल में अक्षय आनन्द भरा है। उसकी आन्तरिक सुषमा भी कम मनोरम नही है। प्रकृति के इस रूप-माधुर्य की अनुभूति हम तभी कर सकते हैं जब हमारे हृदय में उसके प्रति सहानुभूति और स्नेह का भाव हो। यह सहानुभूति और स्नेह तभी उत्पन्न हो सकता है जब हमारा हृदय विशाल हो, उदार हो, पवित्र हो और सहृदय हो। हृदय के यह सद्गुण आदर्शों के सहारे ही विकसित किए जा सकते हैं। आदर्शों की अभिव्यक्ति धर्म में ही होती है। अतएव विचारो और भावो को उदात्त बनाने का श्रेय बहुत कुछ धर्म को ही होता है। भावो की उदात्तता पर ही साहित्य का सौन्दर्य निर्भर रहता है। जिस साहित्य के भाव और विचार जितने ही उदार और उदात्त होते हैं वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ समझा जाता है। अतएव स्पष्ट है कि साहित्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए हमें धर्म में पाए जाने वाले आदर्शों की शरण पहले लेनी होगी।

धर्म का एक पक्ष विश्वास भी है। मानव अनादिकाल से प्रकृति के साहचर्य में जीवन व्यतीत करता आ रहा है। प्रकृति साहचर्य के प्रभाव के फलस्वरूप मानव के हृदय में प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ विश्वास उत्पन्न हो जाते हैं। अपनी कोमल और भावमयी कल्पना के सहारे वह प्रकृति के विविध रूपो के अन्तराल में किसी दिव्य मूर्ति के दर्शन करने लगता है। साहित्य मे इन्ही विश्वामो की प्रतिष्ठा रहती है और इन्ही कल्पनामूलक मूर्तियो की भावात्मक अभिव्यक्ति पाई जाती है। इनके सम्पर्क से साहित्य अधिक भाव-प्रवण हो जाता है और उसका स्वरूप निखर आता है।

धर्म का विकास तभी अच्छा हो सकता है जब कि कोई जाति स्वतन्त्र हो। परतन्त्रावस्था में पराजित जाति की धार्मिक भावनाएँ याचना लेकर खडी होती हैं, साधना और प्रवचन लेकर नही। इस याचना की भावना से साहित्य का अलौकिक पक्ष प्राञ्जल रूप में निखर आता है क्योंकि वहाँ भक्त भगवान से याचना करता है, आत्म-निवेदन करता है, किन्तु इस याचना-भाव से लौकिक साहित्य पतनोन्मुख हो चलता है। हिन्दी-साहित्य को ही ले लीजिए। यवनो के देश में प्रतिष्ठित हो जाने पर जहाँ एक ओर अलौकिक साहित्य अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचने लगा सूर, तुलसी और जायसी जैसे महाकवि उत्पन्न हुए किन्तु दूसरी ओर लौकिक साहित्य को इस याचना-भाव से करा धक्का भी लगा। कवि का लक्ष्य अर्थ की याचना के लिए ही कविता करना रह गया। फिर क्या था 'राधा-कन्हाई सुमिरन' के बहाने राजा साहब को येन-केन-प्रकारेण प्रसन्न करके धन ऐंठने लगे। साहित्य का पतन हुआ, उसका दम घुटने लगा। उसकी उसमन से पाठक भी घवडा उठे। अतएव उसकी प्रतिक्रिया जाग्रत हुई। साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के विविध स्वरूपो का उदय और विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म के विकास और ह्रास पर साहित्य के उदय, विकास और स्वरूप उदय और विकास पर गहरा प्रभाव पडता है।

धर्म में मानव के अतीत का मधुमय इतिहास निहित रहता है। धर्म के पौराणिक पक्ष में ही अतीत की गाथा ही किसी-न-किसी रूप में ही मिलती है। साहित्य का अतीत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि साहित्य स्वय ही अतीत के भावो, चित्रों और अनुभूतियो की भावात्मक प्रतिक्रिया है। इससे स्पष्ट है कि इस दृष्टि से भी साहित्य का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रगट होता है।

यदि हम विश्व के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें एक बात स्पष्ट दिखाई देगी। विश्व के प्राय· सभी देशो में धर्म और साहित्य यह दोनो ही अधिकतर विद्वानो की ही सम्पत्ति रहे हैं। वे ही इन्हे जन्म देते रहे है, इनका विकास और विस्तार भी उन्ही के अधीन रहा। दूसरे शब्दो में हम साहित्य और धर्म दोनो को ही एक ही पिता की सन्तान और सहोदर कह सकते हैं। जिस तरह से दो भाई एक दूसरे से स्वभाव और रूपादि में भिन्न होते हुए भी बहुत सी बातों में एक सूत्र में भी बंधे रहते है तथा एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं उसी प्रकार साहित्य और धर्म यद्यपि अपना अलग अस्तित्व रखते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु एक ही पिता की सन्तान होने के कारण वे एक दूसरे की घनिष्ठता मे सम्बन्धित हैं।

एरिस्टोटिल ने एक स्थल पर लिखा है धर्म और सौन्दर्य-बोध दोनो ही मानव-जीवन के आवश्यक अग हैं। इन दोनो ही के बिना जीवन अपूर्ण रहता है। हमारी अपनी धारणा यह है कि यह दोनो ही जीवन के दो ऐसे पहलू हैं जिनका अस्तित्व एक दूसरे के बिना किसी प्रकार भी स्थिर नही रह सकता। दोनो में अन्योन्याश्रय भाव है।

धर्म और साहित्य की एक मिलन-रेखा और है। वह है कल्याण-भावना। सभी धर्म का लक्ष्य किसी-न-किसी प्रकार मानव-कल्याण विधान करना ही है। धर्म की यह मूल भावना साहित्य का प्राण कही जा सकती है। साहित्य शब्द की यदि व्युत्पत्ति की जाय तो हितेन सहित इति साहित्य अर्थात् साहित्य वह सृष्टि है जो मानव-हित और कल्याण से समन्वित हो। इस दृष्टि से भी साहित्य और धर्म में हम अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार कर सकते हैं।

धर्म उस परोक्ष सत्ता तक ले जाने वाले साधनों और मार्गों का जटिल इतिहास है। इन साधनो और मार्गों में प्रेम तथा प्रेममार्ग सबसे महत्त्वशाली प्रतीत होता है। भारतीय धर्म में इस प्रेमप्रधान मार्ग को भक्ति-मार्ग के नाम से अभिहित करते हैं। ईश्वर में परानुरक्ति होना ही भक्ति है। भक्त या साधक जब इस प्रेम-मार्ग का वर्णन भावना के मधुर और आकर्षक रग से रजित कर चित्रण करने लगता है वही से रहस्य-वाद का उदय हो जाता है। रहस्यवाद साहित्य का एक प्रमुख और प्रसिद्ध पक्ष है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनो का मिलन-बिन्दु एक ही है। दोनो में बडी घनिष्टता है।

साहित्य और सदाचार

साहित्य और सदाचार के सम्बन्ध को लेकर विद्वानो में सदा मतभेद रहा है। कुछ विद्वान् सदाचार और नीति को प्रत्येक सत्काव्य के लिए अपेक्षित मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् इसके विरोध में हैं। भारतीय साहित्य के धर्म भावना के अन्तर्गत ही नैति-कता का भी समावेश किया गया है। साहित्य जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन की दुर्बलताओ और उच्छृ खलताओ को दूर करने के लिए नैतिक और धार्मिक सविधान को महत्त्व देना ही पडता है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में कर्तव्य, धर्म और नीति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस महत्ता का एक कारण और भी है। भार-तीय साहित्य का लक्ष्य लोकमगलकारी है। यह लक्ष्य नैतिक और आध्यात्मिक भावना के द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। नीतियुक्त यही लोकरञ्जनकारी रूप हमें भारतीय सत काव्य में विस्तृत रूप में दिखाई पडता है। तुलसी के रामचरितमानस के भरत, राम आदि सत् पात्र इसी भावना को प्रसार करते हुए दिखाये गये हैं। आ० मम्मट ने भी काव्य के प्रयोजन बतलाते हुए 'कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे' कहकर साहित्य में नीति और धर्म की महत्ता प्रतिपादित की है। वक्रोक्ति जीवितकार की भी यह उक्ति दर्शनीय है—

"कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम् ।
आल्हाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥"

अर्थात् वेद और शास्त्र के उपदेश अविद्या रूपी व्याधि के लिए गुणकारी अवश्य होते हैं पर वे कटु औषधि के समान हैं किन्तु काव्य के माध्यम से कथित वे ही उपदेश

अमृत के समान सरस और मधुर होते हैं।

साहित्य एक कला है। कला का चरम उत्कर्ष अधिकाश विद्वानो ने आध्यात्मि भावना द्वारा ही माना है। इस भावना का उत्कर्ष अनुपम सौन्दर्य-विधान से होत है। रस्किन के मतानुसार यह सौन्दर्यानुभूति सदाचारहीन व्यक्ति को नही हो सकती स्कॉट जेम्स ने अपनी 'The Making of Literature'[1] नामक पुस्तक में लिखा है—"रस्किन के मतानुसार सौन्दर्य की अनुभूति इन्द्रियाँ और बुद्धि पर अवलम्बित न होक हृदय पर आधारित रहती है। उसकी उत्पत्ति ईश्वर की कला के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञत और प्रसन्नता की अनुभूति के कारण होती है।" अत साहित्य को सौन्दर्यात्मक औ कलात्मक रूप देने के लिए इसमें नैतिकता का समावेश आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानो में साहित्य का सदाचार से घनिष्ट सम्बन्ध मानने वालो वेन्सन, सिमन्ड, गोथे, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड आदि प्रमुख हैं। वेन्सन के अनुसार समस साहित्य किसी न किसी रूप में मानव जीवन से सम्बन्धित रहता है—

"All literature answers to someth'ng in life, same habitua forms of human expression." साहित्य और जीवन का यह सम्बन्ध तभी सार्थ हो सकता है जब वह मानवता के चरम विकास की ओर ले जाय। इस विकास क कल्पना साहित्य में नैतिक धारणा द्वारा ही की जा सकती है। इसीलिए रस्किन लिखा है—"कलाएँ मनुष्य के लिए उपदेशात्मक होनी चाहिएँ। उपदेश ही उनका चरम लक्ष्य होता है।"

महात्मा गाधी ने वर्तमान साहित्य की आलोचना करते हुए लिखा है कि वह सदाचार से विरहित होने के कारण दूषित हो गया है। मैथ्यू आर्नल्ड की धारणा भी ऐसी ही है। वह सदाचार से रहित काव्य को जीवन और समाज में उपयुक्त नही मानता। उसने लिखा है—"नैतिक जीवन के प्रति क्रान्ति को व्यक्त करने वाली कविता को सामाजिक भावों के प्रति क्रान्ति प्रकट करने वाली कविता कहा जा सकता है। नैतिक विचारों की उपेक्षा करना वास्तव में जीवन के प्रति उदासीन होना है।" प्लेटो ने भी सदाचार विहीन कला की निन्दा की है। गाल्सवर्दी ने अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य में नीति और सदाचार को महत्त्व दिया है। एक स्थल पर उसने कहा है कि जिन व्यक्तियो में भलमनसाहत नही होती वे सच्चे मनुष्य नही कहे जा सकते। एक दूसरे विद्वान् ने काव्य का लक्ष्य ही नीति माना है—

"The essential theme of Poetry is moral order "

वास्तव में यह सत्य ही है। सदाचार से विरहित काव्य सत्साहित्य न रहकर

---

१. "The feeling of the beautiful, according to Ruskin, does not depend on the senses, nor on the intellect, but on the heart, and is due to the sense of reverence, gratitude and joyfulness that arises from recognition of the handiwork of God in the objects of nature" —The making of Lit —Scot James.

मन की अव्यवस्थित और उच्छृंखल भावनाओ की अभिव्यक्ति रह जायगा, जिसका परिणाम समाज का नैतिक पतन ही होगा। साहित्य और समाज के इस नैतिक पतन का दृश्य हिन्दी के रीति साहित्य में दिखाई पडता है। ऐसा साहित्य रुचि विशेष के उपयुक्त हो सकता है। वह मानव-साहित्य की स्थायी निधि नही हो सकता।

अनेक विद्वान् साहित्य में सदाचार और नीति की अवस्थिति आवश्यक नही मानते। कलावाद के समर्थक कला को नीति और उपयोगिता से स्वतन्त्र घोषित करते हैं। साहित्य भी एक कला है अत वे कवि की सृष्टि को "नियतिकृतनियमरहिता" कह कर उसे वाह्य वन्धनो से पूर्ण मुक्त कहते हैं। ब्रेडले आदि पाश्चात्य कलावादी विद्वानों ने भी काव्य के सौन्दर्य-पक्ष को स्वतन्त्र माना है। वे केवल आत्ममनोवृत्तियो को ही महत्त्व देते हैं। उनके मतानुसार मनोविकारो की अभिव्यक्ति यथातथ्य रूप में होनी चाहिए। किसी प्रकार के वाह्य आवरण या सयमन से उनका स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। ब्रैडले के सुर में सुर मिलाते हुए आस्कर वाइल्ड[1] महोदय ने भी लिखा है कि कला और नीति इन दोनों का क्षेत्र एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और व्यतिरिक्त होता है। साहित्य क्षेत्र में नैतिक और अनैतिक जैसी कोई गत नही होती है। साहित्यिक रचना अच्छी और वुरी कही जा सकती है, नैतिक और अनैतिक नही। आजकल के कुछ हिन्दी कवि भी अपनत्व भूलकर अपने साहब गुरुओं के चरण-चिह्नो पर चल रहे हैं। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवि अधिकतर इसी कोटि में आते हैं। किन्तु साहित्य के प्रति यह दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित और सकुचित है। साहित्य जीवन से अलग नही किया जा सकता। जीवन वही है जो आचरण-प्रवण हो। इस दृष्टि से हमें साहित्य का सदाचार से घनिष्ठ सम्वन्ध स्वीकार करना पडेगा। सच तो यह है कि सदाचार-विरहित साहित्य को साहित्य न कहकर तमाशा भर कहना चाहिए।

साहित्य और समाज

साहित्य और जीवन का जिस प्रकार घनिष्ठ सम्वन्ध है उसी प्रकार साहित्य और समाज का भी। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और जीवन और समाज पूर्णतया सम्बद्ध हैं। सभ्यता के विकास ने प्रत्येक व्यक्ति को समाज का एक अग वना दिया है अत साहित्य में वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन का समावेश आवश्यक हो जाता है। साहित्य में वर्णित किसी आलम्बन विशेष की जीवन घटनाओ का निरूपण अन्य पात्रो और उनके समाज की सहायता से किया जाता है जिससे वर्णन में प्रवाह और स्वाभाविकता आती है।

साहित्य और समाज के स्थायी सम्वन्ध के फलस्वरूप समाज में विद्यमान सस्कार और वातावरण का प्रभाव भी साहित्य पर अवश्य ही पडता है। समाज की मूल प्रवृत्तियाँ साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ हो जाती हैं। यही कारण है कि किसी भी साहित्य के अध्ययन से उसके निर्माण-कालीन समाज का सकेत मिल सकता है। हिन्दी साहित्य

---

१ देखिए—आस्कर वाइल्ड्स रिप्लाइ टु हिज क्रिटिक्स तथा पिक्चर आफ डोरियन ग्रे की भूमिका।

के इतिहास के चारो काल भारत की राजनैतिक और सामाजिक आदि परिस्थितियो के रेखाचित्र उपस्थित करते हैं। अतः साहित्य अपनी युगीय भावनाओ की अनुकृति होता है। प्रत्येक समाज भी अपने जातीय साहित्य में सकलित अपनी भावनाओ की प्रतिमूर्ति का उपासक होता है।

सामाजिक सभ्यता के विकास का इतिहास साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही आर्यों में आध्यात्मिक भावना प्रबल रही है। इसी कारण व्यापक वैदिक साहित्य का निर्माण हुआ। समय-समय पर इस भावना पर विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलनों के आघात होते रहे किन्तु समाज की शाश्वत भावना उनको पुनः विच्छिन्न करती रही है। यह आध्यात्मिकता केवल ज्ञान-क्षेत्र की ही निधि नही थी बल्कि जीवन और समाज को भी आलोकित करती रही है। भारतीय साहित्य इसी समन्वय-साधना की सफल सिद्धि है।

साहित्य और समाज के सम्बन्ध का मूल कारण व्यक्ति है। समाज व्यक्तियो से निर्मित हुआ है, साहित्य के स्रष्टा भी व्यक्ति ही होते हैं। साहित्यकार का व्यक्तित्व समाज का प्रतिनिधित्व-सा करता हुआ दिखलाई पडता है। साथ ही साथ वह अपनी व्यक्तिगत विचारधारा का प्रसार भी करता चलता है। साधारण जनसमाज उसका अनुगामी हो जाता है। अत वह किसी अश में समाज का प्रतिनिधि और नेता कहा जा सकता है।

साहित्य हमारे अव्यक्त भावो को व्यक्त करता है, उसमें जीवन के विविध रूप हमारे सामने आते हैं। साहित्यकार उन रूपो के प्रति हमारे आदर्श को निर्धारित करता है। अत साहित्य जीवन और समाज का केवल चित्र ही नही उपस्थित करता बल्कि सुधारक की भाँति उनकी त्रुटियो का सकेत कर उन्नति-मार्ग का प्रदर्शन भी करता है। साहित्य में समाज के साधारण मनुष्यो को भी गौरवपूर्ण स्थान मिल सकता है। साहित्यिक गौरव केवल वैभव में ही नही है बल्कि करुणा, सदाचार और प्रतिभा उसमें अधिक गौरवान्वित होते हैं।

साहित्य और समाज दोनो का शिलान्यास आत्म-रक्षा और आत्मोन्नति की कामना पर हुआ करता है। अत समाज के प्रयोजन ही साहित्य के भी प्रयोजन कहे जा सकते हैं। भामह ने काव्य के प्रयोजन निम्न बताए हैं—

"धर्मार्थकाम मोक्षाणाम् वैचक्षण्य कलासु च।
प्रीति करोति कीर्ति च साधु काव्य निबन्धनम्॥"

समाज का निर्माण भी इन्ही उद्देश्यो के आधार पर हुआ है। विकास की दृष्टि से सामाजिक जीवन में इन उद्देश्यो की पूर्ति की आवश्यकता बनी ही रहती है। साहित्य का निर्माण समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप ही हुआ करता है। समाज में किसी भी भावना के उदय, विकास और उसके परिणाम की प्रतिच्छाया साहित्य में स्पष्ट देखी जा सकती है।

साहित्य और समाज का यह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मगलकारी है। साहित्य [illegible] के अतिरिक्त सौन्दर्य और शिव की भी प्रतिष्ठा रहती है। इन तीनो के

समन्वय से उसमें नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओ की दृढ स्थापना मिलती है। समाज में फैली हुई दैनिक विपाद की छाया यहाँ आए पाकर शीतलता का अनुभव करती है। भारतीय साहित्य में समाज के सुख-दुख पूर्ण चित्रो को अधिकतर सुखान्त ही रक्खा गया है। सदैव सत् की विजय दिखाना ही उसका आदर्श रहा है। सत् की यह विजय विशाल जन-समाज को अनेक द्वन्द्वों के बीच भी दृढता और विश्वास के साथ प्रवृत्त रहने का हृदयग्राही उपदेश देती है। इस प्रकार साहित्य समाज के मनोरञ्जन का उच्चतम साधन होने के अतिरिक्त सदाचार और नैतिक शिक्षा का सरस साधन भी है।

साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकत्रीकरण है। समाज भी व्यक्ति का समष्टिरूप है। भारत का सामाजिक आदर्श सदैव एकता की ओर ही रहा है। रामराज्य का आदर्श और गाधी जी के सर्वोदय समाज की स्थापना का प्रयास इसी एकता का द्योतक है। साहित्य सामाजिक भावनाओ का सरोवर है अत हमारे साहित्य की सार्थकता ऐसी ही समाज-व्यवस्था के प्रतिविम्बन में है। साहित्य और समाज के सम्बन्ध की रक्षा भी तभी हो सकती है। यद्यपि प्रत्येक साहित्यिक रचना अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है परन्तु समाज के सम्मुख वह कुछ अंशों में उत्तरदायी है। उसके लिए आवश्यक है कि वह मनोरञ्जन विधान के अतिरिक्त समाज का रुचि-परिष्करण भी कर सके। तभी विश्व-साहित्य की एकता स्थापित हो सकती है।

साहित्य का मर्म

साहित्य के मर्म का प्रश्न बडा ही जटिल है। आदि काल से साहित्यशास्त्री इस पर विचार करते आ रहे हैं किन्तु यह प्रश्न अभी तक स्पष्ट नही हो पाया है। इस प्रश्न को लेकर साहित्य जगत में अनेक सम्प्रदाय जन्म लेते रहे है। सस्कृत साहित्य को ही ले लीजिए। उससे अलकार सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय आदि आदि न मालूम कितने साहित्य के मर्म को स्पष्ट करने वाले सम्प्रदाय उदय होकर विकसित होते रहे हैं। पाश्चात्य देशो में भी यह प्रश्न किसी न किसी रूप में साहित्यशास्त्रियों के शास्त्रार्थ का विपय रहा है। यहाँ पर हम प्राच्य और पाश्चात्य दोनो ही साहित्यो में प्रचलित साहित्य के मर्म सम्बन्धी सिद्धान्तो पर अत्यन्त सक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त समझते हैं।

भारतीय साहित्य अपनी कुछ अलग विशेपताएँ रखता है। उसकी सबसे प्रमुख विशेपता उसकी अध्यात्म और धर्मप्रियता है। हमारे यहाँ साहित्य को धर्म और अध्यात्म से अलग करके कभी भी देखने की चेष्टा नही की गई। यह बात 'कविर्मनीषी परिभूस्स्वयम्भू' वाली उक्ति से पूर्णतया स्पष्ट है। भारतीय दृष्टि में कवि मनीषी भी हुआ करता था। कोई मनीषी आध्यात्मिक और धार्मिक भावनाओ से शून्य नहीं रह सकता। इसका अर्थ यह है कि भारतीय दृष्टि में कवि केवल वेल-बूटे सजाने वाला चित्रकार ही नही होता उसका लक्ष्य विश्व का कल्याण करना, उसे सन्मार्ग पर ले जाना भी होता है। सम्भवत. यही कारण है कि हमारे प्राचीन

आदि काव्य एक ओर तो साहित्य की परम निधि थे और दूसरी ओर धर्म की आधार-भूमि भी। इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे साहित्य का मर्म अध्यात्म और धर्म से अनुप्राणित रहा है।

हम पहले दिखला चुके हैं कि साहित्य को भवभूति जैसे विद्वान, और कवि आत्मा की कला मानते थे। उन्होंने अपने 'उत्तररामचरित' के प्रथम श्लोक में ही यह बात इस प्रकार प्रगट की है—

"इदम् कविभ्यः पूर्वेभ्य नमोवाकम् प्रशासमहे।
विन्देम देवताम् वाचममृतामात्मनः कलाम्॥"

जब वाक् या साहित्य आत्मा की कला है तो उसमें आत्मतत्त्व की विशेषताएँ भी होनी चाहिएँ। आत्मतत्त्व वास्तव में ब्रह्मतत्त्व ही है। उपनिषदों में यह बात बार-बार दोहराई गई है। ब्रह्म तत्त्व या आत्म तत्त्व हमारे यहाँ रसरूप माना गया है। उपनिषदों की 'रसोवैस' अर्थात् वह ब्रह्म रसरूप है, वाली उक्ति से कौन नही अपरिचित होगा। साहित्य में भी इस रस की अवस्थिति होनी चाहिए। ऐसा है भी। रस साहित्य का प्राण माना जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि साहित्य में जिस रस की चर्चा की जाती है वह ब्रह्म रस से भिन्न है या समान। मम्मट आदि आचार्यों ने रस तत्त्व की व्याख्या करते समय उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। इससे प्रगट होता है कि साहित्य का रस ब्रह्म रस के समकक्ष अवश्य होता है किन्तु ब्रह्म रस स्वय नही है। साहित्य में जिस रस की स्थिति पाई जाती है वह बहुत कुछ लौकिकता की भूमि पर प्रतिष्ठित है। हमारी समझ में ब्रह्म रस और साहित्यिक रस में वही अन्तर है जो आत्म तत्त्व और जीवन तत्त्व में है। माया या वासना से विशिष्ट आत्म तत्त्व जीव तत्त्व कहलाता है। इसी प्रकार साहित्यिक रस भी वासना विशिष्ट होता है। उसमें हमारी प्रसुप्त वासनाओं को जाग्रत करने की शक्ति अधिक होती है। यही कारण है कि उसमें लौकिक रीति को भी महत्त्व दिया जाता है। किन्तु ब्रह्मानन्द या ब्रह्म रस में लौकिक रति का कोई स्थान ही नही है। इस प्रकार आचार्यों के प्रयत्न से ब्रह्म रस साहित्य रस से बिल्कुल अलग कर दिया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य की मापा ही बदल गई। वह आत्मा की कला न रहकर हमारे जीवन की कला बन गया। आत्मा और जीवन में अन्तर है। जिस प्रकार साख्य में पुरुष और प्रकृति दो अलग भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं उसी तरह से जीवन और आत्म तत्त्व भी भिन्न-भिन्न हैं। इन्ही के आधार पर हम साहित्य के दो रूप स्वीकार करते हैं एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिक रूप प्रत्यक्ष और ससीम होता है। अलौकिक रूप परोक्ष और असीम होता है। साहित्य के मर्म में भी यह रूप-भेद दिखाई पडता है। लौकिक साहित्य का मर्म रस अलकार आदि बातें हुआ करती हैं किन्तु अलौकिक साहित्य का मर्म सच्चिदानन्द स्वरूप होता है। सच्चिदानन्द स्वरूप होने के कारण उसकी अनिर्वचनीयता स्वयं सिद्ध हो जाती है। साहित्य के आनन्द की यही अनिर्वचनीयता सत्साहित्य का प्राण कही जा सकती है। आनन्दवर्धन ने साहित्य के इसी मर्मांश की ओर सकेत करते हुए लिखा है—

"प्रतीयमान पुनरन्यदेव वसत्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
एतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"

ललना लावण्य सदृश यही अनिर्वचनीय और सौन्दर्य तत्त्व वास्तव में साहित्य का सच्चा मर्म है। अलकार, वक्रोक्ति रस आदि साहित्य के दूसरे उपादान उस मर्म के अवयव कहे जा सकते हैं वास्तविक मर्म नही। जब काव्य में ब्रह्म के सदृश यह वाच्यावाच्य तत्त्व उपलब्ध होगा। तभी उसकी सच्ची सार्थकता होगी क्योकि साहित्य वही है जो हित के सहित हो अर्थात् मानव-कल्याण विधायक हो।

अभी हाल में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लखनऊ विश्वविद्यालय में साहित्य का मर्म शीर्षक भाषण दिया था। इसमें आपने हिन्दी साहित्य का आदि से अन्त तक पर्यालोचन करते हुए समय-समय में अनुभूत होने वाले साहित्य के मर्म पर विचार किया है। हमारा विषय उनके विषय से थोडा भिन्न है अतएव हम उनकी बातो को दोहरा-कर पिष्ट-पेषण करना नही चाहते जिज्ञासु लोग चाहे उसे भी पढ लें।

हम ऊपर अभी ललना-लावण्य सदृश किसी अनिर्वचनीय रमणीयता को साहित्य के मर्म का एक पक्ष या अवयव बतला चुके हैं। प्रश्न यह उठता है कि साहित्य का यह रमणीय तत्त्व साहित्यकार में क्यो और कैसे उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में थोडा मत-भेद हो सकता है। सस्कृत आचार्यों के मतानुसार साहित्य और उनके मर्म सभी का हेतु शक्ति या प्रतिभा होती है। यह शक्ति क्या है रुद्रट ने अपने काव्यालकार में उसे इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है।

"मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति॥"

अर्थात् शक्ति वह तत्त्व है जिसके द्वारा शान्त चित्त में अनेक प्रकार के अक्लिष्ट पद स्फुरित होते हैं।[१] इसी शक्ति को भामह, दण्डी, मम्मट आदि अन्य आचार्यों ने प्रतिभा का अभिधान दिया है। राजशेखर ने इसी को साहित्य या काव्य का मूल हेतु कहा है।

"सा केवलम् काव्य हेतुः इतियायवरीय"

वामन ने भी 'कवित्त्व बीजम् प्रतिभानम्' कहकर इसी बात का समर्थन किया है। यह प्रतिभा ही हमारी समझ में काव्य के मर्म को प्राण प्रदान करने वाली शक्ति है। साहित्य सर्जना तो विना प्रतिभा के केवल श्रम के बल पर भी की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार की रचनाओ में साहित्य का मर्म सजीव और चेतन नहीं हो पाता। यही कारण है कि दण्डी ने 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना, गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्, श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता, ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम्, तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपस्या खलु कीर्तिमीप्सुभि.' इत्यादि लिखकर भी प्रतिभा को ही विशेष महत्त्व दिया है। वह लिखता है—

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्
अनन्दश्चभियोगोऽस्या. कारण काव्यसम्पद"

१ "Genius is only two percent inspiration and ninety-eight percent perspiration." —Thomas A Addison.

इसमे यही प्रगट होता है कि साहित्य के मर्म का सौन्दर्य बहुत कुछ प्रतिभा पर ही अवलम्बित रहता है। यह प्रतिभा जैसा कि अग्निपुराण में लिखा है दुर्लभा होती है। जिस साहित्यकार को इस प्रतिभा का वरदान मिल जाता है उसी के साहित्य का मर्म सजीव और प्रभावशाली होता है। हमारी समझ में प्रतिभा का सम्बन्ध आत्मा से है। जिस साहित्यकार की आत्मा जितनी प्राञ्जल, जितनी सुसस्कृत और निर्मल होती है उसकी प्रतिभा भी उतनी ही जागरूक होगी। जिसकी प्रतिभा जितनी सक्रिय और चेतन होगी उसकी वाणी उतनी ही प्रभावशालिनी होगी। सम्भवत यही कारण है—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे सन्त कवियो की वाणी में एक अनिर्वचनीय विशेषता पाई जाती है, जिसके कारण वे निरक्षर भट्टाचार्य होते हुए भी विश्व के महान् कवि बन सके हैं। इसके विपरीत केशव जैसे कलावाज की वाणी में वह आकर्षण नही है जो उपर्युक्त कवियो में पाया जाता है। इम अन्तर का कारण हमारी समझ में दोनो की प्रतिभा का अन्तर है। दोनो वर्ग के कवियो के साहित्य के मर्म अथवा प्राण में भी अन्तर है। सन्त कवियों द्वारा सृजित माहित्य का मर्म प्रतिभा और अध्यात्म जीवन होने के कारण सर्वजनीन और सर्वकालीन एव शाश्वत है।

साहित्य के मर्म के रूप में हमने जिस अनिर्वचनीय आध्यात्मिक लावण्य तत्त्व की ओर सकेत किया है वह साहित्य में साधारणीकरण की शक्ति की वृद्धि करता है। जिस साहित्य का मर्म जितना कोमल, अनिर्वचनीय और आध्यात्मिक होगा वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ और महान् होगा। साधारणीकरण की मात्रा पर ही साहित्य की लोकप्रियता की मात्रा अवलम्बित रहती है जिस साहित्य में जितनी अधिक साधारणीकरण की क्षमता होती है वह साहित्य उतना ही अधिक सर्वजनीन होता है। तुलसी के 'मानस' को ही ले लीजिए उसमें साधारणीकरण की बहुत अधिक क्षमता पाई जाती है। इसीलिए वह इतना अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित हो सका है। इस प्रकार हमारी दृष्टि में साहित्य का मर्म कोई अनिर्वचनीय तत्त्व ही है जिसकी आधारशिला अध्यात्म और आनन्द पर आधारित रहती है।

साहित्य के विविध रूप

प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही विद्वानो ने साहित्य को कई वर्गों में बाँटने की चेष्टा की है। भारत में इस प्रकार का प्रयत्न सबसे पहले राजशेखर ने अपनी काव्यमीमासा में किया था। उसने साहित्य के दो भेद किए हैं—'शास्त्रं काव्यचेति वाङ्मयं द्विधा' अर्थात् वाङ्मय या साहित्य शास्त्र और काव्य-भेद से दो प्रकार का होता है। साहित्य का यह विभाजन अगरेज विद्वान डीक्वेंसी के विभाजन से मिलता-जुलता है। उसने दो प्रकार का साहित्य माना है—

१. Literature of Knowledge ज्ञान का साहित्य।

२ Literature of Power शक्ति का साहित्य।

प्रथम को हम शास्त्र के अन्तर्गत ले जा सकते हैं और दूसरा काव्य कहा जा सकता है। अगरेज़ विद्वान हडसन ने साहित्य के तीन प्रकार स्वीकार किए हैं—

१ The Literature of Self expression अर्थात् स्वानुभूतिमूलक साहित्य इसके अन्तर्गत गीत काव्य आदि आते हैं । कुछ निवन्ध आदि भी जिनमें वैयक्तिकता की प्रधानता रहती है इसी कोटि के अन्तर्गत आयेंगे ।

२ The literature in which the writer instead of going down of himself goes out of himself into the world of external human life and activity अर्थात् वह साहित्य जिसमें कवि अपने हृदय को टटोलने के स्थान पर वाह्य जगत को देखने की चेष्टा करता है । इसके अन्तर्गत इतिहास जीवनियाँ आदि आती हैं ।

३ Literature of Description—इसके अन्तर्गत वर्णनप्रधान सभी साहित्यिक विधाएँ आती हैं ।

हडसन का यह विभाजन वहुत कुछ साहित्य के (Subjective) आत्मपरक तथा (Objective) ससारपरक विभाजन से मिलता है । अन्तर केवल इतना ही है कि उसने एक तीसरा विभाजन भी कल्पित किया है । जो कोई नया भेद नहीं, वल्कि पहले और दूसरे के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए ।

हमारी समझ में समस्त साहित्य को निम्नलिखित तीन भागो में वाँटना अधिक उपयुक्त होगा ।

१ भावप्रधान साहित्य ।

२ विचारप्रधान साहित्य ।

३ कला और कल्पनाप्रधान साहित्य ।

यह विभाजन हमने साहित्य के प्राणभूत उपादानो के आधार पर किया है । हमारी समझ में उपर्युक्त अन्य विभाजनो की अपेक्षा यह विभाजन अधिक वैज्ञानिक और तर्कसगत है ।

कुछ विद्वान् साहित्य को थोडा सकुचित अर्थ में लेकर उसके दो विभाग करते हैं—

१ Creative literature या सर्जनात्मक साहित्य ।

२. Critical literature या आलोचनात्मक साहित्य ।

यह विभाजन वैसे तो ठीक मालूम पडता है किन्तु इसके अन्तर्गत (Literature of Knowledge) ज्ञान के साहित्य का समावेश नही हो पाता । किन्तु जहाँ तक साहित्य काव्य का पर्यायवाची समझा जाएगा वहाँ तक यह विभाजन सवसे अधिक समीचीन रहेगा ।

सस्कृत प्रसिद्ध आचार्य भामह ने काव्य या साहित्य के चार भाग किए हैं—

१. देवचरितशसि ।

२. उत्पाद्य ।

३ कलाश्रय ।

४ शास्त्राश्रय ।

साहित्य का यह चतुर्विभाग काव्य की दृष्टि से किया हुआ होने के कारण थोड़ा सकुचित प्रतीत होता है । किन्तु प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए उपर्युक्त विभाग

बहुत अधिक सहायक हो सकता है। यह विभाजन आज यत्किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार किया जा सकता है। आज के युग में देवचरितशंसि के प्रति लोगों की श्रद्धा नही रह गई है अतएव इसके स्थान पर हम यदि धार्मिक शब्द का प्रयोग करें तो बडा ही उपयुक्त होगा। उस अवस्था में साहित्य का यह विभाजन भी स्वीकार किया जा सकेगा।

सस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य पाणिनि ने साहित्य के छ विभाग किए हैं। वे क्रमश इस प्रकार हैं[1]—

(१) दृष्ट साहित्य—वह जो ऋषियो को आत्मानुभूति के रूप में अभिव्यक्त हुआ हो। वैदिक सहिताएँ इस कोटि के साहित्य के अन्तर्गत आवेंगी।

(२) प्रोक्त साहित्य—गुरु और शिष्य के कथोपकथन के रूप में अभिव्यक्त आध्यात्मिक साहित्य 'प्रोक्त' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत वेदाग ग्रन्थ आवेंगे।

(३) उपज्ञात साहित्य—ऋषियो की भौतिक खोजों से पूर्ण विविध विषयक रचनाओ ने ही इस कोटि के साहित्य को कलेवर प्रदान किया है।

(४) सूत्र साहित्य—गभीर सिद्धान्तों की सूक्ष्माति सूक्ष्म अभिव्यक्ति ही 'सूत्र साहित्य' कही जाती है। सस्कृत में अनेक सूत्र ग्रथ उपलब्ध हैं।

(५) कृत साहित्य—इस कोटि के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जिनका नामकरण उनमें विवेचित विषय के आधार पर किया जाता है।

(६) व्याख्यान साहित्य—व्याख्याप्रधान साहित्य इसी कोटि में रखा गया है। व्याख्याएँ और टीकाएँ सब इसी के अन्तर्गत आती हैं।

साहित्य का यह विभाजन बडा ही वैज्ञानिक और मौलिक है। आज भी हम सारे ससार के साहित्य को छ विभागो के अन्तर्गत समेट सकते हैं।

---

१ इडिया रोज़ नोन टु पाणिनि—वासुदेवशरण अग्रवाल; पृ० ३१६।

: २ :

कला-विवेचन

कला का स्वरूप-निरूपण

कला के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानो और पाश्चात्य विद्वानो में थोडा मतभेद है। दोनो के कला सम्बन्धी दृष्टिकोणो को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यहाँ पर उनके मतो की अलग-अलग समीक्षा करें।

संस्कृत में कला का विवेचन—सस्कृत साहित्य में ज्ञान का विभाजन दो भागों में किया गया—विद्या और उपविद्या। विद्या के अन्तर्गत काव्य को रक्खा गया है। कलाएं उपविद्या के अन्तर्गत मानी गई हैं। सस्कृत के विद्वान साहित्य या काव्य को कला से भिन्न समझते थे, यह वात भर्तृहरि के इस श्लोक से पूर्णतया प्रगट होती है—

'साहित्य सगीत कला विहीन सक्षात् पशु पुन्छ विषाण हीनः'

यहाँ पर यह विचारणीय है कि प्राचीन विद्वानो ने काव्य और कला के बीच यह विभाजन-रेखा क्यो खीची है। वास्तव में दोनो में क्या अन्तर है ? इस वात को स्पष्ट करने के लिए हमें दण्डी के कला सम्बन्धी मत पर विचार करना पडेगा। दण्डी ने कला को 'नृत्य गीत प्रभृतय. कला कामार्थ सश्रया' कहकर कलाओ का साहित्य से स्पष्ट भेद स्थापित किया है। उसकी दृष्टि में कला 'कामार्थ सश्रय' (काम के उद्दीपन में सहायक) होती है। किन्तु साहित्य कोरा 'कामार्थ सश्रया' किसी प्रकार नही माना जा सकता। साहित्य या काव्य के सम्बन्ध में हमारे यहाँ वहुत ऊँची धारणाएँ थी। उसे हमारे यहाँ के मनीषी आत्मा की कला मानते थे। आत्मा 'कामार्य सश्रय रूपिणी' न होकर 'रसोवैस.' रूपिणी है। अतएव साहित्य या काव्य भी ऐसा ही हुआ। अधिक स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि भारत में कला वास्तव में एक लौकिक रञ्जन की वस्तु मात्र समझी जाती थी। इसके विपरीत साहित्य आत्मा की अभिव्यक्ति या कला होने के कारण अलौकिक समझा जाता था। मम्मट ने इसीलिए उसके प्राणरूप रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। कला में यह वात नही होती। कला का आनन्द वहुत कुछ स्थूल और वाह्य कहा जा सकता है। उसमें चमत्कारमूलक क्षणिक अव-सादन, और प्रसादन की प्रधानता रहती है। सम्भवतः इसीलिए भारत में कला का लक्ष्य किसी वस्तु के प्राण को वल प्रदान करना नही वरन् उसके स्वरूप को सँवारना-मात्र समझा जाता था। क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिणी' में इसीलिए कला को वस्तु के रूप को सँवारने वाली विशेषता कहा है। 'कलयति स्वरूप आवेशयति वस्तूनिवा' अर्थात् कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलकृत करती है। इस प्रकार स्पष्ट

है कि भारतीय दृष्टि से कला साहित्य की अपेक्षा थोडी हेय वस्तु है। इसीलिए चौंसठ कलाओ के अन्तर्गत काव्य को स्थान न देकर केवल समस्या-पूर्ति को ही कला कहा गया है। समस्या-पूर्ति का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक हृदय से कम होता है। इससे यह प्रगट होता है कि भारतीय विद्वान कला का सम्बन्ध विशेषकर बुद्धि से और साहित्य का सम्बन्ध हृदय तथा आत्मा से मानते थे।

भारतीय विद्वान कला को केवल साहित्य से ही भिन्न नही मानते थे उनकी दृष्टि में वह ज्ञान, शिल्प और विद्या से भी भिन्न वस्तु है। भरत मुनि ने यही बात 'न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला' लिखकर ध्वनित की है। अभिनव-गुप्त ने तो कला को और भी सकुचित रूप दे दिया है। नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त पक्ति का विवेचन करते समय उसने कला का स्पष्टीकरण 'कला गीतवाद्यादिका' अर्थात् कला गाने-बजाने आदि को कहते हैं, लिखकर किया है। इससे प्रगट होता है कि भारत में कला शब्द का प्रयोग 'Fine Arts' के लिए भी होता था। जो भी हो कला का यह अर्थ थोडा सकुचित प्रतीत होता है।

भामह ने कला के सम्बन्ध में एक दूसरे ढग से विचार किया है। उसने काव्य के चार विभाग किए हैं—

१ देवचरितशसि,
२ उत्पाद्य,
३ कलाश्रय और
४ शास्त्राश्रय।

भामहकृत काव्य के इस चतुर्विभाग से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि व कला को काव्य से भिन्न मानता था, दूसरी यह कि कला सम्बन्धी बातें काव्य क विषय भी बन सकती थी।

सस्कृत शैवागमो में कला का विवेचन बिल्कुल दूसरे प्रकार से ही किया गय है। उसमें छत्तीस तत्त्वो को मान्यता दी गई है। इन छत्तीस तत्त्वो में से कला भी ए है। वहाँ पर उसका अर्थ एक सकुचित कर्तृत्व शक्ति से लिया गया है। इस प्रका हम देखते हैं सस्कृत साहित्य में कला का विवेचन दो क्षेत्रो में हुआ है—एक का क्षेत्र में और दूसरे दर्शन क्षेत्र में, दोनो क्षेत्रों में इसका प्रयोग बडे सकुचित अर्थ किया गया है।

✓ **कला के सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र का मत**—श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अप 'Personality' नामक पुस्तक के 'What is Art' शीर्षक लेख में कला पर अच्छ विचार किया है। यह विवेचन बहुत कुछ पाश्चात्य विद्वानो के कला सम्बन्ध दृष्टिकोणो से प्रभावित प्रतीत होता है। उन्होने ज्ञान के दो पक्ष माने हैं— एक कला और दूसरा विज्ञान। इन दोनो के भेद को स्पष्ट करते हुए उन्हों लिखा है—"In art man reveals himself and not his object H objects have their place in books of information and science अर्थात् कला में मनुष्य वाह्य वस्तुओं की नही स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है

उसके वाह्य विषयो का वर्णन सूचनाप्रधान ग्रन्थो में तथा विज्ञान के ग्रन्थो में किया जाता है। उपर्युक्त पक्तियो से स्पष्ट है कि कवीन्द्रकला में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को विशेप महत्त्व देते थे। अपने इसी निवन्ध में एक स्थल पर उन्होने भावात्मक शक्तियो का मूलाधार सृजनात्मक शक्तियो को माना है। सम्भवतः इसीलिए उन्होने कला में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर बहुत अधिक वल दिया है। वे लिखते हैं—"The principal object of art also being the expression of personality and not of that which is abstract and analytical." अर्थात् कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है न कि सूक्ष्म और विश्लेषणप्रधान वस्तुओ की विवेचना करना। अपने इस निवन्ध में उन्होने कला सम्बन्धी एक प्रचलित वाद का खडन भी किया है। कुछ लोग कला का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-विधान समझते हैं। किन्तु उनकी दृष्टि में सौन्दर्य-विधान कला का एक साधन मात्र है साध्य नही। उन्होने स्पष्ट लिखा है—"This has lead to a confusion in our thought that the object of art is the production of beauty whereas beauty in art has been a mere instrument and not its ultimate and complete significance" अर्थात् इस वात ने कि कला का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-विधान मात्र है वडा भ्रम पैदा कर दिया है। वास्तव में सौन्दर्य-विधान कला का एक साधन मात्र है साध्य नही। किन्तु उनके इस विवेचन से यह नही समझना चाहिए कि वे कला में सौन्दर्य को विशेप महत्त्व ही नही देते थे। उनकी दृष्टि में सत्य और सौन्दर्य दोनो की ही प्रतिष्ठा कला में आवश्यक होती है। इसी निवन्ध में इन्होने लिखा है—"This building of man's true world, the living world of truth and beauty, is the function of art." अर्थात् कला का कार्य मानव के लिए सत्य और सौन्दर्य की एक सजीव सृष्टि करना होता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र के उपर्युक्त मत की समीक्षा करने पर प्रगट हो जाता है कि वह मौलिक होते हुए भी पाश्चात्य कला सम्बन्धी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित है। सच तो यह है कि उन्होंने पाश्चात्य दृष्टिकोण को भारतीय विचारधारा के साँचे में ढालकर एक अभिनव और मौलिक रूप दे दिया है।

कला के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानो के विचार—पाश्चात्य विद्वानो ने कला के सम्बन्ध में वडे विस्तार से विचार किया है। यहाँ पर हम कुछ प्रसिद्ध विद्वानो की सम्मतियो पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। इन विद्वानो में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

✓ रस्किन—रस्किन ने कला के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—"All great art is the expression of man's great delight in God's work and not his own" अर्थात् प्रत्येक महान् कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है। उसे हम अपनी कृतिजनित आह्लाद की अभिव्यक्ति नही मान सकते। रस्किन की इस परिभाषा में दो-तीन वातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली वात है अभिव्यक्ति वाली। वह कला को अभिव्यञ्जना मानता था। यह अभिव्यञ्जना मानव अनु-

है कि भारतीय दृष्टि से कला साहित्य की अपेक्षा थोडी हेय वस्तु है। इसीलिए चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत काव्य को स्थान न देकर केवल समस्या-पूर्ति को ही कला कहा गया है। समस्या-पूर्ति का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक हृदय से कम होता है। इससे यह प्रगट होता है कि भारतीय विद्वान कला का सम्बन्ध विशेषकर बुद्धि से और साहित्य का सम्बन्ध हृदय तथा आत्मा से मानते थे।

भारतीय विद्वान कला को केवल साहित्य से ही भिन्न नहीं मानते थे उनकी दृष्टि में वह ज्ञान, शिल्प और विद्या से भी भिन्न वस्तु है। भरत मुनि ने यही बात 'न तत्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला' लिखकर ध्वनित की है। अभिनव-गुप्त ने तो कला को और भी सकुचित रूप दे दिया है। नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त पक्ति का विवेचन करते समय उसने कला का स्पष्टीकरण 'कला गीतवाद्यादिका' अर्थात् कला गाने-वजाने आदि को कहते हैं, लिखकर किया है। इससे प्रगट होता है कि भारत में कला शब्द का प्रयोग 'Fine Arts' के लिए भी होता था। जो भी हो कला का यह अर्थ थोडा सकुचित प्रतीत होता है।

भामह ने कला के सम्बन्ध में एक दूसरे ढग से विचार किया है। उसने काव्य के चार विभाग किए हैं—

१ देवचरितशसि,
२ उत्पाद्य,
३. कलाश्रय और
४ शास्त्राश्रय।

भामहकृत काव्य के इस चतुर्विभाग से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि वह कला को काव्य से भिन्न मानता था, दूसरी यह कि कला सम्बन्धी बातें काव्य का विपय भी वन सकती थी।

सस्कृत शैवागमो में कला का विवेचन बिल्कुल दूसरे प्रकार से ही किया गया है। उसमें छत्तीस तत्त्वो को मान्यता दी गई है। इन छत्तीस तत्त्वों में से कला भी एक है। वहाँ पर उसका अर्थ एक सकुचित कर्तृत्व शक्ति से लिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं सस्कृत साहित्य में कला का विवेचन दो क्षेत्रो में हुआ है—एक काम क्षेत्र में और दूसरे दर्शन क्षेत्र में, दोनों क्षेत्रो में इसका प्रयोग वडे सकुचित अर्थ में किया गया है।

✓ कला के सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र का मत—श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी 'Personality' नामक पुस्तक के 'What is Art' शीर्षक लेख में कला पर अच्छा विचार किया है। यह विवेचन वहुत कुछ पाश्चात्य विद्वानो के कला सम्बन्धी दृष्टिकोणों से प्रभावित प्रतीत होता है। उन्होंने ज्ञान के दो पक्ष माने हैं—एक कला और दूसरा विज्ञान। इन दोनो के भेद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"In art man reveals himself and not his object His objects have their place in books of information and science" अर्थात् कला में मनुष्य वाह्य वस्तुओ की नही स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है।

उसके वाह्य विषयो का वर्णन सूचनाप्रधान ग्रन्थो में तथा विज्ञान के ग्रन्थो में किया जाता है। उपर्युक्त पंक्तियो से स्पष्ट है कि कवीन्द्रकला में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व देते थे। अपने इसी निवन्ध में एक स्थल पर उन्होंने भावात्मक शक्तियों का मूलाधार सृजनात्मक शक्तियो को माना है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने कला में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर वहुत अधिक वल दिया है। वे लिखते हैं—"The principal object of art also being the expression of personality and not of that which is abstract and analytical." अर्थात् कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है न कि सूक्ष्म और विश्लेषणप्रधान वस्तुओ की विवेचना करना। अपने इस निवन्ध में उन्होंने कला सम्वन्धी एक प्रचलित वाद का खडन भी किया है। कुछ लोग कला का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-विधान समझते है। किन्तु उनकी दृष्टि में सौन्दर्य-विधान कला का एक साधन मात्र है साध्य नही। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"This has lead to a confusion in our thought that the object of art is the production of beauty whereas beauty in art has been a mere instrument and not its ultimate and complete significance" अर्थात् इस वात ने कि कला का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-विधान मात्र है वड़ा भ्रम पैदा कर दिया है। वास्तव में सौन्दर्य-विधान कला का एक साधन मात्र है साध्य नही। किन्तु उनके इस विवेचन से यह नही समझना चाहिए कि वे कला में सौन्दर्य को विशेष महत्त्व ही नही देते थे। उनकी दृष्टि में सत्य और सौन्दर्य दोनो की ही प्रतिष्ठा कला में आवश्यक होती है। इसी निवन्ध में इन्होंने लिखा है—"This building of man's true world, the living world of truth and beauty, is the function of art." अर्थात् कला का कार्य मानव के लिए सत्य और सौन्दर्य की एक सजीव सृष्टि करना होता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र के उपर्युक्त मत की समीक्षा करने पर प्रगट हो जाता है कि वह मौलिक होते हुए भी पाश्चात्य कला सम्वन्धी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित है। सच तो यह है कि उन्होंने पाश्चात्य दृष्टिकोण को भारतीय विचारधारा के साँचे में ढालकर एक अभिनव और मौलिक रूप दे दिया है।

कला के सम्वन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों के विचार—पाश्चात्य विद्वानो ने कला के सम्वन्ध में वडे विस्तार से विचार किया है। यहाँ पर हम कुछ प्रसिद्ध विद्वानो की सम्मतियो पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। इन विद्वानो में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

✓ रस्किन—रस्किन ने कला के सम्वन्ध में इस प्रकार लिखा है—"All great art is the expression of man's great delight in God's work and not his own" अर्थात् प्रत्येक महान् कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है। उसे हम अपनी कृतिजनित आह्लाद की अभिव्यक्ति नही मान सकते। रस्किन की इस परिभाषा में दो-तीन वातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली वात है अभिव्यक्ति वाली। वह कला को अभिव्यञ्जना मानता था। यह अभिव्यञ्जना मानव अनु-

भूतिमूलक आह्लाद की होती है। इससे प्रकट होता है कि कला को रस्किन आनन्दरूप भी मानता था। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि उसने मानव-कृति को उतना महत्त्व नही दिया है जितना ईश्वरीय कृति को। दूसरे शब्दो में हम यो कह सकते हैं कि रस्किन के मतानुसार कला प्रकृति के सम्पर्क से उद्भूत मानव-हृदय में उत्पन्न होने वाले आनन्द की अभिव्यक्ति है।

✓ गोये—गोथे ने कला के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—"The highest problem of any art is to cause by appearance the illusion of a higher reality" अर्थात् किसी भी कला की सबसे बडी समस्या यह रहती है कि वह किस प्रकार महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करे। गोथे की परिभाषा पर विचार करने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अनुसार कला वास्तव में सत्य की सजीव और साकार प्रतिकृति होती है। सत्य के अन्तर्गत प्रकृति और पुरुष दोनो ही आवेंगे। इस दृष्टि से कला को हम पुरुष और प्रकृति की मानव विरचित प्रतिकृति कह सकते हैं। इस मत के अनुसार कला सत्य की छाया ठहरती है सत्य नही।

शोपेनहार—शोपेनहार ने कला के स्वरूप का विवेचन तो नही किया है किन्तु उसकी मूल प्रेरणाओ और उत्पत्ति की ओर सकेत अवश्य किया है। उसका कहना है उपयोगी कला का जन्म आवश्यकता के कारण होता है। वह मानव-बुद्धि की उत्पत्ति होती है। ललित कलाओं का जन्म विलास और वैभव के कारण होता है। उसकी जन्मदायिनी प्रवृत्ति प्रतिभा कही जा सकती है। शोपेनहार ने इस प्रकार कला को बहुत कुछ बुद्धिमूलक सृष्टि ही मान लिया है। उसके मत से ऐसा आभास होता है कि कला में हृदय तत्त्व की मात्रा अधिक नही होती।

फ्रायड—फ्रायड ने कला को भी सैक्स या वासना के दृष्टिकोण से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उसके मतानुसार कला हृदय की दवी हुई वासनाओ का पर्युत्थान या उभरा हुआ रूप है। फ्रायड का मत बहुत प्रभावात्मक प्रतीत न होते हुए भी किसी अश में सत्य है। जिन बातों को हम अपने दैनिक जीवन में सकोच के कारण व्यक्त नही कर पाते हैं उन्हे हम कला में नि सकोच व्यक्त कर देते हैं।

✓ डान्ते—डान्ते ने कला को प्रकृति की प्रतिकृति ध्वनित करने की चेष्टा की है उसका कहना है कि कला प्रकृति का उसी प्रकार अनुकरण करती है जिस प्रकार शिष्य अपने गुरु का। जब तक उसमें प्रकृति के इस अनुकरण की वृत्ति पाई जाती है तब तक वह ऐसी प्रतीत होती है मानो कि ईश्वरागत वस्तु हो।

✓ श्लेगल—श्लेगल ने कला के रूप पर तो विशेष विचार नही किया है किन्तु उसने कला में पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया है। उसका कहना है—"All higher arts of divine are essentially chaste" अर्थात् सभी महान् और दिव्य कलाएं अवश्य ही पवित्र होती हैं।

जेम्स—जेम्स ने कला के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट विचार प्रकट किए हैं। उसके मतानुसार कला केवल कृति की बिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रतिकृति ही नही बल्कि उससे कुछ ऊँची वस्तु है। सच्चा कलाकार अपनी कलाकृति प्रकृति के रूप को ज्यो का त्यो व्यक्त

करते हुए भी प्रकृति के अन्तर्जगत् में प्रवेश कर उसके प्रच्छन्न सौन्दर्य की अनुभूति कर उसकी प्रतिष्ठा भी करता है।

✓माइकेल एञ्जिलो—माइकेल एञ्जिलो ने कला के सम्बन्ध में लिखा है—"The true work of art is but a shadow of divine perfection." अर्थात् सच्ची कलाकृति दिव्यपूर्णता की प्रतिकृति होती है। माइकेल एञ्जिलो का मत भी बहुत कुछ जेम्स साहब के मत से मिलता-जुलता है।

टॉल्सटॉय—टॉल्सटॉय ने 'What is Art' नामक एक सुन्दर पुस्तक लिखी है उसमें उन्होने कला सम्बन्धी विविध प्रचलित मतो की सम्यक् समीक्षा की है पुनश्च उन्होने अपना मत प्रतिपादित किया है[1]—उनके मतानुसार कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठी हुई भावनाओ की अनुभूति को क्रिया रेखा, वर्ण ध्वनि, शब्द आदि के सहारे दूसरे के हृदय तक पहुँचा देना ही है। कला के स्वरूप को टॉल्सटॉय ने विधि-निषेधो के सहारे आगे और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है। यहाँ पर उस पक्ष को उद्धृत कर देना अनुचित न होगा—

"कला जैसा कि अध्यात्मवादी कहते हैं, ईश्वर या सौन्दर्य के किसी रहस्यपूर्ण भाव की अभिव्यक्ति नही है, वह तत्त्व-वेत्ताओ के कथनानुरूप अपने एकत्रीभूत ओज के वाहुल्य का उपभोग कराने वाली क्रीडा भी नही है तथा उसे हम आनन्द भी नही कह सकते। वास्तव में उसका कार्य मनुष्यो को एक ही भाव में परस्पर वाँधना है तथा व्यक्ति और मानव की हित-कामना करना है।"[2]

चार्ल्स विलियम—"भाव के हृदययोग में कला की स्थिति है।" सक्षेप में चार्ल्स विलियम का कला के सम्बन्ध में यही मत है।

✓ अरस्तू—अरस्तू की पोइटिक्स में कला का प्रत्यक्ष नाम तो नही दिया गया है किन्तु काव्य, नाटक, वेणुवादन, तन्त्रीनाद आदि को अनुकरण कहा गया है।[3]

---

१. "To evoke in ourself a feeling one has once experienced and having looked it in oneself, then, by means of movements, line, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that is the activity of art"—Tolstoy 'What is art'.

२ "Art is not, as the metaphysicians say, the manifestation of same mysterious idea of Beauty or God, it is not, as the aesthetical physiologists say, a game in which man lets off his excess of stored up energy, it is not the expression of man's emotions by external signs It is not, the pleasures but it is a means of union among men, joining them together in the same feellings, and indispensable for the life and progress towards well-being of individuals and of humanity"

३ "Epic poetry, comedy, as far the most part the music of

क्लाइबवेल—क्लाइबवेल नामक विद्वान् ने कला का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"कलाकार या कलाविदों का काम दर्शकों के मन में विशिष्ट भावना को जगा देना है।"

प्लेटो—प्लेटो ने प्रतीक व्यञ्जना को कला माना है। उन्होंने कला को केवल प्रतिकृति स्थापना मात्र नहीं माना है। वे उसे प्रकृति का विम्ब-प्रतिविम्ब मानते थे।

प्लोटिनस—प्लोटिनस ने लिखा है कि कला जड प्रकृति से ऊँची वस्तु होती है। उन्होने बताया कि प्रकृति दिव्य विचारो की जड अभिव्यञ्जना है। कला प्रकृति की अनुकृति है सही किन्तु उस अनुकृति में एक विशेषता होती है।

कुछ अन्य पाश्चात्य विचारक

स्लाइल क्रिसपस लीवजिज, वामागार्टन आदि विद्वानो ने भी कला को अनुकरण-प्रधान ही सिद्ध करने की चेष्टा की है।

इटालियन विद्वान पेगानो के मतानुसार कला प्रकृति के बिखरे हुए सौन्दर्य का चयन मात्र है।

चान्से (Schanase)—इस विद्वान ने सबसे प्रथम यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि कला प्रकृति की अनुकृतिमात्र नही है। वास्तव में कला में वह विशेषता होती है जो प्रकृति में नही मिलती।

टकवेल—टकवेल ने अपने 'Religion and Reality' नामक ग्रथ में लिखा है—"जिस प्रकार ब्रह्म की आत्मा का व्यक्तीकरण ही यह विश्व है उसी प्रकार कला-विद की आत्मा का व्यक्तीकरण तथा उसकी मूर्ति ही उसका कार्य है।

पारकर—पारकर नामक विद्वान् ने अपने 'The Analysis of the Art' नामक पुस्तक में कला को इच्छा का काल्पनिक व्यक्तीकरण माना है।

क्रोचे के कला सम्बन्धी विचार

कला के सम्बन्ध में क्रोचे के विचार बड़ा महत्त्व रखते हैं। क्रोचे अभिव्यञ्जनावादी विद्वान् था। उसका कला सम्बन्धी सिद्धान्त अभिव्यञ्जना पर ही आधारित है। वह अभिव्यञ्जना को ही सौन्दर्य मानता था। सौन्दर्य कला का प्राण है अतएव उसके कला सम्बन्धी विचारों को समझने के लिए उसके अभिव्यञ्जना के सिद्धान्त को समझ लेना आवश्यक है। क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में मन को ही मूल सत्ता स्वीकार किया गया है। उनका दर्शन इसीलिए मन का दर्शन कहलाता है। उसके मतानुसार मन एक व्यापार रूप है। इसी मन को उसने परोक्ष सत्ता के रूप में भी ध्वनित करने की चेष्टा की है। इस मनः-व्यापार के उसने स्थूल रूप से दो भेद माने हैं—

१. ज्ञान या प्रज्ञा—यह मन का सैद्धान्तिक पक्ष है।

---

the flute and of the lyre, all these are, in the most general view of them, imitation."

२ क्रिया । सकलज्ञान—यह मन का व्यावहारिक पक्ष है। इस ज्ञान के भी क्रोचे ने दो पक्ष माने हैं—

(क) कलात्मक ज्ञान या स्वय प्रकाशज्ञान—यह ज्ञान मूर्तियो के माध्यम से प्रकट होता है। कला का सम्बन्ध इसी से है।

(ख) तार्किक ज्ञान या प्रमा—इसका सम्बन्ध तर्क और दर्शन से है।

कलात्मक ज्ञान—कलात्मक ज्ञान व्यष्टिमूलक और स्वतन्त्र होता है। यह व्यक्त जगत की नाना वस्तुओ की छाया से प्रभावित रहता है। उन्ही नाना वस्तुओ की इस कलात्मक ज्ञान के साँचे में ढलकर निकली हुई अभिनव मूर्तिमयी अभिव्यक्ति को अभिव्यञ्जना कहते हैं। क्रोचे अभिव्यञ्जना को उसके जनक मन के समान अमूर्त और सूक्ष्म मानता है। यही कारण है कि वह उसकी अभिव्यक्ति शब्दों में या चित्रो में आवश्यक नही ठहराता। उसके मतानुसार कलात्मक ज्ञान को कुछ अग्रेजी में इन्ट्यूशन भी कहते हैं। बहुत से लोग इन्ट्यूशन और अभिव्यञ्जना को एक ही मान लेते हैं। इसी आधार पर बहुत से लोग अभिव्यञ्जना को वह साँचा मानते हैं जिसमें ढलकर कलात्मक ज्ञान अमूर्त्त से मूर्त्त कला का रूप प्राप्त करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रोचे के मतानुसार मूर्त्त तथा अमूर्त्त अभिव्यञ्जना ही कला है।

पाश्चात्य विद्वानो के कला सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करने पर निम्नलिखित बातें दिखाई पडती हैं—

१. कला अभिव्यञ्जना का ही मूर्त्त रूप है।
२ कला में दिव्यता भी रहनी चाहिए।
३ कला सत्य की सजीव और स्वाभाविक अनुकृति है।

यह अनुकृति बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की न होकर प्रभावप्रधान होती है। अतएव कला में कभी-कभी वे बातें भी व्यञ्जित की जाती हैं जो उसकी सत्य प्रकृति से स्वतः स्पष्ट नही होती। किन्तु फिर भी उनसे उनकी व्यञ्जना होती है। कलाकार उस व्यञ्जना को अपनी कृति में अधिक मूर्त्त रूप देना चाहता है।

कला के सम्बन्ध मे हिन्दी विद्वानो के मत

रामचन्द्र शुक्ल—शुक्ल जी के मतानुसार एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना यही कला का रहस्य होता है। —काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १०४

शुक्ल जी की उपर्युक्त कला सम्बन्धी परिभाषा से भी प्रकट होता है कि वे अभिव्यञ्जना तथा उसकी प्रेषणीयता को कला मानते थे।

✓ **गुप्तजी का कला सम्बन्धी मत**—गुप्त जी ने साकेत के पचम सर्ग में एक स्थल पर कला की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला"

उपर्युक्त पक्ति के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है कि गुप्त जी अभिव्यञ्जना को ही कला मानते थे।

✓ गाधी जी—गाधी जी के मतानुसार कला आत्मा का ईश्वरीय सगीत है। वे उसकी आध्यात्मिकर्ता में विशेष विश्वास करते थे। उनका दृष्टिकोण बिल्कुल वही है जो भारतीय मनीषियो का काव्य के सम्बन्ध में है।

समस्त मतो की आलोचना और निष्कर्ष

कला सम्बन्धी सस्कृत आचार्यों, पाश्चात्य पण्डितो तथा हिन्दी विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओ से कई बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं।

१. सस्कृत आचार्यों का कला सम्बन्धी दृष्टिकोण पाश्चात्य पण्डितो और हिन्दी के विद्वानो के मत से सर्वथा भिन्न है। यह बात प्रसाद जी ने निम्नलिखित अवतरण में स्पष्ट रूप से स्वीकार की है—

"हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ। 'काव्यमीमासा' से पता चलता है कि भारत के दो प्रचलित महानगरो में दो तरह की परीक्षाएँ अलग-अलग थी। काव्यकार परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओ की उपविद्या में। कलाओ का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है उसमें सगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओ के साथ-साथ समस्या पूरण भी एक कला है, किन्तु वह समस्या-पूर्ति कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारो में लिया जाता है वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नही।"

—काव्य और कला

२. पाश्चात्य तथा हिन्दी के अधिकाश विद्वान् कला को अभिव्यक्ति मानते हैं। केवल अन्तर अभिव्यक्ति के उपादान और स्वरूप में हैं। बहुत से विद्वान् आत्मभाव की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। कुछ दूसरे विद्वान् स्वय प्रकाश ज्ञान की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। एक वर्ग ऐसा भी है कि सत्य के अनभिव्यक्त रूप की अभिव्यक्ति को कला कहता है। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि अधिकाश विद्वान् कला को अभिव्यञ्जना मानने के पक्ष में ही हैं। अतएव हम अभिव्यञ्जना और कला पर स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे।

कला के सम्बन्ध में एक तीसरी बात भो ध्यान देने योग्य है। विद्वानो का एक वर्ग है जो उसे केवल अनुकरणमात्र मानता है। इस अनुकरण के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ उसे प्रकृति की अनुकृति मानते हैं और कुछ उसे कल्पनामूलक अनुकरण सिद्ध करते हैं। प्रकृतिमूलक अनुकरणवादी यथार्थवादी होते हैं और कल्पनामूलक अनुकरणवादी आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। हमारी समझ में कला अनुकृति है किन्तु यह अनुकृति न तो प्रतिकृति ही कही जा सकती है और न प्रतिविम्ब ही। वह प्रतिकृति और प्रतिविम्ब होते हुए भी अभिनव होती है। यह नूतनता कवि की प्रतिभा के द्वारा लाई जाती है। इसी को कवि कलाकार की मौलिकता कहेगे। कोई भी प्रतिकृति तभी कला कही जा सकेगी जब उसमें एक अनिर्वचनीय मौलिकता होगी। इस अनिर्वचनीय मौलिकता से ही वह कला रूप नवीन प्रतीत होता है। यह नवीनता ही पाठकों या दर्शको में आनन्द या

आह्लाद का सचार करती है । इसी दृष्टि से कला को हम अनुकृति मान सकते हैं । कला को प्रकृति की जड अनुकृति मानने वालो के हम पक्षपाती नही हैं क्योकि जब तक कला में नवीनता नही होगी तब तक उसमें सौन्दर्य नही होगा । जब तक उसमें सौन्दर्य नही होगा तब तक वह जड रहेगी । सजीव कला तो वास्तव में अनुभूत सौन्दर्य की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति होती है ।

कला सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना है

सौन्दर्यानुभूति और आनन्द—भारतीय साहित्य का लक्ष्य आध्यात्मिक और दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति करना है । हम कई बार सकेत कर चुके हैं कि साहित्य या काव्य की मूल जननी तन्मयता की भावना है। यह तन्मयता सौन्दर्यानुभूति में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है । जिस तन्मयता का सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति से होगा वही आनन्दमय अभिव्यक्ति और विधान में समर्थ हो सकेगी । यह आनन्दमय अभिव्यक्ति एकपक्षीय नही होती उसमें बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ आन्तरिक सौन्दर्य भी निहित रहता है । कला का लक्ष्य इन्ही बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य को अधिक से अधिक सजीव रूप में व्यक्त करना होता है । वास्तव में कला को अभिव्यञ्जना मानने वालो में भी जो भेद दिखाई पडता है उसका कारण उसकी एकपक्षता है । कुछ लोग केवल बाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को ही कला मान बैठते हैं। ऐसे ही लोग उसे प्रकृति की अनुकृति कहते हैं । इसके विपरीत कुछ दूसरे आदर्शवादी विद्वान् कला को अध्यात्म की अभिव्यक्ति मानते हैं । वास्तव में कला बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक सौन्दर्य दोनो की अधिक से अधिक सजीव अभिव्यक्ति कही जा सकती है ।

ऊपर हमने कला को सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कहा है । इस सौन्दर्य के भी दो पक्ष माने हैं—बाह्य और आन्तरिक अथवा लौकिक और आध्यात्मिक । अब हम यहाँ पर सौन्दर्य के सम्बन्ध में कुछ दूसरे विद्वानो की सम्मतियो पर विचार कर लेना चाहते हैं।

जर्मन महाकवि गेटे ने एक स्थल पर लिखा है—"सौन्दर्य को समझना कठिन है। वह तरल भगुर भासात्मक छाया-सा कुछ है ।" इतना लिखते हुए भी वह सौन्दर्य की व्याख्या करने के लोभ सवरण नही कर सका । उसने लिखा है—"A creation is beautiful when it has reached at the height of its natural development" अर्थात् वही रचना सुन्दर हो जाती है जो अपने स्वाभाविक विकास की पराकाष्ठा पर होती है ।

अरस्तू ने सौन्दर्य को सत्य और शिव से पृथक् नही माना है । शिक्षा और उपदेश को वह सौन्दर्य का एक प्रयोजन रूप मानता है । यह बात उसकी निम्नलिखित पक्ति से प्रकट है—"I saw her shining there in the company of with the celestial" अर्थात् मैंने सुन्दरता को दिव्यता के साथ प्रकाशित होते देखा है। प्लेटो ने दो प्रकार का सुख माना है—शुद्ध और अशुद्ध । शुद्ध सुख रूपात्मक सौन्दर्य से प्राप्त होता है जिसका प्रयोजन भौतिक नही आध्यात्मिक होता है । ऐसा सौन्दर्य ही प्लेटो के विचार से सत्य और मगल का प्रतिष्ठापक है ।

प्लेटो के समान ही हीगेल सौन्दर्य में आध्यात्मिकता की छाया देखता था। सौन्दर्य की परिभाषा उसने इस प्रकार दी है—"Beauty is the spiritual making itself known sensuasly"—अर्थात् सौन्दर्य आध्यात्मिकता का भावात्मक प्रकाशन है।

शेफ्टसबरी ने सौन्दर्य में आध्यात्मिकता को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उसकी दृष्टि में ईश्वर और सौन्दर्य में कोई भेद ही नही रह गया। उसने स्पष्ट लिखा है—

"Beauty and God are one and the same"

क्रीट नामक विद्वान् ने सौन्दर्य को भाव की अभिव्यक्ति माना है। उसने लिखा है—

"All beauty is the experession of what may be generally called emotion."

कीट्स ने सौन्दर्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"A thing of beauty is a joy for ever"—अर्थात् शाश्वत आनन्द का विधान करने वाली वस्तु ही सौन्दर्य है। कीट्स ने सत्य और सौन्दर्य को एक कहा है—"beauty is truth and truth is beauty"

ह्यूम ने सौन्दर्य की परिभाषा तो कहीं नही दी है किन्तु एक स्थल पर इतना अवश्य लिखा है कि सौन्दर्य वस्तुओ का स्वभाव-सजात गुण नही है। उसका अस्तित्व चिन्ता करने वाले चित्त में ही होता है।

आत्मानन्द के उद्दीप्त होने पर वाह्य पदार्थों के माध्यम से कल्पना के सहारे जो रचना करता है उसी को बर्क ने सौन्दर्य-सृष्टि कहा है। वह सौन्दर्य-सृष्टि के लिए वाह्यानुभव और आन्तरिक आनन्द दोनो के उद्बोधन को आवश्यक मानता है।

वोसाके ने अपने 'History of aesthetic' में यह बताने की चेष्टा की है कि जब वस्तु धर्म कल्पना से समन्वित होकर प्रकाशित होता है, तभी वह सुन्दर होता है। कैंट ने सौन्दर्य को एकचित्तावस्थामात्र माना है। कोई भी वाह्य रूप जब हमारी एक विशिष्ट अन्तश्चेतना के वशवर्ती होकर उसी विशिष्ट आकार में ढलकर प्रकट होती है उसी को कैंट ने सौन्दर्य कहा है। वामागार्टन ने कहा है, वाह्य वस्तु का सामञ्जस्य सुन्दर नहीं होता है। वह इस प्रकार आभ्यातरिक सौन्दर्य को भाषा द्वारा प्रकट करने में असमर्थ समझता है।

भारतीय विद्वानो के सौन्दर्य सम्बन्धी मत

कालिदास—कालिदास ने भी रूप में पवित्रता को विशेष महत्व दिया है। कुमारसम्भव के पचम सर्ग में उन्होने स्पष्ट लिखा है कि रूप कभी भी विकार का कारण नही होता। 'शकुन्तला' में भी एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि रम्य दृश्य या मधुर शब्द सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कठित होता है, क्योकि निश्चय ही वह जन्म जन्मान्तर के सौहार्द को अनजान में स्मरण करता है। सौन्दर्य हमारे अन्तर के किसी न किसी आदर्श को पूर्ण करता है।[1]

---

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखिनोऽपि जन्तुः॥

पडितराज जगन्नाथ—पडितराज जगन्नाथ ने सौन्दर्य या रमणीयता का रूप-निर्देश करते हुए लिखा है—

"रमणीयता च लोकोत्तराह्लदात् ज्ञानगोचरता" अर्थात् अलौकिक आनन्द का ज्ञान-गोचर होना ही रमणीयता है ।

भारवि—भारवि ने प्रतिपल विकसित होने वाले रूप को ही सौन्दर्य की सज्ञा दी है—उनकी "क्षणे क्षणे यन्नवता उपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः' वाली पक्ति से कौन नहीं परिचित है ।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ का मत—कवीन्द्र रवीन्द्र सौन्दर्य को केवल रूपप्रधान ही नही मानते थे उसमें वे शिव-तत्त्व की प्रतिष्ठा अपेक्षित समझते थे । उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—"सौन्दर्य की मूर्ति ही मगल की पूर्ण मूर्ति है, और मगल की मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है ।"

अजित चक्रवर्ती—यह सौन्दर्य की असीमता को महान् कहते हैं । जब कोई वस्तु सीमित रहती है और अच्छी लगती है तब वह सुन्दर कहलाती है किन्तु वही जब पूर्ण होकर विश्वव्यापी और असीम हो जाती है तब महान् कहलाती है ।

हिन्दी विद्वानो के सौन्दर्य सम्बन्धी मत

हिन्दी विद्वानो और कवियो ने सौन्दर्य की कही भी अलग से स्वतन्त्र व्याख्या नही की है । फिर भी सौदर्य-प्रेमी कवियो में सौन्दर्य की अज्ञात रूप से व्याख्या हो ही गई ।

विद्यापति—विद्यापति ने रूप को अनिर्वचनीय और नित्य नवीन माना है । उसकी इस पक्ति से यही बात प्रगट होती है । "जनम जनम हम रूप निहारल तदपि न तिरपित भेलरे ।'

जायसी—जायसी सौन्दर्य या रूप में आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा मानते थे । इस आध्यात्मिक आनन्द की सबसे प्रधान विशेषता आह्लाद प्रदान करना है । इस रूप के प्रभाव से ज्ञानोदय होता है और अज्ञान का अन्धकार विदीर्ण हो जाता है । इनका यह भाव निम्नलिखित पक्तियो से स्पष्ट हो जाता है—

"देखिमान सर रूप सुहावा । हिय हुलास पुरइन हुई छावा ॥
गा अँधियार रैनमसि छूटी । भामिनसार किरन रवि फूटी ॥
अस्ति अस्ति सब साथी बोले । अन्ध जो अहै नैन विधि खोले ॥"

बिहारी—भारवि के समान बिहारी भी सौन्दर्य की नित्य-नवीनता में विश्वास करते थे । निम्नलिखित दोहे में उन्होने सौन्दर्य की इसी विशेषता की ओर संकेत किया है—

"लिखन बैठि जाकी सबी गही गही जख गरूर ।
भए किते न जगत के चतुर चितेरे क्रूर ॥"

तच्चेतसा स्मरति नूनम् अबोधपूर्वं ।
भावस्थिरानि जन्मान्तर सौहृदानि" —शकुन्तला

जयशकर प्रसाद—प्रसाद जी सौन्दर्य की अवस्थिति समरसता में मानते थे। कामायनी के अंतिम पद से उनका यह दृष्टिकोण स्पष्ट प्रकट है—

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था।"

सब मतो की आलोचना और निष्कर्ष

सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त मतो की आलोचना करने पर प्रतीत होता है कि अधिकाश विद्वान् सौन्दर्य के आध्यात्मिक पक्ष में विश्वास करते हैं। इसका कारण सम्भवत यह है कि विद्वान् लोग प्राय सात्विक प्रवृत्ति के और आदर्शवादी होते हैं। इसीलिए उन्होने सौन्दर्य के अध्यात्म पक्ष पर बहुत अधिक जोर दिया है। वास्तव में सच्चा सौन्दर्य तभी आता है जब वाह्य और आतरिक सौन्दर्यों का सुन्दर सामञ्जस्य हो। कुछ रसिक विद्वानो और कवियो ने सौन्दर्य के वाह्य पक्ष पर जोर देने की चेष्टा की है। किन्तु सौन्दर्य का वाह्य पक्ष बहुत स्थूल और क्षणिक कहा जा सकता है। यदि हम वाह्य पक्ष को महत्त्व देना ही चाहे तो उसकी स्थूलता और क्षणिकता दूर कर उसमें नित्य नवीनता और शाश्वतता प्रतिष्ठित करनी पडेगी। ऐसा करने से सौन्दर्य वाह्य होते हुए भी आध्यात्मिक प्रतीत होगा। वास्तव में सच्चा सौन्दर्य भी वही होता है जिसमें वाह्य और आन्तरिक के सामञ्जस्य-विधान की चेष्टा देखी जाती है। इसीलिए हमें विद्यापति का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। उनकी अतृप्ति वाली बात से सौन्दर्य की आनन्द विधायिनी प्रवृत्ति भी प्रकट होती है। सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक बहुत बडा विवाद और प्रचलित है। कुछ लोग इसे केवल विषयीप्रधान (Subjective) मानते हैं और कुछ लोग इसे विषयप्रधान सिद्ध करते हैं। सब्जेक्टिव (विषयीप्रधान) मानने वालो का कहना है कि सौन्दर्य व्यक्ति की आत्मगत अनुभूति है। वाह्य जगत से उसका कुछ सबध नही होता। एक असुन्दर वस्तु भी उसे प्रिय लग सकती है। इस मत से हम बहुत सहमत नही हैं। इतना तो हम भी स्वीकार कर सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के मूल में कुछ सस्कार काम करते हैं किंतु हम यह नही कह सकते कि वे ही इसके एकमात्र उत्तरदायी हैं। हमारी धारणा यह है कि सौन्दर्यानुभूति बहुत कुछ देश काल और सौन्दर्य के मानदण्ड के अनुरूप रूप को देखकर स्वत. ही होने लगती है। इस दृष्टि से भी यही स्पष्ट होता है कि सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप आन्तरिक और वाह्य के सामञ्जस्य में ही निहित रहता है। सौन्दर्य का स्वरूप चाहे जैसा भी माना जाए किन्तु इतनी बात निर्विवाद है कि उससे हमें आनन्द की उपलब्धि होगी। इसी आनन्द की अभिव्यक्ति करना कला का लक्ष्य है। इसलिए हम अनुभूत सौन्दर्य के सजीव पुनर्विधान को ही कला कहेंगे। यह पुनर्विधान की प्रक्रिया ही अभिव्यञ्जना कही जाती है।

हम ऊपर वतला चुके हैं कि सच्चे सौन्दर्य में आन्तरिक और वाह्य का सुन्दर सामञ्जस्य पाया जाता है। इसी आधार पर विद्वान् लोग कला का वर्गीकरण भी करते

हैं। जिन कलाओं में आन्तरिक सौन्दर्य की ही सच्ची अभिव्यञ्जना पाई जाती है वे कलाएं सूक्ष्म कलाएं कही जा सकती हैं। इसके विपरीत जिन कलाओं में स्थूल सौन्दर्य की ही प्रधानता होती है वे कलाएं स्थूल कहलाती हैं।

हमने अनुभूति सौन्दर्य के पुनर्विधान को ही कला कहा है। यों तो सौन्दर्यलिप्सा और सौन्दर्यानुभूति की प्रवृत्तियां मानवमात्र में पाई जाती हैं किन्तु कलाकार की सौन्दर्यानुभूति दूसरे प्रकार की होती है। कलाकार का सहृदय होना नितान्त आवश्यक होता है। इस बात को प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। प्लेटो ने लिखा है कि कलागत आनन्द के अधिकारी सस्कृत और शिक्षासम्पन्न व्यक्ति ही होते हैं। हमारे यहां दण्डी और आनन्दवर्धनाचार्य आदि ने भी कलाकार के सहृदयत्व पर बहुत जोर दिया है। इससे यह प्रकट होता है कि कलाकार की सौन्दर्यानुभूति साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और ऊंची होती है। कला में, वास्तव में, ऐसी ही सौन्दर्यानुभूति का पुनर्विधान पाया जाता है। उससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कला से जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह आनन्द साधारण लौकिक व्यक्तियों के आनन्द से भिन्न होता है। कलाकार और कला-प्रशसक दोनों ही सामान्य मानव से थोड़ा ऊंचे होते हैं। इनमें से यदि प्रथम ऐसा न हुआ तो कला निकृष्ट कोटि की होगी और दूसरा ऐसा न हुआ तो कला के सौन्दर्य की उसे अनुभूति ही न होगी। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति और उसका पुनर्विधान दोनों ही सामान्य स्थिति से नहीं किये जा सकते। इस दृष्टि से हम कला को सामान्य व्यञ्जना नहीं कह सकते। वास्तव में कला मानव की उदात्त सौन्दर्यानुभूति का उदात्त पुनर्विधान है। यही कारण है कि कला के स्वरूप का जितना सम्यक् विकास हमें शिक्षित और सुसभ्य जातियों में दिखाई पड़ता है उतना असभ्य और पशुवृत्ति जातियों में नहीं।

हमारी अपनी धारणा है कि जब कलाकार सौन्दर्य का स्वयं अनुभव करता है तब उसकी अनुभूति में बाह्य बातों का प्रभाव अधिक रहता है किन्तु जब उस सौन्दर्य का वह पुनर्विधान करता है तो उसमें उसकी आत्मा भी बिखर पड़ती है। तभी लोक का साधारण-सा सौन्दर्य भी कला रूप में असाधारण-सा लगने लगता है। उसमें एक विचित्र अनिर्वचनीय आकर्षण-सा आ जाता है। आनन्दवर्धन ने महाकवि की वाणी में जिस अनिर्वचनीय सौन्दर्य की अवस्थिति का उल्लेख किया है[1]। उसका कारण आध्यात्मिक ही है। जब किसी भी कला में कलाकार की आत्मा प्रतिष्ठित हो जाती है तभी उसमें अनिर्वचनीयता, शाश्वतता, पवित्रता, सजीवता आदि का समावेश हो जाता है। क्योंकि आत्मा में ये सभी गुण पाए जाते हैं। कला रूप में उनकी ही अभिव्यञ्जना होती है। सम्भवत: यही कारण है कि बहुत से विद्वान् कला को आत्मा के सदृश अखण्ड भी मानते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो कला को आध्यात्मिक वस्तु मात्र समझते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है, कला अनुभूत सौन्दर्य की एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्ञ्जना है।

---

१. "प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्तुस्ति वाणीषु महाकवीनां,
एतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।"—ध्वन्यालोक

कला और जीवन

कला जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन के सौन्दर्यात्मक और आनन्दात्मक पक्ष का उद्‌घाटन कला द्वारा ही होता है। किन्तु कुछ विद्वानो ने कला को वाह्य जगत् और जीवन से पूर्ण तटस्थ मानकर उसे अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति माना है। कला विषयक यह दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानो में ब्रैडले का कला सम्बन्धी यह कथन उल्लेखनीय है—

"Its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world, but a world in itself, independent, complete, autonomous" अर्थात् कला की प्रवृत्ति इस दृश्यमान जगत् के किसी अग का प्रदर्शन करना या उसकी अनुकृति उपस्थित करना नही है बल्कि इससे भिन्न एक पूर्ण स्वतन्त्र सृष्टि का विधान करना है। क्लाइववेल ने भी इसी प्रकार कहा है—"To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions" अर्थात् किसी कला-कृति का मूल्याकन करने के लिए हमें जीवन से कुछ भी प्राप्त करना नही होता। जीवन के ज्ञान, उसके भावों, विचारो और कार्यों की कोई आवश्यकता नही पडती।

जीवन से कला की यह तटस्थता किसी प्रकार भी सम्भव नही। कला के इस स्वय विधायक पक्ष के अतिरिक्त उसका एक उपयोगी पक्ष भी है जो जीवन से उसका दृढ़ सम्बन्ध स्थिर करता है। कला के सम्बन्ध में स्वान्त सुखाय की भावना ' केवल विषय-निर्वाचन और प्रतिपादन-शैली तक ही सत्य हो सकती है। उसका विषय जीवन और समाज ही होता है। पाश्चात्य देशों में कला के सैद्धान्तिक पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। उसका सम्पर्क मानसिक वृत्तियो से अधिक माना गया है। क्रोचे ने मानसिक अभिव्यक्ति को ही कला माना है। भारत में कला के इस सैद्धान्तिक पक्ष का अभाव-सा है। यहाँ पर उसके व्यावहारिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि से यहाँ चौंसठ कलाएँ मानी गई हैं।

कला के उदय और विकास का सम्बन्ध जीवन से ही है। उसका उद्देश्य जीवन की व्याख्या करना ही नही है बल्कि जीवन के आदर्श को भी स्थिर करना है। यथार्थ और आदर्श के सम्मिश्रण से श्रेष्ठ कला का जन्म होता है। एक विद्वान् ने कला के लिए कहा है—"The presentation of the real in its mental aspect" अर्थात् कला वास्तविकता का मानसिक दृष्टिकोण द्वारा प्रदर्शन है। दैनिक सत्य आदर्शात्मक रूप धारण कर कला के रूप में व्यक्त होता है। कला द्वारा इस आदर्शीकरण की भावना गुप्त जी ने भी व्यक्त की है—

"हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा—
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा,
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।"

सस्कृति और ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ कल्पना का भी विकास होता है। मानव की परिष्कृत रुचि-कला का रूप धारण करती है। इसकी अभिव्यक्ति मानव-जीवन को पशु जीवन से भिन्न कर देती है। सौन्दर्य-बोध मानव का स्वाभाविक गुण है। इसी प्रवृत्ति के द्वारा वह सुन्दरतम वस्तुओ का निर्माण करता है। कुशल कलाकार असुन्दर वस्तु में भी सुन्दर के दर्शन कर उसे कलात्मक रूप प्रदान करता है। कला और सौन्दर्य का सम्मिश्रण जीवन में नवीन आनन्द का विधान करता है।

प्रकृति और कला का घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रकृति का अनन्त स्वरूप सदैव ही मानव का सहचर रहा है। भावुक कवि अपनी अनन्त भावनाओ से प्रकृति में साम्य देखता है। अत. वह अपनी भावना को प्रकृति के आधार पर स्पष्ट करने के लिए कला का आश्रय लेता है। उसकी कर्त्तृत्व शक्ति कला के रूप में प्रगट होती है। कलाकार की कुशलता अपनी सृष्टि को स्वाभाविक बनाने में ही है जिससे वह जीवन के निकट आ सके।

कला द्वारा कलाकार अपनी अव्यक्त भावनाओ को व्यक्त करता है। वह मानवीय भावनाओ की द्योतक है। इसके द्वारा आत्मगत भावो की तुष्टि होती है जो मानसिक शान्ति प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त विश्व-सम्बन्ध के प्रतीक रूप में भी कला का विकास हुआ है। मनुष्य एक दूसरे के जीवन से जिन अनुभूतियो का अनुभव करता है उन्हें कला द्वारा व्यक्त करता है। उसे हम विश्व सम्बन्ध की अभिव्यक्ति कह सकते हैं।

कला-जीवन की अस्त-व्यस्तता और अन्यमनस्कता में व्यवस्था स्थापित करती है। जीवन के सुख-दुखपूर्ण द्वन्द्वो में एक अनुपात स्थिर करने की क्षमता रखती है। सुख के क्षणों में कला का आश्रय पाकर कोई भी व्यक्ति मादकता और अनुपम रस में मग्न हो जाता है और दुख के क्षणो में कला का आश्रय लेकर अपने व्यथित और तप्त हृदय को शीतलता प्रदान करता है। प्रसाद के नाटक स्कन्दगुप्त में देवसेना की सगीतप्रियता में इसी तथ्य के दर्शन होते हैं।

कलाकार का व्यक्तित्व वाह्य जगत् और अन्तर्जगत दोनो की सत्ताओ से युक्त होता है। अत उसकी कलाकृति के भी दो पक्ष होते हैं—एक आत्मिक और दूसरा वाह्य। हम कला को एकपक्षीय नही कह सकते। दोनो पक्षो के अपने स्वतन्त्र क्षेत्र होते हैं। यद्यपि कला में कलाकार की आत्म-चेतना की ही प्रमुखता रहती है पर जीवन और जगत् से उसको विच्छिन्न नही किया जा सकता। वास्तव में उसकी आत्मिक चेतना और प्रतिभा जीवन और जगत् का ससर्ग पाकर ही विकसित होती है और स्वाभाविक और जनसम्वेद्य रूप धारण करती है। कलाकार की सफलता अपनी कृति को 'हृदय सम्वादि' रूप प्रदान करने में ही है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सब की भावनाएं कलाकार की अपनी भावनाएं बन जाएं।

अत कला अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी जीवन से सम्बन्धित है। इसी सम्बन्ध को लेकर योरोप में 'कला-जीवन के लिए' वाला वाद उठ खडा हुआ। आगे हम इस वाद पर विस्तार से विचार करेंगे। इस प्रसग में वह भी पठनीय है।

कला के लक्ष्य या प्रयोजन के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानो के मत

अधिकाश पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार आनन्दविधान ही कला का प्रधान लक्ष्य होता है। इसके लिए उन्होने Pleasure, delight, joy, happiness आदि शब्दो का प्रयोग किया है। किसी ने कला का लक्ष्य 'Supreme happiness' माना है, किसी ने 'Joy for ever' को ही उसकी कसौटी ठहराया है, कोई 'Pure and elevated pleasure' को ही उसका लक्ष्य मानता है। एरिस्टोटिल ने तो एक ही स्थान पर इसी प्रकार के कई शब्दो का प्रयोग किया है। वह लिखता है—"The object of poetry as of all the fine arts is to produce an emotional delight a pure and elevated pleasure" इसके आगे वे फिर लिखते हैं—"It is a moment of joy complete in itself and belongs to the ideal sphere of supreme happiness" कला के प्रयोजन रूप इस आनन्द के लिए अरस्तू ने उपर्युक्त शब्दो के अतिरिक्त "A sane and wholesome pleasure, noble emotional satisfaction, refined pleasure" आदि अभिधान भी दिए हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक वर्गशाँ का मत भी अरस्तू से कुछ मिलता-जुलता है। उसके मतानुसार कला का लक्ष्य हमें एक ऐसी विशुद्ध मानसिक स्थिति में ले जाना है जहाँ हम भावानुभूति की जैसी तैसी ही अनुभूति कर सकें।

पाश्चात्य साहित्य में कला के लक्ष्य या प्रयोजन को लेकर बहुत से वाद उठ खड़े हुए हैं। सक्षेप में प्रसिद्ध वाद इस प्रकार हैं—

१ कला कला के अर्थ।
२. कला जीवन के लिए।
३ कला जीवन से पलायन के अर्थ।
४ कला जीवन में प्रवेश के लिए।
५ कला सेवा के अर्थ।
६. कला आत्मानुभूति अर्थ।
७ कला आनन्द के अर्थ।
८ कला विनोद के अर्थ।
९. कला सृजन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के अर्थ।

इन समस्त वादो में कला कला के लिए और कला जीवन के लिए वाले वाद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

कला की प्रेरणाओ और प्रयोजन के सम्बन्ध मे भारतीय मत

भारतीय विद्वानो ने कला की प्रेरणाओ और प्रयोजनों पर स्वतन्त्र रूप से शायद ही कहीं विस्तार से विचार किया हो। सस्कृत आचार्यों ने साहित्य की जिन प्रेरणाओ का उल्लेख अपने ग्रन्थो में किया है उन्ही को हम कला की प्रेरणाएँ और प्रयोजन मान सकते हैं, क्योकि आज जिस अर्थ में हम कला का प्रयोग करते हैं, उनमें साहित्य

का सबसे ऊँचा स्थान है।

उपनिषद् ग्रन्थ—उपनिषदो में आत्म-प्रेम की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई है। इस आत्म-प्रेम की अभिव्यक्ति वृहदारण्यकोपनिषद् के इन वाक्यो से झलकती है—

'स होवाच न वा अरे पत्यु कामाय पति. प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति।'

कुछ आचार्य इस आत्म-प्रेम को ही कला का मूल मानते हैं।

काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ—सस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजनो के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से विचार किया गया है। मम्मट आदि आचार्यों ने आनन्द को ही काव्य या कला का प्रयोजन ध्वनित करने की चेष्टा की है। जहाँ पर उन्होने काव्यससृति की चर्चा की है वहाँ उसकी विशेपता में उन्होने 'ह्लादकमयी' शब्द का प्रयोग किया है। इससे काव्य या कला की आनन्दरूपता प्रकट होती है। दूसरे स्थल पर उन्होने और स्पष्ट रूप से काव्य या कला के प्रयोजन के रूप में आनन्द के महत्त्व की ओर सकेत किया है।

"सकल प्रयोजन मौलिभूत समन्तरमेव रसास्वादनसमद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्" एक दूसरे स्थल पर भी निम्नलिखित शब्दों से यही बात फिर व्यञ्जित की गई है—

"सकलकरण परविश्राम श्री वितरण न सरसकाव्यस्य
दृश्यतेऽय्वानिशम्यते सदृशमशाशमात्रेण।"

इसी प्रकार वक्रोक्ति जीवितकार ने भी लिखा है—

"चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।"

आचार्य रुद्रट ने काव्य या कला से सभी मनोभिलापाओ की सिद्धि स्वीकार की है—

"अर्थ मनर्थोपशम शमसममथवा मत यदेवास्य
विरचित रुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कवि।"

इसी प्रकार भामह ने काव्य या कला को अर्थ, धर्म तथा काम और मोक्ष तक का साधन माना है।

"धर्मार्थकाममोक्षाणा वैचक्षण्यं कलासु च
प्रीतिं करोति कीर्ति च साधुकाव्यनिबन्धनम्।"

इसी प्रकार अन्य काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में काव्य के विविध लक्ष्यो की ओर सकेत किया गया है। इनमें से काव्य का एक प्रधान लक्ष्य होता है यश-प्राप्ति। मम्मट ने तो इसे 'काव्य यशसे' कहकर इसे सबसे पहले स्थान दिया है। विल्हण ने अपने विक्रमाकदेव चरित में निम्नलिखित शब्दों में इसी बात को स्पष्ट किया है—

"महीपते· सन्ति न यस्य पार्श्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशासि
भूपा कियन्तो न बभूवरुर्व्या
नामापि जानाति न कोऽपि तेपाम्"

काव्य का एक प्रयोजन "कान्तासम्मितयोपदेशयुजे" भी माना गया है। यद्यपि इसे हम काव्य का प्रधान लक्ष्य नही मान सकते किन्तु कभी-कभी काव्य में इसका बडा महत्त्व होता है। वक्रोक्ति जीवितकार ने निम्नलिखित शब्दो में काव्य के इसी लक्ष्य की ओर सकेत किया है—

"कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्
आल्हाद्यमृतकाव्यमविवेकगदापहम्　　।"

इसी प्रकार भामह ने भी लिखा है—

"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्र शास्त्रमप्युपयुञ्जते
प्रथमालीढमधव.　पिवन्ति कटुभेषजम्।"

इन लक्ष्यो के अतिरिक्त भी कला के और भी बहुत से प्रयोजन हुआ करते हैं—एक प्रयोजन स्वान्त सुख भी कहा जाता है। तुलसीदास की कलाकृति बहुत कुछ इसी लक्ष्य को लेकर रची गई थी—

"स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।"

कभी-कभी कला का हेतु प्रभु या गुरुप्रसाद भी हुआ करता है। तुलसी, जायसी आदि की रचनाएँ इस हेतु को लेकर भी रची गई थी—तुलसी ने स्पष्ट लिखा है—

"राम प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥"

इसी प्रकार जायसी ने भी लिखा है—

"भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे लिए मिरइ जहँ सैयद राजे।
ओहि सेवत मैं पाई करनी उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी॥"

कला के उपर्युक्त प्रयोजनो के अतिरिक्त मम्मट ने धन-प्राप्ति, व्यवहारकुशलता, कल्याण विधान आदि भी काव्य के प्रमुख लक्ष्य माने हैं। वास्तव में यह सभी कला के लक्ष्य हो सकते हैं। ताजमहल जैसी कृति के कलाकारो का मूल लक्ष्य अर्थ ही रहा होगा। रीतिकालीन कविता का उदय बहुत कुछ अर्थ-लोभ के कारण हुआ था। मम्मट ने धावकादि कवियों की कलाकृतियो का प्रयोजन अर्थ ही बतलाया है।

यद्यपि बहुत से लोग कला का नीति से सम्बन्ध नही मानते है किन्तु हमारी अपनी धारणा है कि ससार की कोई कलाकृति नही हो सकती जिसमें नीति-भावना किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त नही हुई हो। नीति से विरहित कला हमारी समझ में कला न रहकर मानव की उच्छृ खलता कहलाई जाएगी। नीति कला में एक विचित्र प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है जिससे वह इस लोक के लिए इस लोक की वस्तु बनकर इस लोक में प्रतिष्ठित हो जाती है। कुछ लोग तो कला में नीति को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि वे उसे उसकी सर्जना का मूल लक्ष्य मान बैठते हैं। ऐसे ही लोग 'व्यवहारविदे' वाले प्रयोजन के अनुयायी होते हैं। नीति की प्रतिष्ठा से कला मानव को व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने लगती है। सस्कृत में पचतत्र और हितोपदेश नामक रचनाएँ काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण मानी जा सकती हैं। इन कलाकृतियो का महत्त्व इतने से ही समझ लेना चाहिए कि बाइबिल के बाद पचतत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका रूपान्तर ससार

की अनेक भाषाओ में हो चुका है। पचतन्त्र की रचना महिलारोप्य के मूर्ख राजकुमारो को व्यवहारकुशल वनाने के लिए ही की गई थी ।

कला जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण जीवन से अलग नही की जा सकती। जीवन से अलग कर देने पर उसका महत्त्व क्षीण हो जाता है। जीवन में सत्य और सुन्दर के साथ-साथ शिव का भी वहुत वडा महत्त्व है। श्रेष्ठ कला का लक्ष्य इसी शिव की योजना करना होना चाहिए। वहुत से लोग तो शिव की योजना या कल्याण विधान को काव्य का प्रवान लक्ष्य मानते हैं। सस्कृत की 'साविद्याया विमुक्तये' वाली उक्ति इसी भाव को व्यक्त करती है। अतएव प्रगट है कि काव्य का एक प्रधान लक्ष्य कल्याण विधान भी हो सकता है।

विविध कलाएँ और उनका वर्गीकरण

हम ऊपर वतला चुके हैं कि कला सम्वन्धी भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य देशो की कला सम्वन्धी धारणा से वहुत भिन्न है। भारत में कला के विविध विभेद वतलाए गए हैं। उनके अध्ययन से पता चलता है कि कला सम्वन्धी भारतीय दृष्टिकोण थोडा सकुचित था। भामह ने कला को 'कामाश्रय सश्रिता.' कहकर और भी स्पष्ट कर दिया है। प्राचीन भारत की सस्कृति में अर्थ, धर्म और मोक्ष के साथ-साथ काम का भी ऊँचा स्थान था। नागरिक जीवन में इसीलिए सम्भवत कामाश्रया. कलाओ को वहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। 'कलाविलास' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रो में किसी न किसी कला को अनिवार्य-सा समझा जाता था। विविध कलाओ का विकास ही नागरिक जीवन का इतिहास था। नागरिक जीवन में विकसित होने वाली इन विविध कामाश्रया कलाओ के नाम और सख्या के सम्वन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ पर सक्षेप में हम उनका सकेत कर देना आवश्यक समझते हैं—

कामशास्त्र के ग्रन्थो में वात्स्यायन का कामसूत्र वहुत प्रसिद्ध है। वहुत से विद्वान इसका रचना-काल ६१७ ई० पू० मानते हैं। दूसरे विद्वानो का मत है कि इसकी रचना ३१२ ई० पू० में हुई थी। इस ग्रन्थ में ६ कलाओ का वर्णन है। इसी आवार पर भारत में चौंसठ कलाओ को मान्यता दी गई है। विविध साहित्य ग्रन्थो में इसी के आधार पर चौंसठ कलाओ का उल्लेख किया गया है। कामसूत्र तथा साहित्य ग्रन्थो में उपलब्ध कलाओ की सूची इस प्रकार है—

गीत, वाद्यं, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्य, तण्डुलकुसुमवलिविकारा, पुस्पास्तरण, दशनवसनाङ्गराग., मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यन्, उदकाघात, चित्राच्चयोगा, माल्यग्रन्थनम्, विकल्पा, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगा, कर्णपत्रमङ्गा, गन्धयुक्ति, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजाला, कौचुमाराश्चयोगा, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्माणि, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरुवाद्यकानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगा, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेत्रवानविकल्पा, तक्षकर्माणितक्षणम्, वास्तुवद्या, रूप्यरत्नपरीक्ष, धातुवाद, मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगा, मेषकुक्कुटप्ला-

वक्रयुद्धविधि, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादने सवाहने केशमर्दनेच कौशलम्, अक्षरमुष्टि काकथनम्, म्लेच्छितविकल्पाव्, देशभाषाविज्ञनम्, पुष्पशकटिका, त्रिमित्तज्ञानम्, यन्त्र-मातृका, धारणमातृका, साम्पाष्यम्, मानसीकाव्यक्रिया, अभिधानकोष, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्प, छलितकयोगा, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषा, आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनकानि, वैनयिकाना वैजयिकीना व्यायामिकीना चा विद्याना ज्ञानम्, इति चतुष्षष्ठिरङ्गविद्या-कामसूत्रस्यावयविन्द ।

कुछ अन्य ग्रन्थो में कलाओ की सख्या तो चौसठ ही दी हुई है किन्तु कामसूत्र में वर्णित चौसठ कलाओ में कही-कही परिवर्तन दिखाई पडता है। 'शुक्रनीति' में वर्णित चौसठ कलाएँ कामसूत्र में वर्णित कलाओ से थोडी भिन्न हैं।

कुछ अन्य ग्रन्थो में कलाओ की सख्या चौसठ से भी अधिक बढा दी गई है। 'प्रबन्धकोष' नामक ग्रन्थ में बहत्तर कलाओ का उल्लेख मिलता है 'ललित विस्तार' नामक बौद्ध ग्रन्थ में कलाओ की सख्या छयासी तक पहुँचा दी गई है। क्षेमेन्द्र ने सैकडो कलाओ के नाम गिनाए हैं। जिनमें चौसठ जनोपयोगी, चौसठ सुनार की, चौसठ वेश्या की आदि प्रमुख हैं। सबसे अधिक मान्य मत चौसठ कलाओ वाला ही है।

इन चौसठ कलाओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा भी प्रच-लित है। कहते हैं कि ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के पश्चात् सबसे प्रथम प्रजापति और ऋषि सम्भूत हुए। इनके बाद ब्रह्माजी ने सन्ध्या नामक एक कन्या की उत्पत्ति की। पुनश्च कामदेवता का जन्म हुआ। कामदेवता ने सबसे पहला आक्रमण ब्रह्माजी पर ही किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि वे सन्ध्या पर आसक्त हो गए। उन दोनो के सयोग से साहित्य के उनचास भाव और चौसठ कलाएँ उत्पन्न हुई। यह कथा 'कालिकापुराण' में दी हुई हैं। 'कालिकापुराण' बहुत प्राचीन ग्रन्थ नही है। इसलिए इस कथा को हम कोई साहित्यिक महत्त्व नही दे सकते।

शैवागमो में कला छत्तीस तत्त्वो में से एक तत्त्व मानी गई है। शैवदर्शन में चैतन्य के पाँच सहज-धर्म बतलाए गए हैं। वे क्रमश नित्यता, व्यापकता, पूर्णता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता हैं। जीवात्मा में उसके इस स्वरूप के पाँच प्रकाश माने गए हैं— काल, नियति, विद्या, राग और कला। यह पाँचो माया के आवरण माने जाते हैं। चैतन्य इन्ही से आवृत्त रहता है।

पाश्चात्य विद्वानो का कला सम्बन्धी दृष्टिकोण भारतीय कला सम्बन्धी दृष्टिकोण से भिन्न था इसीलिए उनका कला सम्बन्धी वर्गीकरण भी भारतीय वर्गीकरण से भिन्न है। पाश्चात्य देशो के भिन्न-भिन्न विद्वानो ने निम्नलिखित भिन्न-भिन्न रूपो में कला को वर्गीकृत करने की चेष्टा की है—

(क) विद्वानो का एक वर्ग कलाओ को निम्नलिखित दो भागो में बाँटता है—

१ Natural art—प्राकृतिक कला।

२ Art acquired by practice or knowledge—ज्ञान एव अभ्यास-गत कला।

(ख) कुछ दूसरे विद्वानो के मतानुसार कला के निम्नलिखित दो भेद माने गए हैं—

१ Popular art—सामान्य कलाएँ ।
२ Cultural art—सास्कृतिक कलाएँ ।

(ग) अधिकाश विद्वानो को कला के निम्नलिखित दो वर्गीकरण मान्य हैं ।
१ उपयोगी कला ।
२ ललित कला ।

(घ) हेगेल ने कलाओं के तीन भेद माने हैं—
१. प्रतीकात्मक ।
२. प्रवन्धात्मक ।
३ भावात्मक ।

हिन्दी के कुछ आधुनिक विद्वानो ने कलाओ का वर्गीकरण अपने ढंग पर करने की चेष्टा की है । उनमें नलिनीकान्त का मत उल्लेखनीय है, इन्होने 'साहित्यिका' नामक पुस्तक में कलाओ का वर्गीकरण वर्ण-व्यवस्था के रूप में किया है । उन्होने काव्य को ब्राह्मण, स्थापत्य और भाष्कर्य को क्षत्रिय, चित्त को वैश्य और सगीत को शूद्र कहा है ।

कुछ विद्वान कलाओं का वर्गीकरण सफल और असफल, पूर्ण या अपूर्ण भेद से भी करते हैं ।

विद्वानो के एक वर्ग ने कलाओ का वर्गीकरण उसके दो प्रवान पक्षो—अनुभूति और रूप के आधार पर किया है । इस दृष्टि से कलाओ के चार भेद किए जा सकते हैं—
१ अनुभूति की कमी पर रूप की विशेषता ।
२ अनुभूति की तीव्रता पर रूप की कमी ।
३. अनुभूति और रूप दोनो की न्यूनता ।
४. अनुभूति तथा रूप का समन्वय ।

उपर्युक्त प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त और भी कई प्रकार से भी कलाओ का वर्गीकरण किया जाता है । कुछ लोग प्राचीन कला तया आवुनिक कला नामक भेद करते हैं । जवकि कुछ लोग धार्मिक कला और लौकिक कला नामक श्रेणी विभाग करते हैं ।

कला को वर्गीकृत करने का प्रयत्न करने वाले इन विविध मतो के विरोध में क्रोचे का प्रसिद्ध मत भी उल्लेखनीय है । क्रोचे कला को अखड अभिव्यक्ति मानता है । उसके मतानुसार कलाओ को किसी भी प्रकार वर्गीकृत नही किया जा सकता । यह वात दूसरी है कि सुविधा के लिए व्यावहारिक दृष्टि से कलाओ के वाह्य भेद स्वीकार कर लिए जाएँ किन्तु तात्त्विक दृष्टि से कला अखड अभेद्य अभिव्यक्ति है । अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं । किन्तु इन भिन्न-भिन्न रूपो को हम अलग-अलग कला नहीं कहेगे । यह सभी रूप किसी न किसी प्रकार की अभिव्यक्ति हैं, अभिव्यक्ति का दूसरा नाम ही कला है अतएव यह प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न दिखलाई पडने पर भी अखड और एकरूप हैं ।

उपयोगी और ललित कलाएँ

ऊपर हम विविध विद्वानो द्वारा किए गए कलाओ के विदिव वर्गीकरणो का निर्देश

कर चुके हैं। इन समस्त वर्गीकरणो में ललित कलाओ और उपयोगी कलाओ वाला वर्गीकरण बहुत प्रसिद्ध और मान्य समझा जाता है अतएव हम उस पर विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। पाश्चात्य विद्वानो को यही वर्गीकरण सबसे अधिक मान्य है। जीवन में भी हम देखते हैं कि बहुत सी वस्तुएँ उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती हैं और बहुत सी सौन्दर्य की दृष्टि से। इसी आधार पर कलाएँ दो भागो में बाँटी गई हैं—उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ।

उपयोगी कलाएँ—कला के स्वरूप का विवेचन करते हुए हम बतला चुके हैं कि अनुभूत सौन्दर्य का पुर्नविधान ही कला है। मनुष्य ससार में बहुत सी वस्तुओ को देखता है। उनमें से कुछ वस्तुओ को वह अपने उपयोग के अनुरूप ढालने की चेष्टा करता है। उपयोगी कलाओ की जननी यही चेष्टा है। हम जब अनुभूत सौन्दर्य का पुनर्विधान अपने स्वार्थ और उपयोग को दृष्टि में रखकर करते है तभी उपयोगी कला का विकास होता है। मानव के स्वार्थों का न कोई स्वरूप है न सीमा ही। यही कारण है कि उपयोगी कलाओ का न तो कोई निश्चित स्वरूप ही है और न सीमा ही। जितने प्रकार से मानव अपने स्वार्थ के अनुरूप रूप-विधान कर सकता है उतने ही प्रकार की उपयोगी कलाएँ हो सकती हैं। इसीलिए इनके अन्तर्गत वे तमाम कारीगरी के कार्य आते हैं जिनका हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में उपयोग होता रहता है। कुम्हार की मिट्टी के बर्तन बनाने की कला से लेकर बडे-बडे हवाई जहाज बनाने तक की कलाएँ उपयोगी कलाओ के अन्तर्गत ही आवेंगी।

ललित कलाएँ—अनुभूत सौन्दर्य के जिस पुर्नविधान से हमारी आत्मा का विकास हो, हमारे मन का रजन हो, हमारी चेतना सजीव हो, वही ललित कला के नाम से अभिहित किया जा सकता है। ललित कला शब्द का प्रयोग सस्कृत के विशाल साहित्य में केवल रघुवश में ही एक स्थल पर 'ललिते कलाविधौ' वाक्याश में प्रयुक्त हुआ जान पडता है। इस सम्बन्ध में भी विद्वानो के दो मत हैं। कुछ लोग तो उपर्युक्त वाक्याश में ललित कला का सकेत नही पाते हैं, क्योकि समास की दृष्टि से यह ठीक नही है। इसके विपरीत दूसरे विद्वान् कहते हैं कि महाकवि ने इस स्थल पर ललित कला का सकेत किया है। हमारी दृष्टि में प्रथम मत ही अधिक समीचीन है। ललित कला वास्तव में पाश्चात्यो के 'फाइन आर्ट' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। पाश्चात्यो ने पाँच ही कलाएँ प्रमुख मानी हैं। उनके नाम क्रमश काव्य कला, सगीत कला, मूर्ति कला और वास्तु कला है। वर्सफील्ड नामक विद्वान् ने इन पाँच के अतिरिक्त नाट्य कला, नृत्यकला और व्याख्यान कला नाम की तीन कलाएँ अपने 'जजमेंट इन लिटरेचर' नामक ग्रन्थ में और परिगणित की हैं। हेगेल ने ललित कलाओ के स्थूल रूप से दो भेद किए हैं—मूर्त्त आधारवाली और अमूर्त्त आधारवाली। उसके मतानुसार चाक्षुप, प्रत्यक्ष तथा स्थूल भौतिक पदार्थो से प्रकट की जाने वाली कलाएँ मूर्त्त होती हैं। इसके विपरीत सूक्ष्म भौतिक पदार्थो के सहारे व्यक्त की जानेवाली कलाएँ अमूर्त्त कहलाती है। साहित्य का सम्बन्ध उपर्युक्त ललित कलाओ में से केवल काव्य कला से ही है। अतएव हम यहाँ उसी पर विचार करेंगे।

काव्य कला—भारतवर्ष में काव्य को कला से भिन्न समझा जाता था। भर्तृहरि ने 'साहित्य सगीत कला विहीनः' लिखकर यही बात ध्वनित की है। 'काव्यालकार' में भी कुछ ऐसी ही व्यजना मिलती है। उसमें कला को काव्य का ही एक अग माना गया है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यम् न सान्यायो न सा कला
जायते यन्नकाव्याङ्गमहोभार· महान् कवे"

कला सम्बन्धी ग्रथो में इसके विपरीत काव्य के कुछ अगों को भी कला के अतर्गत समेट लिया गया है। 'ललित विस्तर' नामक ग्रथ में छयासी कलाओं का उल्लेख है। इनमें काव्य से सम्बन्धित कलाएँ निम्नलिखित हैं—

१ काव्यलिपि।
२ काव्य व्याकरण।
३ ग्रथ रचित।
४ गीत पठित।
५ क्रिया कल्पः (काव्यालकार)।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में क्रियाकल्प और काव्य क्रिया इन्ही काव्य सम्बन्धी क्रियाओ का उल्लेख किया है। 'प्रबन्ध कोष' नामक सस्कृत ग्रन्थ में काव्य और लिखित नामक दो ही काव्य सम्बन्धी कलाओ का उल्लेख है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों ने काव्य को अपनी सम्पूर्णता में कला नही माना है। उसके कुछ अगो को ही वे कला के अन्तर्गत लेते हैं।

पाश्चात्य विद्वानो का मत भारतीय मत से भिन्न है। वे काव्य कला को एक प्रमुख कला मानते हैं। काव्य कला का आधार भाषा है। इसकी अनुभूति हमें चक्षु-इन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो के सहारे होती है। काव्य कला की सहायिका सगीत कला भी है। चित्र कला ने भी इसको अनुग्रहीत किया है। चित्र काव्य बहुत कुछ चित्रकला से ही सम्बन्धित रहता है। मूर्ति कला का भी प्रभाव इस पर दिखाई पडता है। मूर्त्त विधान करना या बिम्ब ग्रहण करना काव्य कला की प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार काव्य कला सभी कलाओ से समन्वित और प्रभावित प्रतीत होती है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है, इसीलिए काव्यालकार में भामह को कहना पडा था कि महाकवि की कविता में कोई भी ऐसा शब्द नही, जो उसका अगभूत बनकर उसमें समाविष्ट न हो। इसलिए काव्य कला अन्य कलाओ की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कला कला के लिए

कला कला के लिए (Art for art sake) वाले सिद्धात का जन्म उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में फ्रासीसी साहित्य में हुआ था। इसके प्रमुख प्रवर्तक आस्कर वाइल्ड माने जाते हैं। 'कला जीवन के लिए' वाले सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अनेक विद्वान् कला को जीवन से निरपेक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे। कला में नीति, सदाचार तथा मर्यादावाद को निषेधात्मक माना गया। अपने विरोध की पुष्टि में कलावादियो ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वर्ग का अपना

स्वतन्त्र उद्देश्य और कार्य-क्षेत्र होता है। जिस प्रकार विज्ञान, दर्शन, गणित आदि विद्यायें सौन्दर्य के मापदण्ड से नही नापी जा सकती उसी प्रकार कला को भी सत्य और नीति के वन्धन से वद्ध नही किया जा सकता। नीति को वे धर्म का विषय मानते हैं कला का नही। व्यवहार क्षेत्र या ज्ञान क्षेत्र में कला की कोई उपयोगिता नही। उसका सम्वन्ध भावना से है मनोभावनाओ की मनोमुग्धकारी सौन्दर्य प्रतिमा ही उसकी उपयोगिता है। सहृदयो में रस और आनन्द का सचार करना ही उसका उद्देश्य है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए इस मत के अनुयायी कला की स्वतन्त्र सत्ता वनाए रखना आवश्यक समझते हैं। 'निरकुशा हि कवय' वाली उक्ति के अनुसार वे भावनाओ की नग्न रूप में अभिव्यक्ति करने के पक्ष में हैं। यह वाद 'कला सृजन की अदम्य आवश्यकता' (Art as a creative necessity) वाले वाद से मिलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें उदात्त आन्तरिक प्रेरणाओं को महत्त्व दिया जाता है और कलावाद में वाह्य प्रेरणाओ के अभाव को। इस वाद के सम्वन्ध में व्यक्त किए गए कुछ पाश्चात्य विद्वानो के मतो का दिग्दर्शन इसके वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर देगा।

✓ आस्कर वाइल्ड—आस्कर वाइल्ड ने किसी भी कलाकृति के आलोचक का सर्वप्रथम गुण यह वतलाया है कि उसे यह ज्ञान हो कि कला और आचार क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं।

✓ जे० ई० स्पिनगर्न—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार ढूंढना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विवाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण"—(चिन्तामणि भाग २, काव्य में अभिव्यजनावाद)

✓ ब्रैडले (Dr Bradley)—ब्रैडले ने जीवन की सक्रियता के स्थान पर कला में मनोवृत्ति को ही महत्त्व दिया है। इन्होंने "Poetry for Poetry's sake" वाले लेख में कला पर नीति का नियन्त्रण आवश्यक नही माना है—"कला की प्रवृत्ति वाह्य जगत से साम्य स्थापित करने या उसकी अनुकृति उपस्थित करने की नहीं होती, उसका अपना एक स्वतन्त्र, पूर्ण और निरपेक्ष जगत होता है।"[१]

✓ कलागत सत्य जीवन के सत्य से भिन्न होता है। जोवर्ट (Joubert) नामक विद्वान् ने लिखा है—"The ordinary true or purely real cannot be the object of the arts Illusion on a ground of truth, that is the secret of the fine arts" अर्थात् व्यावहारिक और पूर्ण सत्य कला का विषय नही हो सकता। सत्यता की आधारभूमि पर कल्पना का आवरण ही प्रत्येक ललित कला का रहस्य है।

कला का यह सत्य उसे एकान्तिक और लोकवाह्य वना देता है। जीवन से कला को निरपेक्ष मानने वाले इसी सत्य की ओर सकेत करते है। वे कला को एक काल्पनिक

---

१ "Its nature is to be not a part nor yet a copy of the real world but a world in itself independent, complete autonomus"

—Oxford Lectures on Poetry

आदर्श जगत् की वस्तु समझते हैं जैसा कि बुल्वर (Bulwer) के इस कथन मे स्पष्ट है—

" ..The artist never seeks to represent positive truth, but the idealised image of a truth " अर्थात् कलाकार सत्य को व्यक्त करने का प्रयत्न नही करता बल्कि सत्य के आदर्श रूप का अन्वेषण कर व्यक्त करता है।

वास्तव में जीवन का आदर्श ही कला का सत्य हो जाता है। कला प्रत्यक्ष रूप से सत्य का चित्रण न करके उसके मगलकारी रूप को स्थिर करती है। गोथे (Gothe) ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

"The highest problem of every art is by means of appearances, to produce the illusion of a loftier reality " कला की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है रूपाकार के सहारे चिरन्तन सत्य का प्रतिबिम्बन करना।

कलावादी सत्य और शिव को कला में अधिक महत्त्व नही देते, वे कला का एक मात्र लक्ष्य प्रेम और सौन्दर्य की मादक अभिव्यक्ति ही मानते हैं—

बूचर ने लिखा है—

"Art employs method for the symmetrical formation of beauty .." अर्थात् कला सौन्दर्य का सतुलित रूप प्रस्तुत करने का प्रयास करती है।

सौदर्न्य और प्रेम की इस मादक अभिव्यञ्जना वाली धारणा ने कलागत सौन्दर्य को विकृत कर दिया। सौन्दर्य एक शुद्ध आध्यात्मिक तत्त्व है। किन्तु इस वाद के विकृत रूप ने सौन्दर्य के नैसर्गिक स्वरूप को विकृत कर उसे उच्छृखल भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र ही बना दिया, जिसके फलस्वरूप कला शृगार की सहचरणी बन गई। यही कारण है कि कला की 'स्वान्त. सुखाय' वाली भावना मान्य होते हुए भी विवाद का विषय बनी हुई है।

कला का भावना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसमें आत्मभाव की प्रधानता रहती है। कलाकृति में इन्हीं आन्तरिक भावनाओ की प्रतिच्छाया ही आवश्यक मानी गई है। डेलसेर्ट नामक विद्वान् ने ठीक लिखा है—

"The object of art is to crystallize emotion into thought and then fix it in form " (Delserte) अर्थात् कला का लक्ष्य भावो को विचारो में परिणत कर उन्हें ठोस रूप देना होता है।

कलाकार की भावना रूप ग्रहण करके आनन्दोपयोग की वस्तु हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और भावों के अनुसार उस कलाकृति का उपभोग करता है। क्विनटीलिन ने लिखा है—

/ "The learned understand the reason of art, the unlearned feel the pleasure." अर्थात् 'शिक्षित लोग कला की तार्किकता से लाभ उठाते हैं और अशिक्षित उससे आनन्द प्राप्त करके ही रह जाते हैं।' इस प्रकार स्पष्ट है कि कलाकृति का उपभोग सभी प्रकार के मनुष्य कर सकते हैं। अतएव वह एक एकान्तिक उपभोग की वस्तु नही कही जा सकती है।

'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त के सम्बन्ध में भारतीय मत—कला सम्बन्धी

विविध वाद-विवाद पाश्चात्य देशो की ही उपज हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य देशो के अनुकरण पर ही इन विभिन्न वादो पर विचार किया गया है। प्राचीन सस्कृत साहित्य में उपर्युक्त दोनो वादो पर कही भी प्रत्यक्ष रूप से शास्त्रार्थ नही मिलता है। किन्तु भारत में कला का विवेचन बहुत प्राचीन काल से होना आ रहा है। अत उसमें ज्ञात या अज्ञात रूप से दोनो मतो के खडन और मडन सम्बन्धी वाक्य मिल जाते हैं। यहाँ पर कुछ ऐसे कथनों का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा जो आधुनिक कला कला के लिए वाले सिद्धान्त से साम्य रखते हैं—

भारत में कला का लक्ष्य बहुत ऊँचा माना गया है। प्राचीन ऋषिगण कला को केवल जीवन और सम्भोग की ही वस्तु नही समझते थे बल्कि उनकी दृष्टि में कला का चरम लक्ष्य ब्रह्मानुभूति भी था। इस सम्बन्ध में सस्कृत का निम्नलिखित श्लोक दृष्टव्य है—

"विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥"

अर्थात् "कला का जो भोग रूप है वह बन्धनकारक है और जो परमानन्द प्राप्तिकारक रूप है वही यथार्थ कला है।" सस्कृत साहित्य के रीतिकाल में कलावाद का चरम विकास दिखाई पडता है। उसका समस्त काव्यशास्त्र, लघुत्रयी तथा वृहत्त्रयी आदि अनेक ग्रन्थ इसी सिद्धान्त से प्रेरित होकर लिखे गये प्रतीत होते हैं। आचार्यों ने काव्य या कला में अश्लीलत्व को दोष माना है किन्तु इसके विरुद्ध अनेक आचार्यों ने यह भी घोषणा की है कि सुकवि के संसर्ग से अनौचित्य भी औचित्य हो जाता है। इन आचार्यों को कलावादी ही कहा जाएगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का गहरा प्रभाव पडा है। बहुत से हिन्दी विद्वान् पाश्चात्य कला कला के लिए वाले सिद्धान्त का समर्थन करने लगे हैं। छायावादी कवि इसी सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते हैं। छायावादी कविताओ में पलायनवाद का समावेश इसी सिद्धान्त से प्रेरित होकर किया गया था। श्री इलाचन्द्र जोशी का यह कथन कला कला के लिए वाले सिद्धान्त की ओर ही सकेत करता है—

"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नही उसके अलौकिक मायाचक्र के से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य-देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" —साहित्य सर्जना, 'कला और नीति', पृ० १५

नाटककार प० उदयशकर भट्ट ने 'कुमारसम्भव' नामक नाटक में नीति पर कला की विजय दिखलाई है। स्वय देवी सरस्वती कलापक्ष का ही समर्थन करती हैं। यह पाश्चात्य कलावाद का ही प्रभाव प्रतीत होता है। कलावादी भावुक कवि जीवन की विषमताओं और सघर्षो से परास्त-सा हो जाता है। उसका करुणा-कलित हृदय किसी शान्त निर्जन स्थान की खोज करता है। प्रसाद की निम्नलिखित पक्तियों में किसी एकान्त कल्पना-लोक के प्रति उत्कठा दिखाई पडती है—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्चल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

—प्रसाद : 'लहर', पृ० १४

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में भी वहुत से साहित्यकार 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त के समर्थक और पोषक हैं। छायावादी कवि और छायावाद के पोषक आचार्य प्राय इसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

कला जीवन के लिए—साहित्य क्षेत्र में कला जीवन के लिए वाला सिद्धान्त भी कम प्रसिद्ध नही है। यद्यपि इस सिद्धात की सर्वाधिक प्रतिष्ठा भारत में ही रही है किन्तु साहित्यिक वाद के रूप में इसका प्रचार सर्वप्रथम पाश्चात्य देशो में ही हुआ था। पाश्चात्य विद्वान प्लेटो ने इस सिद्धान्त का वीजारोपण करते हुए लिखा है कि मानव समाज के नैतिक विकास का भार कवियो पर होता है। साहित्य कला के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए गोथे ने लिखा है कि साहित्य समस्त जगत् का मानवकृत रूप कहा जा सकता है। उसका यह कथन केवल साहित्य कला के लिए ही नही वरन् समस्त कलाओ के लिए सार्थक कहा जा सकता है। वास्तव में कलाकार सम्पूर्ण जगत् का मानवीकृत रूप ही अपनी कला में प्रतिविम्वित करता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने प्रेषणीयता को कला का प्रमुख तत्त्व वतलाकर जगत से उसका अविछिन्न सम्वन्ध स्थापित किया है। रस्किन ने लिखा है—"All that is good. In art is the expression of one soul talking to another" अर्थात् कला में जो सार तत्त्व होता है उसे एक आत्मा का दूसरी आत्मा के प्रति निवेदन कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रस्किन ने भी आत्मा को केवल कला का मनोरजन भाग ही नही माना है। चार्ल्स विलियम ने भी रस्किन से मिलता-जुलता ही मत निर्धारित किया है। उसने 'The English Poetic Mind' नामक रचना में कला को महत्त्व देते हुए लिखा है कि भावनाओं के प्रेषण में ही कला की स्थिति रहती है। प्रेषणीयता को कला का प्राण मान लेने पर उसका उपयोगितावादी दृष्टिकोण पूर्णतया प्रकट हो जाता है। हैमिल्टन नामक विद्वान ने अपनी 'Poetry and Contemplation' नामक रचना में कला का घनिष्ट लोकहित से सम्वन्ध माना है। उसने लिखा है—"An artist is one who through the imposition of form on his particular material creates for himself and potentially for others a unifyed contemplative experience highly objective in character." अर्थात् कलाकार वह है जो अपनी विशेष भावनाओ और अनुभूतियो को अपने आनन्द के लिए और साथ ही साथ सवके हित के लिए रूपाकार प्रदान करता है। उसकी यह कल्पना मिश्रित अनुभूति पूर्ण रूप से जन सवेद्य होती है। मैथ्यू आर्नल्ड नामक अंगरेज

: ३ :

काव्य

डा० श्यामसुन्दरदास ने साहित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—"भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का समष्टि सग्रह ही साहित्य है" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि काव्य साहित्य का व्यष्टिरूप है। सम्भवत इसीलिए सस्कृत के अनेक आचार्यों ने काव्य और साहित्य को पर्यायवाची माना है।[1] प्राय. काव्य का प्रयोग साहित्य के अर्थ में ही किया जाता है किन्तु यहाँ पर हम उसका सकुचित और पारिभाषिक अर्थ ही ले रहे हैं।

काव्य शब्द की व्युत्पत्ति—काव्य शब्द कवि शब्द से बना है। सस्कृत के भिन्न-भिन्न विद्वानो ने इसकी व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। अभिनव गुप्ताचार्य के 'ध्वन्यालोकलोचन' में उसकी व्याख्या 'कवनीयम् काव्य' लिखकर की गई है। विद्याधर की एकावली टीका में इसका विग्रह इस प्रकार किया गया है—

"कवयतीति कवि तस्य कर्म काव्य"

मेदनीकोप में इसकी व्युत्पत्ति 'कवेरिदम् काव्य भावोवा इति काव्यं' कहकर बतलाई गई है। इन सभी व्याख्याओ से स्पष्ट है कि कवि कर्म को ही काव्य की सज्ञा दी गई है।

कवि शब्द की व्युत्पत्ति—यहाँ पर कवि शब्द की व्युत्पत्ति भी जान लेनी चाहिए। सस्कृत के अमरकोप में कवि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

'कवयति सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कवि.' अर्थात् सर्वज्ञ और सब विषयो के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं। यजुर्वेद में कवि का प्रयोग परमेश्वर अर्थ में भी किया गया है—

"कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू" (शुक्ल यजु० ४०।८)

श्रीमद्भागवत में कवि शब्द ब्रह्मा जी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'तेने ब्रह्महृदाय आदि कवये' (श्रीमद्भागवत १।१।१)। कुछ अन्य स्थलो पर इसका प्रयोग व्यास और वाल्मीकि के लिए भी किया हुआ मिलता है। लोक में कवि शब्द साधारणतया प्रतिभा-सम्पन्न रचनाकार के लिये प्रयुक्त होता है। आचार्य भामह की निम्नलिखित पक्तियाँ इसी अर्थ की ओर सकेत कर रही हैं—

---

१ देखिए (१) राजशेखर की काव्य मीमासा, पृ० ४।
(२) मुकुलभट्ट की अभिधा वृत्तिमातृका; पृ० २१।
(३) महाकवि मखक-कृत श्रीकण्ठ चरित; २।१२॥

"प्रज्ञा [नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता,
तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुण. कवि
तस्य कर्मस्मृत काव्यम्"

काव्य का स्वरूप निरूपण—काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही कोटि के आचार्यों ने की है। पहले हम भारतीय आचार्यों के मतो का उल्लेख करेंगे। बाद में पाश्चात्यो के विचारो पर प्रकाश डालेगे।

सस्कृत में काव्य का स्वरूप निरूपण—विश्व के आदि ग्रथ ऋग्वेद में एक स्थल पर काव्य के स्वरूप को व्यजित करने की चेष्टा की गई है। दृष्टा कहता है—"मैं अपने कवित्व को बादलों में से फूटकर बाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ। (ऋग्वेद ७।६।१) यहाँ पर दृष्टा ने निर्बाध और प्रवेगपूर्ण अभिव्यक्ति को ही काव्य का सर्वस्व व्यजित किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में वाङ्मय तप के अन्तर्गत दी गई काव्य की परिभाषा भी विचारणीय है—

"अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते॥"—गीत १७।१५

इस परिभाषा के आधार पर हम उसी वाक्य को काव्य कहेंगे जो किसी के लिए उद्वेगकर न हो तथा जिसमें सत्य, शिव और सुन्दरम् की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई हो। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस सत्य, शिव और सुन्दर को काव्य के लिए लोग पाश्चात्य की देन मानते हैं उसका श्रीगणेश श्रीमद्भगवद्गीता से ही हुआ है।

सस्कृत काव्यचार्यों ने काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। सबसे प्रथम भरतमुनि की काव्य की परिभाषा विचारणीय है। नाट्यशास्त्र में उन्होंने लिखा है—

"मृदुललितपदाढ्य गूढ़शब्दार्थहीन,
जनपदसुखबोध्य युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्ग सन्धिसन्धानयुक्त,
स भवति शुभकाव्य नाटकप्रेक्षकाणाम्।"

—नाट्यशास्त्र १६।११८

अर्थात् जो कोमल और ललित पदो से युक्त, गूढ शब्द और अर्थ से विरहित, सर्वग्राह्य, सबको सुख देने वाला, नृत्य में प्रयुक्त किए जाने योग्य, रस की विविध धाराएँ प्रवाहित करने वाला, सन्धियो के सन्धान से युक्त हो वही सर्वश्रेष्ठ काव्य कहा जाता है।

अग्निपुराण में शास्त्र, इतिहासादि मे काव्य को भिन्न बतलाते हुए उसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्नापदावली
काव्य स्फुरदलङ्कार गुणवद्दोषवर्जितम्"

—अग्निपुराण (३३७।६-७)

इस प्रकार भारत में काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन होता रहा है। सस्कृत साहित्याचार्यों की परिभाषाम्रो पर यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो स्पष्ट हो जावेगा कि उन्होंने काव्य पर दो दृष्टियो से विचार किया है—एक, काव्य के शरीर की दृष्टि और दूसरा उसके प्राण की दृष्टि से। काव्य शरीर से सम्ब्रन्धित मत दो विभागो में विभाजित किए जा सकते हैं—एक शब्दनिष्ठ सम्ब्रन्धी और दूसरा शब्द और अर्थ उभयनिष्ठ सम्बन्धी। शब्दनिष्ठ वालो का कहना है—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध"—इस मीमासा सूत्र से शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित किया गया है। अतएव काव्य को शब्दनिष्ठ कहने से उसकी अर्थनिष्ठता स्वय प्रकट हो जाती है। शब्दार्थवादी काव्य को शब्द और अर्थ से व्यासज्यवृत्ति से सम्बन्धित मानते हैं। उनका कहना है कि काव्य को केवल शब्दनिष्ठ नही कहा जा सकता। क्योकि बहुत से शब्द निरर्थक भी होते हैं।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी प्राचीन साहित्याचार्यों में बडा मतभेद है। कुछ रस को काव्य की आत्मा मानते थे, कुछ ध्वनि को, कुछ अलकार को तथा कुछ औचित्य को प्राणभूत उपादान सिद्ध करते थे। वक्रोक्तिवादी और चमत्कारवादी वक्रोक्ति और चमत्कार को ही क्रमश काव्य में प्राण रूप से प्रतिष्ठित समझते थे। काव्य की आत्मा सम्ब्रन्धी इन्ही मतो को लेकर सस्कृत में विविध सम्प्रदायों का उदय हुआ। इन सम्प्रदायो पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे। क्योकि इनकी रूपरेखा समझे बिना हिन्दी का साहित्य शास्त्र समझा ही नही जा सकता।

काव्य के सम्बन्ध मे हिन्दी-विद्वानो के मत

हिन्दी विद्वानो ने भी काव्य के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'काव्य और कविता' शीर्षक लेख में काव्य के सम्ब्रन्ध ने लिखा है—

"सादगी' असलियत और जोश यदि यह तीनो गुण कविता में हो तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है।" द्विवेदी जी ने असलियत को सर्वप्रमुख गुण बताया है। आचार्य जी के यह विचार मिल्टन के काव्य स्वरूप से मिलते हैं। मिल्टन ने इन तीनो गुणो को काव्य में परमापेक्षित माना है। असलियत के साथ-साथ द्विवेदी जी ने कल्पना का मिश्रण भी आवश्यक बताया है।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में 'कविता क्या है' शीर्षक लेख में काव्य सम्ब्रन्धी अपने विचार प्रगट किए हैं—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।" इस प्रकार शुक्ल जी काव्य में रस को महत्त्व देते हैं। वह प्राचीन रसवादी आचार्यों के

अनुयायी प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत द्विवेदी चमत्कारवादी थे। 'रसज्ञ रञ्जन' में उन्होने लिखा है—

"शिक्षित कवि की उक्तियो में चमत्कार का होना परमावश्यक है। चमत्कार अलंकारमूलक भी हो सकता है एवं अभिव्यक्तिमूलक और औचित्यमूलक भी हो सकता है।"

जयशंकरप्रसाद[1] काव्य को 'आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति' मानते हैं। ऐसी संकल्पात्मक अनुभूति 'जिसका सम्बन्ध विश्लेषण' में विकल्प या विज्ञान से नही होता है'। मूल संकल्पात्मक अनुभूति से उनका तात्पर्य क्या है, यह समझाते हुए उन्होंने अपने काव्य और कला शीर्षक निबंध में लिखा है—"आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था" जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।' संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भवभूति ने भी अपने नाटक 'उत्तर रामचरित'[2] के प्रारम्भ में वाङ्मय को आत्मा का अनश्वर कला (अमृतामात्मन. कलाम्) कहकर उसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। कदाचित् प्रसाद और भवभूति दोनो ही वृहदारण्योपनिषद् के 'अयं आत्मा वाङ्मय' से प्रभावित रहे हो—उपनिषदो के प्रकाड पंडित तो वे दोनो थे ही।

प्रेमचन्द जी काव्य को जीवन की आलोचना मानते थे। उनके इस मत का उल्लेख हम साहित्य के प्रसंग में विस्तार से कर चुके हैं। उनके ऊपर संभवत मैथ्यू आर्नल्ड का प्रभाव पडा था। क्योंकि दोनो की परिभाषाएँ बहुत कुछ समान ही हैं। दोनो ही काव्य को जीवन की आलोचना मानते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी विद्वानो में प्रधान रूप से दो वर्ग दिखाई पडते हैं—एक तो वह जिस पर पाश्चात्य काव्य स्वरूप निरूपण का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पडता है और दूसरा वह जो भारतीय काव्य सम्बन्धी मत का अनुयायी है। महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रथम वर्ग के प्रतिनिधि विद्वान माने जा सकते हैं। शुक्ल और प्रसाद आदि द्वितीय वर्ग के पोषक प्रतीत होते हैं। काव्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें पाश्चात्य काव्य तत्त्वो और भारतीय काव्य तत्त्वो दोनो से परिचित होना चाहिए। अतएव यहाँ पर हम पाश्चात्य विद्वानो के काव्य सम्बन्धी मत पर एक दृष्टि डालकर पाश्चात्य काव्य तत्त्वो की मीमासा करेंगे और बाद में भारतीय काव्य तत्त्वो की विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

काव्य के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो के मत

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। होरेस के 'Art of Poetry' से लेकर आज तक काव्य मीमासा से सम्बन्धित अनेक मत प्रकट किए जा चुके हैं। सभी विद्वानो ने अपने ढंग पर काव्य के स्वरूप का निरूपण किया

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (द्वितीय संस्करण), पृ० ११।

२. उत्तर रामचरित १।१।

है। होरेस (Horace) ने अपने 'Art of Poetry' नामक निबन्ध में कवि और चित्रकार के कार्य को समान बताते हुए कहा है—

"Painters you say and poets have always had a reasonable liscence to venture on what they will" इत्यादि।

शेक्सपियर ने अपने 'A Mid Summer Night's Dream' नामक नाटक में काव्य के सम्बन्ध में एक स्थल पर अपने विचार प्रगट किए हैं। उसने काव्य में कवि कल्पना को विशेष महत्त्व दिया है। कवि इसी के द्वारा लौकिक और पारिलौकिक सभी दृश्यो का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। उसकी कल्पना हेय, अज्ञात और अप्रत्यक्ष पदार्थों को अपनी लेखनी द्वारा मधुर आकार प्रदान करती है। शेक्सपियर की वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"The poet's eye, in a fine frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poets' pen
Turns them to shapes, and gives to airy nothing
A local habitation and a name"

वर्ड्स्वर्थ ने काव्य में कल्पना के स्थान पर भावना को महत्त्व दिया है।

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings It takes its origin from emotion recollected in tranquility."

अर्थात् कविता उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक है। इसकी उत्पत्ति शान्ति में संचित अनुभूतियो से होती है। मिल्टन ने काव्य में राग और वासनात्मक प्रवेश को महत्त्व दिया है। वह उसकी प्रसादात्मकता और सरलता में भी विश्वास करता है। 'Essay on Education' में एक स्थल पर उसने लिखा है—

"Poetry should be simple, sensuous and passionate."

कॉलरिज काव्य में भावनाओ की क्रमिक अभिव्यक्ति को सुन्दर शब्दो द्वारा सजाने के पक्ष में है—उसने लिखा है।

"Poetry, the best words in the best order"

काव्य को वह अनुपम वरदान मानता है जो प्रत्येक वस्तु के आवृत्त सौन्दर्यान्वेषण की तीव्र आकाक्षा उत्पन्न करता है—

"Poetry has been to me its own exceeding great reward, it has given me the habit of wishing to discover the good and beautiful in all that meets and surrounds me"

शेली ने सरस काव्य में करुणा को आवश्यक माना है—"Our sweetest songs are those that tell of the saddest tale" उसने काव्य को विषाद के क्षणो की ही अभिव्यक्ति कहा है—"They learn in suffering what they teach in song"

// कार्लाइल ने काव्य को संगीतमय विचार कहा है—

"Poetry we will call musical thought"

मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य में कल्पना के स्थान पर जीवन और विचारात्मक व्याख्या को महत्त्व दिया है—

"Poetry is at bottom a criticism of life."

हडसन ने काव्य जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोवेग तीनो का समन्वय किया है—

"Poetry is interpretation of life through imagination and emotion"

डा० जॉनसन ने भी कहा है—"कविता सत्य और आनन्द के मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।"

"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the half of reason"

मेकॉले काव्यो को शब्दो की चित्रकला मानते है—

"By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination the art of doing by means of words, what the painter does by means of colours"

रावर्टसन ने कवि और रहस्यवादी के अन्तर को वतलाते हुए कहा है—

"How different is the poet from the mystic—the former uses symbols, knowing they are symbols, the latter mistakes them for realities"

वैली (Bailay) नामक विद्वान ने कविता को महान् सत्य की अभिव्यक्ति कहा है—

"Poets are all who love and feel great truths, and tell them"

मिल ने काव्य में भावना को ही प्रधान माना है। प्रो० विल्सन ने बुद्धि और भावना का मिश्रण किया है—

"Poetry is the intellect coloured by feelings"

हेजलिट् ने अपने 'Lectures on English Poets' में काव्य को कल्पना की भाषा कहा है।

एडगर एलन सौन्दर्यवादी थे। इसलिए उन्होने काव्य को सौन्दर्य की संगीतात्मक सृष्टि कहा है।

पाश्चात्य विद्वानो के उपर्युक्त मतो का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो हम देखेंगे कि उनमें कई सम्प्रदाय हैं। संक्षेप में उन्हे हम इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं।

१ काव्य में कल्पना को प्रधानता देने वाला वर्ग या कल्पनावादी सम्प्रदाय।

२ काव्य में भावना राग तत्त्व और सौन्दर्य तत्त्व को महत्त्व देने वाला सम्प्रदाय या भाववादी वर्ग।

३ काव्य में बुद्धि तत्त्व और भाव तत्त्व दोनो को समान रूप से महत्त्व देने वाला वर्ग। इस वर्ग के अन्तर्गत ही हम सत्यवादी वर्ग को भी लेंगे। काव्य को जीवन की व्याख्या मानने वाले भी इसी के अन्तर्गत आवेंगे।

४ काव्य में कला एव चित्रविधायिनी शक्ति को महत्त्व देने वाले कवि।

इन वर्गों में भी हमें दो प्रकार के वर्ग दिखाई पडते हैं—एक तो वे जो कविता को जीवन से अलग करके देखना चाहते हैं, दूसरे वे जो कविता को जीवन की ही अभिव्यक्ति या आलोचना मानते हैं। प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ वर्ग तो कलावादी वर्ग के अन्तर्गत रक्खे जायेंगे। तृतीय वर्ग जीवन से सम्बन्धित वर्ग माना जा सकता है। सक्षेप में पाश्चात्य विद्वानो में से किसी ने कल्पना तत्त्व को महत्त्व दिया है, किसी ने भाव तत्त्व को, किसी ने बुद्धि तत्त्व को और किसी ने शैली तत्त्व को। वास्तव में सुन्दर काव्य वही होगा जिसमें चारो का सुन्दर सामञ्जस्य विधान होगा।

पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के तत्त्व—उपर्युक्त परिभाषाओ से एक बात और स्पष्ट हो जाती है वह यह कि पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के चार तत्त्व ही माने जा सकते हैं—

१ बुद्धि तत्त्व
२ भाव तत्त्व
३ कल्पना तत्त्व
४ कला या शैली तत्त्व

बुद्धि तत्त्व

हम कही कह चुके हैं कि काव्य बुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व की समन्वयात्मक सृष्टि है। इसका यह अर्थ नही कि काव्य में इनके अतिरिक्त और कोई तत्त्व होते ही नही। हमारे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि काव्य के मूलाधार यही उपादान हैं। इनमें से यदि एक भी काव्य से निकाल दिया जाय तो काव्य काव्य नही कहला सकता। भाव यदि काव्य के कलित कलेवर का विधान करते हैं तो बुद्धि तत्त्व अस्थिपिंजर के सदृश उस कलेवर को अवलम्ब देता है। इसके अभाव में काव्य का कलेवर खडा ही नही हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य में दोनो की ही अवस्थिति अनिवार्य होती है। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि इन दोनो में भी कौन प्रधान है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो काव्य में भाव तत्त्व की ही प्रधानता प्रतीत होती है, बुद्धि तत्त्व का स्थान गौण होता है। बुद्धि तत्त्व के अभाव में काव्य का कोई न कोई रूप अवश्य सम्भव है, वह चाहे अस्थिहीन मास के शिथिल श्लथ के सदृश ही क्यो न हो। किन्तु केवल बुद्धि तत्त्व कभी काव्य का विधान नही कर सकता। वह तो शुष्क, नीरस और भयावह अस्थिपिंजर के सदृश ही प्रतीत होगा। इसलिए काव्य में बुद्धि तत्व सदैव ही भावाश्रित रहता है। इसी बात को मेरी (Merry) नामक पाश्चात्य विद्वान ने इस प्रकार लिखा है—

"In literature there is no such thing as pure thought, thought is always the handmaid of emotion"

—The Problem of Style, page 73

अर्थात् साहित्य में बुद्धि अपने शुद्ध रूप में नही रहती। वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में आती है।[1]

काव्य क्षेत्र में बुद्धि तत्त्व अपना कार्य निम्नलिखित रूपो में करता है—

१ भावो की आधारभूमि के रूप में।

२ भावो को स्पष्टतर करने के लिए।

३ लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में।

४ भावो की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में।

५ भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

भावो के आधारभूमि के रूप में—भावनाओं का उदय और विकास विचारो के आधार पर ही होता है। जीवन में विविधरूपिणी जटिल परिस्थितियाँ आती हैं। ये परिस्थितियाँ विविध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं और धीरे-धीरे विचारो का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य की परवर्ती अनुभूतियाँ और भावधाराएँ इन्ही विचारात्मक प्रतिक्रियाओ पर अवलम्बित रहती हैं। कवि अपने काव्य का सृजन भी इन्ही विचार या बुद्धि प्रेरित भावानुभूति के सहारे करते हैं। अत विचार भावों की आधारभूमि कहे जा सकते हैं। एच० जी० वेल्स (H G Wells) ने भावो की इस आधारभूमि को मानसिक पृष्ठभूमि (Mental hinterland) कहा है। किन्तु इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे का मत इसके विपरीत है। उनके मतानुसार कवि पहले कल्पना और भावना द्वारा मूर्त्त विधान करते हैं, उसके बाद विचार या बुद्धि की सहायता से उन निर्मित मूर्तियों की समीक्षा द्वारा उनका स्थान निर्धारित करते हैं। अत. क्रोचे ने विचारो को काव्य सर्जना में मन की पहली क्रिया न मानकर दूसरी क्रिया कहा है। उनके मतानुसार भावना और विचार प्रत्येक मनुष्य के जन्मजात गुण होते हैं इसीलिये मानव स्वभाव से ही कलाकार और दार्शनिक दोनो होता है। पहले वह कवि या कलाकार होता है उसके बाद कलात्मक ज्ञान के सहारे विचार शक्ति का विकास होने पर दार्शनिक भी हो जाता है। किन्तु क्रोचे की यह धारणा अधिक तर्कसगत नही प्रतीत होती। हमारी समझ में मनुष्य पहले दार्शनिक होता है और बाद में कवि। विचार दर्शनशास्त्र का प्रमुख अग है। दर्शनशास्त्र तर्कप्रधान होता है। कवि यदि भावोदय के पश्चात् बुद्धि व्यापार द्वारा उन भावनाओ की समीक्षा करते होते तो उनका काव्य मधुर काव्य न रहकर तर्कप्रधान हो जाता। वास्तव में विचारात्मक निर्णय के पश्चात् उनके अनुरूप ही भावना का उदय होता है। विचार भावना के मिश्रण से काव्योचित रूप धारण कर सरस हो जाते हैं। साथ ही साथ भावना को सयत और क्रमबद्ध रूप प्रदान करते हैं।

---

१ अपने 'काव्यकला' शीर्षक निबन्ध में महादेवी वर्मा ने इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है। इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचने वाली विशेष विचार पद्धति।" —महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० २०

३ काव्य में बुद्धि तत्त्व और भाव तत्त्व दोनो को समान रूप से महत्त्व देने वाला वर्ग। इस वर्ग के अन्तर्गत ही हम सत्यवादी वर्ग को भी लेंगे। काव्य को जीवन की व्याख्या मानने वाले भी इसी के अन्तर्गत आवेंगे।

४ काव्य में कला एव चित्रविधायिनी शक्ति को महत्त्व देने वाले कवि।

इन वर्गों में भी हमें दो प्रकार के वर्ग दिखाई पडते हैं—एक तो वे जो कविता को जीवन से अलग करके देखना चाहते हैं, दूसरे वे जो कविता को जीवन की ही अभि-व्यक्ति या आलोचना मानते हैं। प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ वर्ग तो कलावादी वर्ग के अन्तर्गत रक्खे जायेंगे। तृतीय वर्ग जीवन से सम्बन्धित वर्ग माना जा सकता है। सक्षेप में पाश्चात्य विद्वानो में से किसी ने कल्पना तत्त्व को महत्त्व दिया है, किसी ने भाव तत्त्व को, किसी ने बुद्धि तत्त्व को और किसी ने शैली तत्त्व को। वास्तव में सुन्दर काव्य वही होगा जिसमें चारो का सुन्दर सामञ्जस्य विधान होगा।

पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के तत्त्व—उपर्युक्त परिभाषाओ से एक बात और स्पष्ट हो जाती है वह यह कि पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के चार तत्त्व ही माने जा सकते हैं—

१ बुद्धि तत्त्व
२ भाव तत्त्व
३ कल्पना तत्त्व
४ कला या शैली तत्त्व

बुद्धि तत्त्व

हम कही कह चुके हैं कि काव्य बुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व की समन्वयात्मक सृष्टि है। इसका यह अर्थ नही कि काव्य में इनके अतिरिक्त और कोई तत्त्व होते ही नही। हमारे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि काव्य के मूलाधार यही उपादान हैं। इनमें से यदि एक भी काव्य से निकाल दिया जाय तो काव्य काव्य नही कहला सकता। भाव यदि काव्य के कलित कलेवर का विधान करते है तो बुद्धि तत्त्व अस्थिपिंजर के सदृश उस कलेवर को अवलम्ब देता है। इसके अभाव में काव्य का कलेवर खडा ही नही हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य में दोनों की ही अवस्थिति अनिवार्य होती है। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि इन दोनो में भी कौन प्रधान है। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो काव्य में भाव तत्त्व की ही प्रधानता प्रतीत होती है, बुद्धि तत्त्व का स्थान गौण होता है। बुद्धि तत्त्व के अभाव में काव्य का कोई न कोई रूप अवश्य सम्भव है, वह चाहे अस्थिहीन मास के शिथिल श्लथ के सदृश ही क्यों न हो। किन्तु केवल बुद्धि तत्त्व कभी काव्य का विधान नही कर सकता। वह तो शुष्क, नीरस और भयावह अस्थिपिंजर के सदृश ही प्रतीत होगा। इसलिए काव्य में बुद्धि तत्त्व सदैव ही भावाश्रित रहता है। इसी बात को मेरी (Merry) नामक पाश्चात्य विद्वान ने इस प्रकार लिखा है—

"In literature there is no such thing as pure thought, thought is always the handmaid of emotion"

—The Problem of Style, page 73

अर्थात् साहित्य में वुद्धि अपने शुद्ध रूप में नही रहती। वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में आती है।[1]

काव्य क्षेत्र में बुद्धि तत्त्व अपना कार्य निम्नलिखित रूपो में करता है—

१ भावो की आधारभूमि के रूप में।

२ भावो को स्पष्टतर करने के लिए।

३ लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में।

४ भावो की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में।

५ भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

भावों के आधारभूमि के रूप में—भावनाओ का उदय और विकास विचारो के आधार पर ही होता है। जीवन में विविधरूपिणी जटिल परिस्थितियाँ आती हैं। ये परिस्थितियाँ विविध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं और धीरे-धीरे विचारो का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य की परवर्ती अनुभूतियाँ और भावधाराएँ इन्ही विचारात्मक प्रतिक्रियाओ पर अवलम्बित रहती हैं। कवि अपने काव्य का सृजन भी इन्ही विचार या वुद्धि प्रेरित भावानुभूति के सहारे करते हैं। अत विचार भावो की आधारभूमि कहे जा सकते हैं। एच० जी० वेल्स (H G Wells) ने भावो की इस आधारभूमि को मानसिक पृष्ठभूमि (Mental hinterland) कहा है। किन्तु इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे का मत इसके विपरीत है। उनके मतानुसार कवि पहले कल्पना और भावना द्वारा मूर्त्त विधान करते हैं, उसके वाद विचार या वुद्धि की सहायता से उन निर्मित मूर्तियो की समीक्षा द्वारा उनका स्थान निर्धारित करते हैं। अतः क्रोचे ने विचारो को काव्य सर्जना में मन की पहली क्रिया न मानकर दूसरी क्रिया कहा है। उनके मतानुसार भावना और विचार प्रत्येक मनुष्य के जन्मजात गुण होते हैं इसीलिये मानव स्वभाव से ही कलाकार और दार्शनिक दोनो होता है। पहले वह कवि या कलाकार होता है उसके वाद कलात्मक ज्ञान के सहारे विचार शक्ति का विकास होने पर दार्शनिक भी हो जाता है। किन्तु क्रोचे की यह धारणा अधिक तर्कसगत नही प्रतीत होती। हमारी समझ में मनुष्य पहले दार्शनिक होता है और वाद में कवि। विचार दर्शनशास्त्र का प्रमुख अग है। दर्शनशास्त्र तर्कप्रधान होता है। कवि यदि भावोदय के पश्चात् वुद्धि व्यापार द्वारा उन भावनाओ की समीक्षा करते होते तो उनका काव्य मधुर काव्य न रहकर तर्कप्रधान हो जाता। वास्तव में विचारात्मक निर्णय के पश्चात् उनके अनुरूप ही भावना का उदय होता है। विचार भावना के मिश्रण से काव्योचित रूप धारण कर सरस हो जाते हैं। साथ ही साथ भावना को सयत और क्रमवद्ध रूप प्रदान करते हैं।

---

१ अपने 'काव्यकला' शीर्षक निवन्ध में महादेवी वर्मा ने इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि काव्य में वुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है। इसी से उसका दर्शन न वौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म विन्दु तक पहुँचने वाली विशेष विचार पद्धति।"
—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० २०

भावों को स्पष्टतर करने के लिए—काव्य क्षेत्र में बुद्धि का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य भावना को एक निश्चिन और स्पष्ट रूप प्रदान करना है। भावानुभूति सभी को हुआ करती है किन्तु प्रत्येक मनुष्य में उनको काव्य रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता नही रहती। कवियो में एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती रहती है जिसके माध्यम से वे अपनी अनुभूतियो को व्यक्त करते हैं। विचार शक्ति के सहारे उच्चकोटि के कवियो की अभिव्यञ्जना इतनी प्रभावाभिव्यञ्जक हो जाती है कि सहृदय पाठक उनकी अनुभूतियो का स्पष्ट चित्र सा अनुभव करने लगते हैं। कवि और पाठक की भावनाओ में पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। इतना ही नही प्राय पाठक कवि द्वारा व्यक्त चित्र को उससे अधिक स्पष्ट रूप में समझ लेते हैं जिस रूप में स्वय कवि ने उन्हें अनुभव किया था। एक सस्कृत कवि ने लिखा भी है—

"कविता रस माधुर्य कविर्वेत्ति नतत्कवि
भवानी भृकुटीभग भवो वेत्ति न भूधर"

कवि की अभिव्यक्ति को ऐसा सौन्दर्यशाली और प्रभावात्मक रूप विचार-शक्ति ही देती है। इसी धारणा को स्पष्ट करते हुए मेरी (Merry) ने लिखा है—

"A great satirist like swift uses the intellect not to reach rational conclusions but to expound and convey in detail a complex of very voilent emotional reactions" —The problem of Style

अर्थात् स्वीफ्ट जैसे व्यग लेखको ने बुद्धि का उपयोग तर्कपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए नही किया वलिक तीव्र प्रतिक्रियाओ के सघात को प्रगट करने के लिए किया है।

लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में—प्रत्येक लेखक अपना एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। उसकी प्रत्येक रचना में इस दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई पडती है। अपने इस दृष्टिकोण या सिद्धान्त को वह अपनी विचारात्मक रुचि के अनुसार ही स्थिर करता है। हिन्दी के श्रेष्ठ कवि 'प्रसाद' भारत के प्राचीन साहित्य और दर्शन से इतने अधिक प्रभावित थे कि उनके साहित्य में भी प्राचीन सास्कृतिक और दार्शनिक दृष्टिकोणो की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी कोई भी रचना ऐसी नही है जिस पर शैव-दर्शन या बौद्ध-दर्शन का प्रभाव न पडा हो। इसके अतिरिक्त 'प्रसाद' एक आदर्शवादी लेखक हैं। आदर्शवादी दृष्टिकोण से समन्वित होने के कारण उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की उच्चतम निधि हैं। अत. सत् या असत् काव्य की रचना भी वहुत कुछ विचारो के आश्रित है। जिसके जैसे विचार होते हैं उसमें वैसी ही भावनाएँ उदित होती है जो साहित्य से ज्यो की त्यो प्रतिष्ठित हो जाती हैं। गीत काव्य तो व्यक्तिगत भावनाओ की मार्मिक व्यञ्जना के लिए प्रसिद्ध ही है। यह व्यक्तिगत भावनाएँ बुद्धिज व्यापार का ही परिणाम होता है। महात्मा तुलसीदास ने भी उत्तम रचना के लिए श्रेष्ठ भावगाम्भीर्य और मधुर वाणी के अतिरिक्त वर विचार के हेतु अपनी तीव्र आकाक्षा प्रगट की है। उनकी निम्नलिखित पक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना, स्वाँती सारद कहहि सुजाना।
जो वरसहि वर वारि विचारू, होहिं कवित्त मुक्तामणि चारू।"

इन पक्तियों में 'मति सीप समाना' और 'वर वारि विचारू' द्वारा भाव सिन्धु में सुन्दर मुक्तामणि रूपी कवित्त-निर्माण-कार्य का सम्पन्न होना कहकर काव्य में बुद्धि-तत्त्व की उपादेयता की ओर ही सकेत किया गया है।

भावो की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में—भावनाओ में व्यवस्था स्थापित करने का कार्य भी बुद्धि व्यापार द्वारा ही होता है। साहित्य में भावो का शृ खलाबद्ध होना अनिवार्य है अन्यथा रचना में प्रवाह लाना असम्भव हो जाता है। लेखक के हृदय में उत्पन्न भावनाएँ अव्यवस्थित होती है। भावनाओ का तीव्र आवेग उन्हे असयत बना देता है। बुद्धि ही भावो की इस अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करती है। अत कवि बुद्धि तत्त्व की अवहेलना कर ही नहीं सकते। बिना व्यवस्था के भाव सफल काव्य का निर्माण नही कर सकते। बुद्धि के इस व्यापार को मेरी ने विशेष प्रकार से स्पष्ट किया है।[1]

भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में—काव्य में चमत्कार की योजना उसके वाह्याकार को मनोरम रूप प्रदान करने के लिए की जाती है। अनेक सस्कृताचार्यों ने तो चमत्कार रहित काव्य को काव्य ही नही माना है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'रसज्ञ-रञ्जन' में लिखा है—

'न हि चमत्कार विरहितस्य कवे कवित्व, काव्यस्य वा काव्यत्वम्' अर्थात् कवि की चमत्कार रहित कविता में काव्यत्त्व नही होता है। भाव को चत्मकारपूर्ण ढग से व्यक्त करने का कार्य बुद्धि करती है। काव्य का कला-पक्ष वहुत कुछ बुद्धि या विचार शक्ति पर ही आश्रित रहता है। केशव आदि चमत्कारवादी हिन्दी विद्वानो ने चमत्कार शब्द को पाण्डित्य प्रदर्शन के रूप में ही ग्रहण किया है। किन्तु इस शब्द के व्यापक अर्थ को लेने पर चमत्कार का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नही वलिक भाव से भी प्रगट होता है। भाषागत चमत्कार काव्य के वाह्य रूप को अलकृत करता है किन्तु भाव-गत चमत्कार भावो को सहज एव मधुर रूप प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण ध्वनि काव्य में भावगत चमत्कार ही दृष्टिगोचर होता है। दोनो प्रकार के चमत्कार बुद्धि प्रेरित होते हैं। चमत्कार के अन्तर्गत शैली की समस्या प्रमुख रूप से सामने आती है। इसीलिए

---

१ "The thought that plays a part in literature is systamatised emotion Emotion becomes the habitual till it attains the dignity of conviction The fundamental brain-work of a great play or a great novel is not performed by the reason pure or practical, even the trancidental essayist is trying to get his emotions on to paper the most auster psychological analyist like Stendhal, really imagined he was exercising la-lo-gigue, is only attempting to get some order into his own instinctive reactions"

—The Problem of Style, page 74

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में बुद्धि तत्त्व से भिन्न शैली को एक स्वतन्त्र तत्त्व ही मान लिया गया है।

भाव तत्त्व

काव्य के विधायक तत्त्वो में भाव तत्त्व का सर्वप्रथम स्थान है। मनोवेग जिन्हे साधारणत भाव ही कहा जाता है काव्य के भाव-पक्ष के प्राण हैं। कवि की सस्कारजन्य प्रतिभा जीवन के विविध वातावरणो के मार्मिक चित्रो को आत्मसात करती रहती है। मनोवेगो के किसी विशेष उद्रेक द्वारा यह एकत्रित चित्र वाग्धारा के माध्यम से काव्य का निर्माण करते हैं। काव्य के कल्पना तत्त्व, बुद्धि तत्त्व और शैली तत्त्व यह तीनो तत्त्व भाव तत्त्व पर आश्रित हैं।

भाव की परिभाषा—भाव के स्वरूप को स्पष्ट कर उसे परिभाषावद्ध करने का प्रयास अनेक आचार्यो ने किया है। भावो का उदय अनुभूति से होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि के 'भाव या मनोविकार, शीर्षक लेख में भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है—"नाना विषयो के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के जो भिन्न-भिन्न योग सगठित होते है वे भाव या मनोविकार कहलाते हैं।"

शुक्ल जी के मतानुसार निश्चयात्मिका बुद्धि विकास के साथ-साथ अनुभूतियो की अनेकरूपता का भी विकास होता है। छोटे बच्चों में निश्चयात्मिका बुद्धि का अभाव रहता है अत वे विषयो का बोध भी सामान्य रूप में ही करते हैं। उनकी अनुभूतियाँ भाव दशा को नही पहुँचती। भाव तो वे ही मनोविकार कहलाते है जिनमें विविधरूपिणी अनुभूतियो का योग होता है। श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधाशु' ने भी भाव के सम्बन्ध में लिखा है—

"मनुष्य के हृदय में वाह्य जगत् की सवेदनाओ के कारण विकार उठते हैं, वे परस्पर मिलकर भाव की सज्ञा प्राप्त करते हैं।" —जोवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त

गुलाबराय जी अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में लिखते हैं—

"साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भावो से भिन्न होते हैं। ये भाव मन के उस विकार को कहते हैं जिसमें सुख-दुखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती हैं।" मनोविकारो को शाब्दिक, मानसिक या शारीरिक किसी भी क्रिया द्वारा प्रगट हो जाने पर ही भाव की सज्ञा दी जाती है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने भाव को सस्कृत आचार्यों के अनुसार समझाने की चेष्टा की है। उन्होने भाव की परिभापा इस प्रकार दी है—

"देव आदि विपयक रति सामग्री के अभाव में उद्बुद्ध-मात्र अर्थात् रस रूप को अप्राप्त रति आदि स्थायी भाव और प्रधानता से व्यञ्जित निर्वेदादि सञ्चारी इनकी भाव सज्ञा है।" यह परिभापा विश्वनाथ की परिभाषा से मिलती-जुलती है।

साहित्यदर्पण में उन्होने लिखा है—

"सचारिणी प्रधानानि देवादिविषयारति
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते."

अर्थात् जहाँ निर्वेदादि संचारी भाव स्थायी भाव के अंग न होकर प्रधान रूप से व्यक्त किये गए हो, देव, पुत्र, मित्र, गुरु आदि विषयक रति हो, जहाँ स्थायी भाव रस रूप में पुष्ट न होकर उद्‌बुद्ध मात्र रहते हैं वहाँ भाव की स्थिति रहती है।

इस परिभाषा से भाव के अन्तर्गत तीन प्रमुख तत्त्व आते हैं—

१ देवादिविषयक रति।

२ उद्‌बुद्ध मात्र स्थायी भाव अर्थात् वे स्थायी भाव जो अनुभाव-विभाव आदि से पुष्ट न हो।

३ प्रधान रूप से व्यक्त किए गए संचारी भाव।

हमारी दृष्टि में भाव हमारे हृदय के वे उद्‌बुद्ध मनोविकार होते हैं जो जीवन और जगत् के सम्पर्क से उत्पन्न होकर हमारे हृदय में प्रसुप्तावस्था में घनीभूत होते रहते हैं।

भाव के दो पक्ष और उसके विविध भेद—भावना का सम्बन्ध मन से होता है। मन अन्तरात्मा की कार्यकारिणी शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा परिचालित मनोविकार भाव रूप में परिणत होते हैं। विशेष रूप से यह परिचालन-क्रिया द्विरूपिणी होती है—सुखात्मिका और दुखात्मिका। सुख और दुख ही दो मूल भाव हैं। वैशेषिक सूत्र में इन्ही दोनों भावो को राग और द्वेष कहा गया है। वात्स्यायन ने मोह नामक एक तीसरा भाव भी माना है। प्राचीन ग्रन्थो में कही-कही उदासीन नामक भाव का भी उल्लेख मिलता है किन्तु प्रधान रूप से भाव का सुख और दुख पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है। इन दोनो के बीच सम भावो का भी परिचालन होता है। भावो का सम्बन्ध मन की इच्छाओ से होता है। इच्छाएँ अनन्त हैं। उन्ही इच्छाओ के अनुसार भाव भी अनन्त होते हैं। स्थूल रूप से इन सभी भावो को तीन शीर्षको के अन्तर्गत रक्खा गया है—

१ इन्द्रियजनित भाव।

२ प्रज्ञात्मक भाव।

३ गुणात्मक भाव।

इन्द्रियजनित भाव—इन्द्रियजनित भावो का सम्बन्ध स्थूल शरीर से होता है। शरीर के माध्यम से ही अन्तरात्मा सर्वप्रथम अपनी क्रिया आरम्भ करती है। वाह्य पदार्थों की अनुभूति भी सबसे पहले इन्द्रियो द्वारा होती है। इन अनुभूतियो से उत्पन्न भावो को ही इन्द्रियजनित भाव कहते हैं। जीभ द्वारा किसी स्वादिष्ट भोजन के आस्वादन से हमें जिस भाव की अनुभूति होती है वह इन्द्रियजनित ही है। इन भावों को ही सामान्य भाव भी कहते हैं।

प्रज्ञात्मक भाव—प्रज्ञात्मक भाव वे हैं जो मन की अनुभव प्राप्त करने वाली शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। इन्द्रियजनित भाव मन व्यापार शक्ति की प्रथम क्रिया सद्य प्राप्त प्रतिफल है किन्तु प्रज्ञात्मक भाव उस क्रिया प्रतिक्रिया से पुष्ट ज्ञान का परिणाम है। दोनो प्रकार के भावो में यही अन्तर है। इन्द्रियजनित भाव सीधे इन्द्रिय ज्ञान से प्राप्त होते हैं और प्रज्ञात्मक भाव भूत, भविष्य और वर्तमान के अनुभवों द्वारा उन इन्द्रियजनित भावो को पुष्टतर करते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि

कोई व्यक्ति अपनी नेत्र ज्योति खो देता है उसे चक्षु विहीन होने का जो दुख हुआ वह इन्द्रियजनित कहलाएगा। किन्तु यदि वह यह चिन्ता करे कि अब वह अपने जीवन को किस प्रकार व्यतीत करेगा तब यह चिन्ताजनित भाव प्रज्ञात्मक भाव कहलाएगा। प्रज्ञात्मक भावो का सम्बन्ध भूत, भविष्य और वर्तमान से अधिक होता है। भविष्य को सोचकर चिन्ता का और भूत को सोचकर विषाद का भाव उत्पन्न होता है। साधारणतया काव्य में यही भाव सचारी भाव कहलाते हैं और कभी-कभी स्थायी भाव का रूप भी धारण कर लेते हैं।

गुणात्मक भाव—तीसरे प्रकार के भाव गुणात्मक भाव कहलाते हैं। इन भावो का सम्बन्ध मनोमुग्धकारी सौन्दर्य-बोध से होता है। किसी व्यक्ति के या वस्तु के विषय में जानने की प्रवृत्ति मन में होती है इस इच्छा को पूर्ण करने वाली वृत्ति प्रज्ञात्मक भाव कहलाती है किन्तु जब हम किसी सुन्दर वस्तु या गुणवान व्यक्ति को देखते हैं तो उसके प्रति मन में एक आदर्श की भावना उदित होती है हम उसको प्राप्त करने या उसके अनुकूल होने की इच्छा करते हैं। इसी भाव को सौन्दर्य विवेकी भाव कहते हैं जिनका गुणात्मक भावो से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इन्द्रियजनित और प्रज्ञात्मक भावो से गुणात्मक भाव अधिक व्यापक और तीव्र होते हैं। इन्द्रियजनित भाव सामान्य भाव की कोटि में आते हैं। गुणात्मक भावो को उद्दीप्त भावो की सज्ञा दी जा सकती है। प्रज्ञात्मक इन सामान्य और उद्दीप्त भावो में सम्बन्ध स्थिर करने वाले साधन हैं। गुणात्मक भाव ही रागात्मक सम्बन्ध का प्रसार करते हैं। किसी के गुणो को देखकर उद्दीप्त हुआ मन अपनी शक्ति को उन गुणो की ओर प्रेरित करता है। अत गुणात्मक भावों में आलम्बन विशेष की आवश्यकता रहती है। यह आलम्बन जड की अपेक्षा चेतन होने पर अधिक उद्दीपक होता है, क्योकि एक अन्तरात्मा दूसरी अन्तरात्मा के रागात्मक सम्बन्ध का परस्पर अनुभव कर सकती है।

भावानुभूति और रस—काव्य का लक्ष्य रस परिपाक होता है। रस परिपाक में भाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दोनो के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने लिखा है—

'न भाव हीनोस्त्ति रसो न भावो रस वर्जित'

रस की निष्पत्ति भावो के विविध स्वरूपो के सम्मिश्रण से होती है। 'विभावानुभाव व्यभिचारी सयोगात् रस निष्पत्ति' भरत मुनि के इस रस सूत्र में विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव आदि शब्द भाव के ही विविध रूपान्तर हैं। भाव ही रस से पुष्ट होकर विभाव अनुभाव आदि का रूप धारण करते हैं। इन्ही के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय सम्वादी गुण का विकास होता है। एक के हृदय का दूसरे के हृदय के अनुरूप होना ही हृदय सम्वाद कहलाता है। आलोचको ने हृदय सम्वाद और साधारणीकरण को पर्यायवाची माना है। साधारणीकरण रसानुभूति की पराकाष्ठा है। इसी स्थल पर आकर कवि की भावधाराएँ सर्वसाधारण की भावनाएँ हो जाती हैं। कवि की भावनाओं का यथार्थरूप में अनुभव होने पर रसानुभूति होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भाव जब रसावस्था को प्राप्त होते हैं तभी साधारणीकरण की स्थिति होती है। बूचर ने इसी

को 'Purification of Passions' कहा है। चार्ल्स विलियम ने भी भाव के हृदययोग में ही कला की स्थिति मानी है। कला रस रूप आनन्द का प्रसार तभी करती है जब उसमें सभी की भावनाओ से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता हो। बूचर ने लिखा है कि प्रत्येक सुकुमार कला की भाँति काव्य का उद्देश्य भी समुचित आनन्द की सृष्टि करना है। वर्ड्स्वर्थ ने आनन्द के लिए Passion का, कीट्स ने Joy का, और क्रोचे ने Pure Poetic Joy का प्रयोग किया है। यही आनन्द भारतीय धर्म साधना और साहित्य साधना का लक्ष्य है और रसरूप से प्रसिद्ध है। उपनिषदो में 'रसोवैस' कहकर आनन्दरूप ब्रह्म को रसमय कहा है। साहित्य का आनन्द या रस भी ब्रह्मानन्द के समकक्ष[1] माना गया है। हेमचन्द्र ने लिखा है कि आनन्द रसास्वाद से उत्पन्न होता है। रसास्वाद कवि की भावनाओ का ही किया जाता है। आत्मा की मनन क्रिया ही जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, साहित्य कहलाती है। काव्य या साहित्य मानवीय अनुभवो को अभिव्यक्त करने की कला है। इस प्रकार भाव और रस परस्पर सम्बन्धित तत्त्व है। आनन्द या रस हृदय पक्ष या भाव पक्ष की अनन्य निधि है। जिस काव्य में यह निधि वर्तमान रहती है वही श्रेष्ठ काव्य होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने महाकवि की वाणी की विशेषता का सकेत करते हुए उसमें जिस ललना लावण्य सदृश अनिर्वचनीय तत्त्व की अवस्थिति वताई है। हमारी समझ में वह हृदय पक्ष या भाव पक्ष-प्रधान कविता में ही रहती है।

भावानुभूति और रसानुभूति में बहुत कम तात्विक भेद है। भावानुभूति की स्थिति कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति पाठक या श्रोता को होती है। इसका यह अर्थ नही कि कलाकार रसानुभूति से और पाठक काव्यानुभूति से वचित रहते हैं। दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप हैं। कवि में विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है और पाठक में ग्राहक की। सौन्दर्यानुभूति भावो को जन्म देती है। भाव के उदय होने पर कलाकार अपने काव्य की सृष्टि करते हैं। पाठक या श्रोता काव्य रूप में परिणित इन्हीं भावों की रसानुभूति करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-भावना काव्यानुभूति की जननी सिद्ध हुई और काव्यानुभूति रसानुभूति की। कवि को भावना के यथार्थ सौन्दर्य का रसास्वादन वास्तव में सहृदय पाठक ही करते हैं। इसी वात को एक सस्कृत कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"कविता रस माधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कवि
भवानी भ्रकुटीभङ्ग भवोवेत्ति न भूधर"

अर्थात् कविता के रस माधुर्य को अन्य कवि या सहृदय जन ही जान सकते है न कि उसका रचयिता कवि जैसे कि भवानी के भ्रू विलासों को भवानीभर्ता भव ही जानते हैं उनके जनक हिमालय नही जान सकते।

इस प्रकार कवि की भावानुभूति की अपेक्षा रसानुभूति का अधिक महत्त्व है। पाश्चात्य विद्वान विंचेस्टर ने भावो को तीव्र कर रस दशा को पहुँचाने वाले निम्न-

---

१ ब्रह्मास्वाद सहोदर। —साहित्यदर्पण

लिखित पाँच तत्त्व माने हैं—

१ भावना का औचित्य (Propriety) ।
२ वर्ण्य विषय को स्पष्ट करने की शक्ति (Vividness) ।
३ मनोवेग या भावनाओ का स्थायित्व (Steadiness) ।
४ भावनाओ की व्यापकता और विविधता (Range and variety) ।
५ गुणो की व्यापकता (Rank of quality) ।

भावोद्भावना शक्ति या प्रतिभा—पाश्चात्य साहित्य में कल्पना पर प्रधान रूप से विचार किया गया है। भारतीय आचार्यो ने कल्पना के स्थान पर प्रतिभा का विश्लेषण किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावना और कल्पना को पर्यायवाची कहा है। दोनो को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

"जो वस्तु हम से अलग है हम से दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'।"

कवि की भावना जनसाधारण की भावना से भिन्न होती है। कवि किसी मूर्ति के सामीप्य का अनुभव मात्र ही नही करते बल्कि उन भावनाओ के सम्मिश्रण से नवीन चित्रो की उद्भावना भी करते हैं। इस नवीन उद्भावना के लिए उनमें एक शक्ति विशेष होती है जिसे भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा कहा है। आचार्य भामह ने कवि-कर्म-विधान का नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा ही पूर्ण होना कहा है—

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता
तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुण कवि"

इसी प्रतिभा के सहारे कवि पदार्थो को अपने मनोनुकूल रूप और आकार देते हैं। असामान्य अलौकिक पदार्थ भी उनकी कल्पना के सहारे सत्य और प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेते हैं। 'अग्निपुराण' के रचयिता वेदव्यास जी ने कवि को काव्य ससार का प्रजापति कहा है—

"अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति
यथास्मै रोचते विश्व तथेदं परिवर्तते"

डा० के० सी० पाण्डेय ने प्रतिभा के सम्बन्ध में लिखा है—"The power of clear visualisation of the aesthetic image is all its fullness and life is technically called 'Pratibha" (Indian Aesthetics, page 151) अर्थात् किसी सौन्दर्यात्मक पदार्थ के स्पष्ट अन्तर्दर्शन करने वाली शक्ति को प्रतिभा कहते हैं।

इस विशिष्ट प्रतिभा (Genius) मे युक्त होने पर कवि की भावनाएँ मूर्त्त विधान करने के लिए प्रेरित होती हैं। सौन्दर्यबोध से भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं और बुद्धिज व्यापार द्वारा इन भावनाओ में व्यवस्था, क्रम और मर्यादा स्थापित होती है। काव्य-सृजन की इन सभी क्रियाओ में प्रतिभा ही प्रमुख कार्यकारिणी शक्ति है। मम्मट के प्रसिद्ध काव्य हेतु 'शक्ति, निपुणता, लोकशास्त्र' आदि में शक्ति से प्रतिभा का ही

तात्पर्य है। काव्य प्रयोजन का सर्वप्रथम कारण प्रतिभा ही है। आनन्दवर्धनाचार्य महाकवि की प्रतिभा की अभिव्यक्ति उनकी रचना के प्रतीयमान अर्थ से ही मानते हैं—

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम्
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्"

अर्थात् काव्य के आस्वादनीय अर्थ तत्त्व को स्फुरित करने वाली महाकवियो की वाणी उनकी अलौकिक असामान्य प्रतिभा विशेष को प्रकट करती है—वे विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न महान् कवियो में कालिदास आदि पाँच-छ कवियो को ही स्थान देते हैं। ऐसे कवियों में प्रतिभा सस्कारजन्य ही होती है। आचार्य रुद्रट ने दो प्रकार की प्रतिभा का उल्लेख किया है—सहजा और उत्पाद्या। सहजा प्रतिभा कवि को जन्म सुलभ वरदान के रूप में प्राप्त होती है किन्तु उत्पाद्या किसी पूर्व पुण्य के प्रभाव से या देवता के प्रसाद आदि से उत्पन्न होती है। कवि के अतिरिक्त पाठक में भी प्रतिभा रहती है। काव्य के मर्म को समझने वाले सहृदय पाठक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न ही होते हैं।

कल्पना तत्त्व

पाश्चात्य काव्य जगत में कल्पना का विशेष महत्त्व है। काव्य के आवश्यक तत्त्वो में कल्पना को सर्व-प्रमुख तत्त्व माना गया है। महाकवि शेक्सपियर ने लिखा है—

"The lunatic the lover and the poet are of imagination all compact"

अर्थात् उन्मत्त, प्रेमी और कवि इन तीनो का कल्पना से अविरल सम्बन्ध है।

इस पक्ति से यह स्पष्ट है कि शेक्सपियर ने कल्पना को कवि का प्रधान गुण माना है।

ड्यूगल्ड स्ट्यूवर्ट (Dugald Stewart) नामक विद्वान् ने भी इसी प्रकार लिखा है—

"An uncommon degree of imagination constitutes poetical genius"

अर्थात् असाधारण कल्पना ही काव्य निर्माण की शक्ति उत्पन्न करती है।

कल्पना के सम्बन्ध में दार्शनिक कान्ट का मत

सर फिलिप मैगनस (Sir Phillip Magnus) ने अपनी 'English Studies' नामक पुस्तक में पृष्ठ ८६ पर केन्ट द्वारा विवेचित कल्पना के स्वरूप का सक्षिप्त पर सुन्दर निदर्शन किया है। मैगनस ने लिखा है कि केन्ट ने तीन प्रकार की कल्पना निर्धारित की है—

१ The reproductive imagination अर्थात् पुनर्निर्माण करने की शक्ति रखने वाली कल्पना। कॉलरिज (Colridge) ने इस शक्ति को 'fancy' कहा है। यह शक्ति मन क्षेत्र में वर्तमान विविध अव्यवस्थित तत्त्व सघातो को पुनर्प्रतिष्ठित (Reproduce) करती है।

२ The productive imagination अर्थात् उद्भावना करने वाली कल्पना शक्ति। कॉलरिज की 'Primary imagination' बहुत कुछ इसी से मिलती है। इसके द्वारा मन विविध अव्यवस्थित तत्त्व सघातों की पुनर्प्रतिष्ठित सामग्री से नवीन रूपो की योजना करता है।

३ Aesthetic imagination अर्थात् सौन्दर्य बोध करानेवाली कल्पना। केन्ट के मतानुसार इस कल्पना का सम्बन्ध बुद्धि (understanding) से अधिक रहता है। इस सम्बन्ध को उसने स्पष्ट भी किया है। उसने दो प्रकार के विचार बताए हैं—

१ Rational ideas या तर्कप्रधान विचार।

२ Aesthetic ideas या अनुभूतिमूलक विचार।

अनुभूतिप्रधान विचारों की योजना वह सौन्दर्यबोधात्मक कल्पना (Aesthetic imagination) से ही मानता है।

कॉलरिज का कल्पना सम्बन्धी मत

कॉलरिज के कल्पना सम्बन्धी मत को समझने के लिए सघातवाद (Associationism) के सिद्धान्त को समझ लेना आवश्यक है। इस मत के अनुयायी तत्त्व को निर्जीव अणुओ का सघात मानते हैं जो कि एक निश्चित गतिनियम (Law of motion) के अनुरूप चलता रहता है। काव्य में भी मन को यन्त्रवत् सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इधर प्रकृतिविज्ञानवादी न्यूटन ने भी मानव मन के व्यापारो को प्रकृति विज्ञान के सहारे यन्त्रवत् सिद्ध करने का प्रयास किया है। अत सघातवादी और प्रकृतिविज्ञानवादी दोनो ने ही मन को विचारो का निष्क्रिय प्राप्ता (Passive recipent) कहा है।

कॉलरिज ने इसके विरुद्ध मन को सक्रिय माना है। उसका दृढ़ निश्चय था—

"To make perception possible there is needed an active power of mind itself" अर्थात् दर्शनानुभूति के लिए मन का स्वय सक्रिय होना आवश्यक है। कॉलरिज ने 'इमेजिनेशन' (कल्पना) को 'फैन्सी' (Fancy) से भिन्न माना है। उसके मतानुसार 'फैन्सी' वह प्रवृत्ति है जो चित्र सघातो को उत्पन्न करती हैं। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मेगनस ने इस प्रकार लिखा है—

"The fancy, according to him, is the faculty which produces compound images It simply constructs new arrangements of past sense experience and its products are purely the result of an associative and not a creative process"

अर्थात् कॉलरिज के अनुसार 'फैन्सी' वह प्रकृत शक्ति है जिसके द्वारा चित्र-सघातो की उत्पत्ति होती है। यह पूर्व परिचित तथ्यो मे ही नवीन चित्रो की उद्भावना करती है। यह उद्भावनाएँ समन्वय द्वारा होती हैं।

कल्पना को उसने उत्पादक शक्ति कहा है। इस कल्पना के दो भेद किए हैं—

१ "Primary imagination which acting upon the raw-materials of sensation enables us to have perception" अर्थात् प्राथमिक कल्पना जो

स्वभाव उत्पन्न करने वाले तत्वो के सहारे दर्शनानुभूति की शक्ति देती है।

२ Secondary imagination—गौण कल्पना।

उसके मतानुसार काव्य-क्षेत्र में यही कार्य करती है। कॉलरिज द्वारा किए गये कल्पना के इन दोनो विभागो के अन्तर को मैगनस ने इस प्रकार प्रकट किया है—

"It is like primary imagination in kind and differs only in *degree and in the mode of its operation* The difference would seem to mean that it acts in accordance with the will The primary imagination is involuntary, we perceive whether we wish or not" अर्थात् दोनो प्रकार की कल्पना का स्वरूप तो एक ही होता है। स्थिति में अन्तर है। सेकन्डरी इमेजिनेशन (Secondary imagination) की योजना इच्छा-शक्ति पर निर्भर है किंतु प्राइमरी इमेजिनेशन (Primary imagination) अपने आप उदित होती है और अपना कार्य करती है।

सक्षेप में कॉलरिज की कल्पनाविषयक धारणा यही है।

क्रोचे का कल्पना सम्बन्धी मत

क्रोचे (Benedetto Croce) इटली के विख्यात दार्शनिक और साहित्यिक थे। इन्होंने अपने दर्शन को 'Philosophy of Spirit or Mind' अर्थात् मन का दर्शन कहा है। इस दर्शन के चार भाग किए हैं—

१ सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetic as science of Expression and General Linguistic)।

२ तर्कशास्त्र (Logic as the science of pure concept)।

३ व्यवहार दर्शन (Philosophy of Practice, Economics and Ethics)।

४ इतिहास का सिद्धान्त (The Theory and History of History)।

सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत क्रोचे ने कल्पना का विवेचन किया है। कल्पना के द्वारा ही मानव सौन्दर्यानुभव करता है। सौन्दर्य और कल्पना के सम्बन्ध को उसके मन के विविध व्यापारो को स्पष्ट करते हुए समझाया है। उसके विवेचन का सार इस प्रकार है—

मन एक व्यापार है। उसके मतानुसार इस मन व्यापार के यद्यपि बहुत से रूप हैं किन्तु वे अलग-अलग नही किए जा सकते। विल्डन कार (Wildon Carr) ने अपनी 'The Philosophy of Benedetto Croce' में क्रोचे के इस मत को स्पष्ट किया है—

"Every form which reality assumes or can assume for us has its ground within mind There is not and there cannot be a reality that is not mind This mind which is reality or this reality which is mind is an activity the forms of which we may distinguish but we cannot separate them"

अर्थात् प्रत्येक कृति जो सत्य है या सत्य कही जा सकती है मस्तिष्क की ही उपज होती है। ऐसा कोई सत्य नही है जिसकी स्थिति मन में न हो। यह मन ही सत्य है या सत्य ही मन है। यह एक क्रिया है जो अखड है। उसके भिन्न-भिन्न रूपो को देखा जा सकता है किन्तु इन रूपो को एक दूसरे से अलग नही कर सकते।

मन ही अपने विविध व्यापारो द्वारा वह वस्तु निर्मित करता है जिसे सत्ता कहते हैं। मन व्यापार के स्थूल रूप से दो स्वरूप हैं—

१ ज्ञान या प्रज्ञा—अर्थात् किसी भी विषय का बोध होना। यह पक्ष सैद्धान्तिक या तात्विक है। यह मन व्यापार की प्रथम स्थिति है।

२ क्रिया या सकल्प—बोध व्यापार के पश्चात् उसके आधार पर या उसके अनुरूप क्रिया करना। यह पक्ष व्यावहारिक है। यह मन व्यापार की दूसरी स्थिति है।

ज्ञान और क्रिया इन दोनो मन व्यापारो के भी भेदोपभेद किये गये है। ज्ञान के दो रूप बताए हैं—

१ स्वयप्रकाशज्ञान (Intuition)—इसे कलात्मक ज्ञान भी कहते है। इसके सहारे हमें किसी विशिष्ट वस्तु के विशिष्ट गुण का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का उदय कल्पना द्वारा होता है।

२ प्रभा या तर्क ज्ञान (Concept)—इसके द्वारा भिन्न प्रतीत होने वाली वस्तुओ के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होता है। यह ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है।

मानस व्यापार की दूसरी स्थिति क्रिया या सकल्प के भी दो भेद किए हैं—

१ योगक्षेम की भावना द्वारा की गई क्रिया (Economic activity)।

२ मगल भावना से की गई शास्त्रानुमन क्रिया (Ethic activity)।

इस प्रकार मानस व्यापार रूपी सत्ता के चार विभाग या श्रेणियां है जिनके अनुरूप ही वह चित्रों की सृष्टि करता है। वे श्रेणियां निम्नलिखित हैं—

१ सुन्दरम् (Beauty)।
२ सत्यम् (Truth)।
३ प्रेय (Usefulness)।
४ श्रेय (Goodness)।

प० वलदेवप्रसाद उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में

उपर्युक्त मन व्यापार के विभिन्न रूपों को तालिका द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया है—
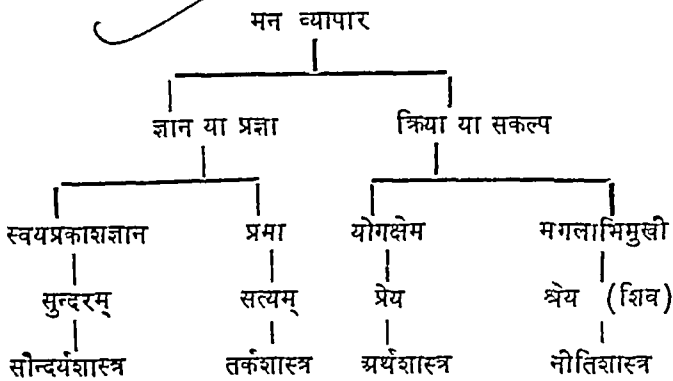
सौन्दर्यशास्त्र या कला का सम्बन्ध क्रोचे ने स्वयप्रकाश ज्ञान (Intuition) से माना है। उसके अनुसार यही सबसे पहला मानस व्यापार है, इसमें कल्पना का महत्त्व अधिक और बुद्धि का बहुत कम है। क्रोचे द्वारा विवेचित कल्पना के स्वरूप, व्यापार और स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर उसके स्वयप्रकाश ज्ञान का श्री बलदेव उपाध्यायकृत सक्षिप्त विवेचन दृष्टव्य है—

स्वयंप्रकाशज्ञान—स्वयप्रकाशज्ञान को प्रतिभाज्ञान भी कह सकते हैं। इसी के सहारे कला-कृतियो का निर्माण होता है। 'स्वयप्रकाश' का अर्थ है मन में सहजानुभूति द्वारा स्वत विकसित हुई भावनाएँ। इन भावनाओ का सौन्दर्यानुवेष्टित मूर्त्त-विधान कल्पना द्वारा होता है। तत्पश्चात् विचार (प्रमा) द्वारा इन मूर्तियो का जाति-ज्ञान होता है। कल्पना ही मानव मस्तिष्क का सौन्दर्य बोधात्मक व्यापार (Aesthetic activity) है। यह आत्मा की निजी क्रिया है जो दृश्य जगत के नाना रूपो तथा व्यापारो को आत्मसात् कर उसके सौन्दर्यात्मक पक्ष का उद्घाटन किया करती है। कलाकार की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। क्रोचे के अनुसार "प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से ही कलाकार होता है। सर्वप्रथम वह कवि या कलाकार बनता है तदनन्तर वह कवि होने के कारण ही दार्शनिक हो जाता है। मनुष्य जगत को समझता है और वही उसे बदलता भी है। जानता है और इसलिए वह बदल सकता है।" यह कार्य मनुष्य ज्ञान के सहारे ही कर सकता है। यह ज्ञान दो प्रकार का है— कल्पना (Imagination) और विचार (Thought)। 'कल्पना शक्तिसौन्दर्य बोधात्मक व्यापार है इसी के कारण मनुष्य कलाकार बनता है। विचार शक्ति के द्वारा वह तत्त्ववेत्ता बनता है।'

उपर्युक्त अवतरण में उपाध्याय जी ने क्रोचे के कल्पना सिद्धान्त की निम्न-लिखित बातो पर विशेष बल दिया है—

१ कल्पना का स्वयंप्रकाशज्ञान (Intuition) से सीधा सम्बन्ध है।

२ कल्पना मानव-मस्तिष्क की सौन्दर्यबोधात्मक प्रवृत्ति की प्रक्रिया है।

३ ज्ञान को उसने ससार के समस्त सकल्पो का मूल कारण माना है। यह ज्ञान उसके मतानुसार दो प्रकार का है—कल्पनारूप (स्वय प्रकाश) और विचार-रूप (प्रमा)।

"कल्पना वस्तुओ के सहज और वास्तविक रूप को ज्यो का त्यो ग्रहण करती है। विचार वस्तुओ के रूप का ग्रहण बुद्धि के माध्यम से करता है।"

४ कल्पना मूर्त्त विधायिनी शक्ति है। यह शक्ति विचार-शक्ति की प्रथम भूमिका कही जा सकती है। कवि कल्पना के सहारे सहज रूपो को सहज ढग से अभि-व्यक्ति करता है। आलोचक विचार-शक्ति के सहारे उनकी विवेचना करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रोचे के मत में कल्पना-शक्ति विचार-शक्ति मे बिल्कुल भिन्न होती है।

भारत मे कल्पना पर विचार

भारत में कल्पना को काव्य का एक स्वतन्त्र तत्त्व नही माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने इसका सकेत भावना या प्रतिभा के अतर्गत किया है। अभिनवगुप्त पहला भारतीय दार्शनिक है जिसने कल्पना पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। उसने कल्पना को अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ-प्रज्ञा (अपूर्व वस्तु निर्माण-क्षमा प्रज्ञा-लोचन) माना है। पडित राज जगन्नाथ ने इसे 'काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति' (काव्य घटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति—रस गगाधर) कहा है।

रामचन्द्र शुक्ल का कल्पना सम्बन्धी मत—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना पर मनोवैज्ञानिक रीति से विचार किया है। उन्होने प्रतिभा और भावना को उसका पर्यायवाची माना है। उनके अनुसार धर्मक्षेत्र में जो स्थान उपासना का है साहित्य क्षेत्र में वही स्थान कल्पना का है। उन्होने लिखा है—"जो वस्तु हम से अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव कराना उपा-सना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते है और आजकल के लोग कल्पना। जिस प्रकार भक्ति के लिए ध्यान और उपासना आवश्यक होती है उसी प्रकार भावो के प्रवर्तन के लिए भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"

(चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ २१९)

उपर्युक्त अवतरण से प्रगट है कि शुक्ल जी ने कल्पना को मन की क्रिया माना है। यही क्रिया वस्तुओ के विशेष रूपाकारो को हमारे मन चक्षु के समक्ष प्रस्तुत कर अनुभवगम्य बनाती है।

उन्होने लिखा है—

"कल्पना है कि काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रस-वादियों ने भाव के योग में ही अन्तर्भूत माना है। (इन्दौर वाला भाषण, पृ० २०)

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी कल्पना को भाव से ही सम्बन्धित मानते हैं। इस क्षेत्र में वे रिचर्डस से प्रभावित कहे जा सकते हैं। कल्पना और भाव के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए वे कहते हैं—

"अतएव काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या सचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती अत काव्य में हृदय की अनुभूति अगी है, मूर्त्त रूप भावप्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी है।" (इन्दौर वाला भाषण)

इसी भाव को उन्होने अपनी सूरदास वाली आलोचना में और भी स्पष्ट कर दिया है—

"काव्य जगत की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढकर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है तब उसे हम सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं।"

उसी स्थल पर आगे फिर वे लिखते हैं—

"भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक काव्य मीमासक में दोनों को एक ही कहना ठीक समझकर कह दिया है—कल्पना आनन्द है।"

—सूरदास, पृ० २८-२६

उपर्युक्त अवतरणो से एक बात और स्पष्ट होती है वह यह कि शुक्ल जी कल्पना को काव्य का प्रमुख साधन मानते थे साध्य नहीं। उन्होंने यह बात एक स्थल पर स्पष्ट भी कर दी है।

"योरोपीय साहित्य मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन—पर साधन है साध्य नहीं।"

शुक्ल जी ने कल्पना के दो रूप माने हैं—

१ विधायक कल्पना अर्थात् मूर्त्त विधान करने की शक्ति।

२ ग्राहक कल्पना अर्थात् इन चित्रो को ग्रहण करने या समझने की शक्ति।

उसके मतानुसार विधायक कल्पना कवि में होती है और ग्राहक कल्पना श्रोता या पाठक के लिए अधिक अपेक्षित होती है। यहाँ पर शुक्ल जी स्पष्ट ही राजशेखर से प्रभावित जान पडते हैं। उसके द्वारा किये गये प्रतिभा के कारयत्री और भावयत्री विभेद ही शुक्ल जी में विधायक और ग्राहक कहे गये हैं। आचार्य शुक्ल और क्रोचे के कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्तो में जो अन्तर है उनका निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

क्रोच ने कल्पना को ज्ञानक्षेत्र की वस्तु माना है, किन्तु शुक्ल जी उसके विपरीत कल्पना को भावक्षेत्र की वस्तु मानते थे किन्तु बुद्धिक्षेत्र से भी उसका थोडा बहुत सम्बन्ध बनाये रखते हैं। वास्तव में शुक्ल जी तुलसी के समान सामञ्जस्यवादी थे। काव्यक्षेत्र में भी उन्होंने बुद्धिक्षेत्र और भावक्षेत्र दोनो का सामञ्जस्य विधान कर कल्पना को उन दोनों से सम्बन्धित किया है। किन्तु भारतीय रसवादी आचार्य होने के कारण वे उसे कही-कही भावक्षेत्र से अधिक सम्बन्धित कह गए हैं।

शुक्ल जी के मतानुसार कल्पना काव्य के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो पक्षो की योजना में सहायक होती है। प्रस्तुत पक्ष में यह रूपविधान करती है। और अप्रस्तुत पक्ष के अन्तर्गत यह अलकार योजना करती है। उन्होंने लिखा है—

"प्रस्तुत पक्ष का रूपविधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है।"

—इन्दौर वाला भाषण, पृ० ७४

एक दूसरे स्थल पर वे लिखते हैं—

"अलकार विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है।"

डा० श्यामसुन्दरदास का मत

डा० श्यामसुन्दरदास ने कल्पना पर भिन्न रूप से ही विचार किया है। उन्होने दार्शनिको के अनुकरण पर ज्ञान की पाँच अवस्थाएं मानी हैं—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। परिज्ञान के सहारे वस्तुओ के प्रत्यक्ष रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। स्मरण ज्ञान के सहारे पूर्व-परिचित या पूर्व-अनुभव की हुई वस्तु का मन चक्षु के सम्मुख पुनर्साक्षात्कार होता है। उन दोनो ज्ञान के मिश्रित प्रयास से नवीन रूपो की सृष्टि की जाती है। यह नवनिर्माण करने वाली मानसिक प्रक्रिया को कल्पना कहते हैं। उन्होने कल्पना के दो भेद ध्वनित किए हैं—

१ साधारण कल्पना

२ मन की तरग

साधारण कल्पना को वे मन की तरग से पूर्व की वस्तु मानते हैं।

मन की तरग कल्पना की दूसरी अवस्था है इसमें मनोरागो की स्थिति रहती है। उनके मतानुसार इन्ही रागो की उत्तेजना से कल्पना का उद्भव और विकास होता है। काव्य में यही कल्पना मधुर और ध्वन्यात्मक शब्दो के अभिधान से परिवेष्टित होकर आनन्द का उद्रेक करती है। कल्पना की पराकाष्ठा तभी समझी जाती है जब यह कल्पना उत्तेजित होकर नव चित्रो की उद्भावना करती है। कवि और लेखक की सफलता मौलिक उद्भावना में ही होती है। यह कल्पनाजनित आनन्द द्विविध होता है। एक बार तो पदार्थों के वास्तविक अवलोकन से आनन्द मिलता है और दूसरी बार पूर्व-परिचित पदार्थों के स्मरण से वही आनन्द पुन अनुभूत होता है। डा० श्यामसुन्दरदास का यह मत मनोविज्ञान के आधार पर विकसित हुआ है।

गुलाबराय का कल्पना सम्बन्धी मत

गुलाबराय जी ने भी कल्पना पर विचार किया है। उन्होने कल्पना की परिभाषा इस प्रकार दी है—'कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं।'

—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ६७

उन्होने सघातवादियो (Associationist) और कॉलरिज इन दोनो के मतों को स्वीकार-सा किया है। सघातवादियो के समान वे कल्पना को असकल्पित (Passive) मानते हैं और कॉलरिज के अनुकरण वे कल्पना को सकल्पित (Active) भी कहते हैं। इस प्रकार उन्होने कल्पना दो प्रकार की मानी है—

१ Passive या असकल्पित—यह कल्पना ही दिवास्वप्न (Day dreams) या स्वच्छन्द कल्पना (Fancy) का प्रतिरूप है।

२ Active या सकल्पित—

सकल्पित कल्पना के भी दो भेद किए हैं—

१ पुनरावृत्त्यात्मक (Reproductive)—जब पिछले दृश्य ज्यो के त्यो मन चक्षु के समक्ष आते हैं।

२ सृजनात्मक (Productive)—जब पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना द्वारा लाए हुए चित्रो के सहारे अभिनव चित्र विधान किए जाते हैं।

प्रतिभा को गुलाबराय जी ने असाधारण प्रकार की कल्पना कहा है। उसको असकल्पित और सकल्पित कल्पना के बीच की वस्तु कहा है तथा काव्यक्षेत्र में दिवा-स्वप्न, स्वच्छन्द कल्पना पुनरावृत्त्यात्मक और सृजनात्मक चारों प्रकार की कल्पनाएँ आवश्यक मानी हैं। इस प्रकार गुलाबराय के कल्पना सम्बन्धी भेदोपभेदों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
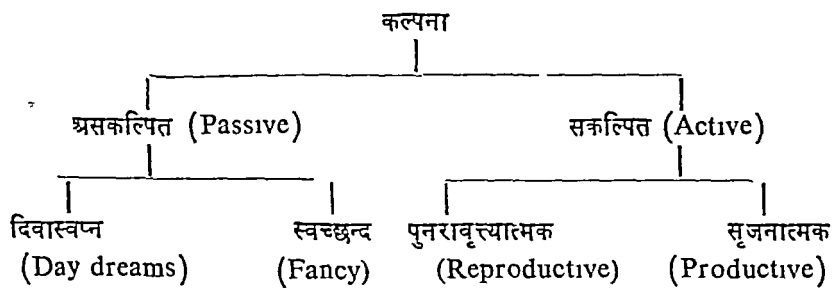
गुलाबराय जी ने भी कल्पना का विवेचन मनोविज्ञानशास्त्र के आधार पर किया है। मनोविज्ञानशास्त्र में भी कल्पना के दो भेद किए गए हैं—'Passive' और 'Active'। डा० सिन्हा ने 'A mannual of psychology में लिखा है—

"In passive imagination the mind is comparatively passive It does not exert itself It does not make any effort of the will to picture any images The images come of themselves to the mind and are combined automatically by the suggestive forces This easy approach of imagination is called passive imagination In active imagination the mind exert itself to picture an image Here the images are not automatically combined by suggestive forces The combination of images is affected by the effort of the will"

अर्थात् असकल्पित कल्पना में मन अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहता है। यह क्रियाशून्य रहता है। वह इच्छा-शक्ति का किसी भी प्रकार के चित्रो के विधान को प्रेरणा नही देता। चित्र मन पटल पर स्वयमेव आते हैं और ध्वन्यात्मक शक्तियो से समन्वित हो जाते हैं। कल्पना का सरल और स्वाभाविक रूप असकल्पित रूप कहलाता है। सकल्पित कल्पना मन चित्र विधान के स्वयं प्रवर्तित होता है। यहाँ चित्र ध्वन्यात्मक शक्तियो से समन्वित हो जाते हैं। चित्रो की एकता इच्छा-शक्ति से सम्पन्न होती है।

श्री अरविंद घोष—उन्होने भी कल्पना के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। उनकी 'The future Poetry, Style and Substance' नामक रचना में लिखा है कि कल्पनाएँ दो प्रकार की होती हैं—सकल्पित (Subjective) और असकल्पित (Objective)। सकल्पित कल्पना दृढता के साथ उन समस्त मानसिक और भावात्मक सस्कार चित्रो के प्रत्यक्षीकरण में समर्थ होती है जो जीवन और जगत् के सकल्प से हमारे मन पटल पर अकित होते रहते है। असकल्पित कल्पना का कार्य केवल जीवन और वस्तुओ के वाह्यरूपो तक ही सीमित रहता है।

उपर्युक्त समस्त मतो की आलोचना और सार

कल्पना पर प्रमुख रूप से तीन क्षेत्रो में विचार हुआ है—दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञानशास्त्र और साहित्यशास्त्र। अत विद्वानो ने इन्ही तीनो क्षेत्रो के आधार पर कल्पना के स्वरूप को समझाने की चेष्टा की है। कुछ विद्वानो ने उसे दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है। कुछ उसे साहित्यिक दृष्टिकोण से व्यक्त करते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने तीनों क्षेत्रो के समन्वित सिद्धान्त के आधार पर अपना मतवाद प्रगट किया है। इन विद्वानो को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है—

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक वर्ग—इस वर्ग में पाश्चात्य दार्शनिक केन्ट तथा अन्य मनोवैज्ञानिक आते हैं। हिन्दी विद्वान डा० श्यामसुन्दरदास तथा गुलाबराय भी इसी वर्ग में आयेंगे।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान्—इस क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वान् कॉलरिज और भारतीय विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामञ्जस्यवादी वर्ग—क्रोचे सामञ्जस्यवादी था। उसने दर्शनिक दृष्टिकोण से साहित्य की विवेचना की है। उसका मत था कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से कवि होता है और कवि होने के वाद दार्शनिक भी होता है। कल्पना मन के सहज-स्वाभाविक ज्ञान की प्रक्रिया है। इसी के सहारे अभिव्यञ्जना के साँचे में ढलकर साहित्य और काव्य में मूर्तियाँ निर्मित की जाती हैं।

विशिष्ट वर्गों के अनुयायी होते हुए भी सभी विद्वानो के मतो में कुछ समान मान्यताएँ हैं--

१ सभी विद्वानो ने मूर्त्त विधान करना कल्पना का आवश्यक व्यापार माना है किन्तु यह मूर्त्तविधान व्यावहारिक और साहित्यिक दो प्रकार का हो सकता है। साहित्यिक मूर्त्तविधान वही हो सकता है जो शुक्ल जी के शब्दो में किसी भाव या अन्तर्वृत्ति से परिचालित होगा। कॉलरिज भी इसी प्रकार कल्पना के जड स्वरूप (Passivity) में विश्वास नही करता। इसीलिए यह लोग कवियो की दिवास्वप्न (Day dreaming) के विरोधी हैं। शुक्ल जी के छायावाद के विरोध का मूल कारण छायावादी कवियो की स्वच्छन्द कल्पना और उनका स्वप्न जगत ही है। छायावादी कवियो के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे कल्पना के जडरूप (Passivity) में विश्वास करते हैं। महादेवी वर्मा ने एक स्थल पर लिखा है—"कवि को वास्तविक दृष्टा के साथ स्वप्न दृष्टा भी होना

चाहिए ।" इससे स्पष्ट है कि कल्पना के क्षेत्र में भी दो वर्ग हैं—एक आदर्शवादी और दूसरे यथार्थवादी । कल्पना के शुद्ध साहित्यिक स्वरूप तथा उसको सकल्पित मानने वाले विद्वान् आदर्शवादी कहे जा सकते हैं तथा कल्पना के व्यावहारिक पक्ष में विश्वास करने वाले यथार्थवादी कहे जा सकते हैं ।

२ सभी विद्वानों ने कल्पना को ग्राहक और विधायक दोनो माना है ।

साधारणतया किसी कवि की कल्पना-शक्ति का विवेचन करते समय हमें कल्पना-शक्ति के निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक पक्षो का विश्लेषण करना चाहिए—

१ कल्पना व्यापार के विविध स्तरो की व्यवस्था—इसके अन्तर्गत कल्पना द्वारा निर्मित विविध मूर्तियो की व्यवस्था और विभेद आदि पर विचार किया जाना चाहिए ।

२. स्मरण-शक्ति—किसी कवि की कल्पना-शक्ति को समझने के लिए उसकी स्मरण-शक्ति का स्वरूप जानना भी आवश्यक होता है क्योंकि विधायक कल्पना के लिए एक विशेष प्रकार की शक्ति की आवश्यकता होती है ।

३ कवि की सम्बन्ध भावना—प्रत्येक व्यक्ति विविध सम्बन्धो से बँधा रहता है । कल्पना पर इन सम्बन्धो का पूरा प्रभाव पडता है । कवि के कल्पना स्वरूप को समझने के लिए उन सम्बन्धो पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है ।

४ कल्पना में भावो की प्रक्रिया—यह कल्पना का आवश्यक पक्ष है । कौन सी कल्पना किस भाव से प्रेरित है इसे स्पष्ट करना भी आवश्यक है । वास्तव में कल्पना को क्रियात्मक रूप देने वाले भाव ही होते हैं । इस सम्बन्ध में एडवर्ड एमस्ट्रोग (Adward A Amstrong) ने 'Shakespeare's Imagination' नामक पुस्तक में इस प्रकार लिखा है—

"While the day-dreamer is motivated primarily by feeling and by effective influences the creative literary artist is inspired through the influence of emotion under the direction of reason and will Often indeed the influence of will may not be very evident at the time of inspiration but in artistic creation it is always present to supplement and to give effectiveness to the contribution of emotion" (Page 133)

अर्थात् दिवा-स्वप्नो में विचरण करने वाले की कल्पना तीव्रानुभूति से प्रभावित होती है किन्तु सृजनात्मक साहित्यिक कलाकार की कल्पना सकल्पात्मक और विचारात्मक भावो से प्रेरित होती है । प्राय अनुभव के समय इच्छा का प्रभाव स्पष्ट नहीं रहता लेकिन कलात्मक सृष्टि के समय यह स्पष्ट रूप से वर्तमान रहती है ।

अतएव किसी कवि की कल्पना को स्पष्ट करते हुए यह दिखाना चाहिए कि कौनसा चित्र किस भाव से प्रेरित है ।

५. अन्त में उस कवि की कल्पना के महत्त्व पर प्रकाश डालना चाहिए ।

कल्पना और रस तत्त्व

कल्पना का इतना विवेचन करने के पश्चात् हम रस तत्त्व से उसका जो सम्बन्ध है उस पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहते हैं। वैसे तो हमारे यहाँ कल्पना पर उस रूप में विचार नही किया गया है जैसा कि पाश्चात्य साहित्य में मिलता है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि हमारे यहाँ कल्पना तत्त्व की जो काव्य का प्रमुख उपादान है उपेक्षा की गई थी। जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं हमारे यहाँ कल्पना के पर्याय के रूप में प्रतिभा और भावना शब्द प्रचलित थे। प्रतिभा का दूसरा नाम शक्ति भी था। सस्कृताचार्यों ने शक्ति या प्रतिभा को ही काव्य का प्रमुख उत्पादक हेतु माना है। इस शक्ति या प्रतिभा का स्वरूप विवेचन करते हुए रुद्रट ने लिखा है—

"मानसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति ।"

—काव्यालकार, १।१५

अर्थात् शक्ति कवि की वह विशेषता होती है जिसके सहारे उसके मन में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ स्फुरित होते हैं और कठिनता-रहित पदो की अभिव्यक्ति होती है। प्रतिभा का यह कार्य बहुत कुछ कल्पना के कार्य से मिलता-जुलता है। अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का स्फुरण कल्पना से ही होता है। इसी भाव को एक दूसरे आचार्य ने 'नव-नवोन्मेषशालिनीशक्ति प्रतिभामता' कहकर व्यक्त किया है। यह नवनवोन्मेष केवल वाक्यार्थों का ही नही भावो, चित्रो आदि का भी हो सकता है। कल्पना में वैसे भी भाव की प्रधानता रही है। वाक्यार्थ भी तो भाव ही प्रकट करते हैं। प्रतिभा या शक्ति भावो की अभिव्यक्ति करने वाली जननी है। दूसरे शब्दो में हम यो कह सकते हैं कि शक्ति के सहारे ही भावो का सचालन उनकी योजना और विधान होता है। शुक्ल जी ने कल्पना की परिभाषा देते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं—

"किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढकर और काट-छाँटकर सामने रखने लगती है।"

कल्पना की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि पहले प्रतिभा या शक्ति के सहारे भावोद्रेक अर्थात् नए भावो का उदय होता है। नए भाव ही हमारी अन्तर्वृत्ति को परि-चालित करते हैं। इस प्रकार परिचालित अन्तर्वृत्ति ही कल्पना का कार्य करती है अर्थात् नए रूपविधान करती है। इससे प्रकट है कि कल्पना के मूल में भाव रहते हैं और यह भाव प्रतिभा के सहारे उदय होते हैं। भाव ही रस का आधार भी माने जाते हैं। भाव रस के पारस्परिक सम्बन्ध को दिखलाते हुए भरत मुनि ने लिखा है—'न भावहीनोस्ति रस न रसहीनोस्ति भाव ।'

अर्थात् भाव रस के बिना नही स्थिर रह सकता और रस भाव के बिना नहीं स्थिर रह सकता। रससूत्र में रस का स्वरूप निरूपण करते हुए रस के अग के रूप में विविध प्रकार के भाव ही लाए गए हैं। प्रतिभा इन भावो को उत्पन्न करती है। ये भाव ही अन्तर्वृत्ति को परिचालित कर रूपविधान करते हैं अतएव इन रूपविधानो में

रमणीयता और रसात्मकता का होना अनिवार्य होता है। सच तो यह है कल्पना विनिर्मित कोई भी चित्र नीरस नही हो सकता। कुछ विद्वानो ने तो इस बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ पाश्चात्यो ने 'कल्पना ही आनन्द है' तक कह डाला है। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य कल्पना तत्त्व का हमारे रस तत्त्व का कोई विरोध नहीं है। सच्ची कल्पना की पहचान यही है कि उसमें रसात्मकता की पूरी प्रतिष्ठा हो। रसात्मकता के अभाव में कल्पना कल्पना न कहलाकर बुद्धि का व्यायाम मात्र कही जाएगी। सच्ची कल्पना का वास्तव में रस से कोई विरोध नही हो सकता।

शैली तत्त्व

काव्य का शैली तत्त्व मनोगत भावों को मूर्त्त रूप प्रदान करनेवाला सहज साधन है। शैली काव्य के बाह्य रूप को अलकृत करने के अतिरिक्त उसके भावगत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस सचार करने में भी सहायक होती है। भाव-सौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत सौन्दर्य पर ही निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है। प्रत्येक लेखक की अन्तर्तम भावनाओ और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। अत शैली के अनेक स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। शैलीगत इसी वैभिन्न्य के कारण उसके अर्थ और परिभाषा के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नही है। पाश्चात्य और प्राच्य दोनों साहित्यशास्त्रो में इस पर विस्तार से विवेचन हुआ है। यहाँ पर हम क्रमश इस विवेचन पर सक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

पाश्चात्य विद्वानो द्वारा किया गया शैली का विवेचन

पाश्चात्य साहित्य में शैली शब्द का प्रयोग साधारणतया निम्नलिखित तीन अर्थों में होता है। मरे ने 'The Problem of Style' में इन तीनो अर्थो पर विस्तार से विचार किया है—

१ अभिव्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताएँ जिनसे किसी लेखक विशेष को सरलता से पहचाना जा सके 'The person idiosyncrasy of expression by which we recognise a writer।

२ अभिव्यञ्जना के विधान 'The technique of expression

३ साहित्य की उच्चतम निधि 'Style as the highest achievement of literature'।

किन्तु शैली के उपर्युक्त तीनो अर्थ एकागी प्रतीत होते हैं। वास्तव में इन तीनो अर्थों से समन्वित परिभाषा ही श्लाघनीय शैली की ओर सकेत कर सकती है क्योंकि श्रेष्ठ शैली में यह तीनो ही गुण विद्यमान रहते हैं। काव्य आतरिक भावो की अभिव्यक्ति होने के कारण लेखक के व्यक्तित्व से भी अवश्य प्रभावित रहता है। शैली में लेखक की वैयक्तिक विशेषताएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे प्रतिबिम्बित रहती हैं। शैली का वैधानिक पक्ष भी उपेक्षणीय नहीं है। अभिव्यञ्जना-शक्ति पर ही काव्य की सफलता निर्भर

है। अभिव्यञ्जना की विविध प्रणालियाँ और शैलियाँ प्रचलित हैं। शैली का तीसरा अर्थ भी साहित्य में शैली के महत्त्व की ओर संकेत कर रहा है। उचित गुणों से युक्त शैली ही रचना को साहित्यिक रूप प्रदान करती है। अत शैली पर निम्नलिखित तीन शीर्षकों से विचार करना उपयुक्त होगा—

१ शैली और व्यक्तित्व।

२ शैली की वैधानिक विशेषताएँ।

३ शैली के विकास की स्थितियाँ।

शैली की इन तीनो विशेषताओं को हडसन ने क्रमश वैयक्तिक पक्ष (Personal side), कला पक्ष (Art side) और ऐतिहासिक पक्ष (Historical side) कहा है।

शैली और व्यक्तित्व—(Personal side)—लेखक की व्यक्तिगत विशेषताएँ जो शैली में प्रतिबिम्बित होती हैं उन्हे हडसन ने तीन कोटियो में नियोजित किया है—

१ Intellectual Element या बौद्धिक तत्त्व।

२ Emotional Element या भाव तत्त्व।

३ Aesthetic Element या सौन्दर्यात्मक तत्त्व।

इन तीनो कोटियो से स्पष्ट है कि शैली लेखक के बुद्धि, भाव और कल्पना तीनो तत्त्वो को प्रदर्शित करने का महनीय कार्य करती है।

बौद्धिक तत्त्व (Intellectual Element)—प्रत्येक रचना में बुद्धि तत्त्व का प्रयोग उसे जनसाधारण की रुचि के अनुकूल वैधानिक रूप प्रदान करने के लिए किया जाता है। बुद्धि के कुछ प्रमुख गुण होते हैं जो प्रत्येक उच्चकोटि की रचना के विधायक अग हैं। इनमें से तीन आवश्यक गुण हैं—

१ Precision—यथार्थता।

२ Lucidity—स्पष्टता (प्रसादगुण)।

३ Propriety उपयुक्तता (औचित्य)।

हडसन ने इन तीनो गुणो के महत्त्व की ओर सकेत करते हुए लिखा है—

"There are the intellectual elements—the precision which arises from the right use of right words, the lucidity which results from the proper disposition of such proper words in the formation of sentences, propriety or the harmony which should exist between the thing said and the phrasing of it"

अर्थात् शैली में अनेक बौद्धिक तत्त्व होते हैं—जैसे यथार्थता जो कि भावानुरूप शब्दो के उचित प्रयोग से आती है, स्पष्टता जो कि वाक्य-विन्यास में उपयुक्त शब्द-योजना से आती है, उपयुक्तता या सुषमा जो काव्य विषय और उसके विन्यास दोनो के सामञ्जस्य में निहित रहती है।

इन तीनो बौद्धिक विशेषताओ में से मरे ने 'The Problem of Style' में यथार्थता (Precision) को सबसे अधिक महत्त्व देते हुए शैली में इसकी अवस्थिति

आवश्यक मानी है। शैली में यह बुद्धिगत यथार्थता कई रूपों में प्रविष्ट हो सकती है—

१, Precision of Communication of emotions and thoughts

अर्थात् भावो और विचारो की यथार्थ प्रेषणीयता—इस सम्बन्ध में मेरी के यह शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"Style is a quality of language which communicates precisely emotions or thoughts peculiar to the author"

अर्थात् शैली भाषा की वह विशेषता है जिसके सहारे लेखक भावो और विचारों का यथार्थ प्रेषण करने में समर्थ हो सके। इस प्रकार शैली में उपयुक्त प्रेषण विधान आवश्यक गुण है।

२ Precision of emotional suggestion अर्थात् भावात्मक अभिव्यक्ति की उपयुक्तता—इस भावात्मक अभिव्यक्ति को उपयुक्त रूप देने का कार्य लेखक कलात्मक मूर्त विधान या चित्रविधान के सहारे किया करते हैं। इस कलात्मक मूर्त-विधान को मेरी ने 'Crystalisation' कहा है। मरे ने भावात्मक अभिव्यक्ति की यथार्थता को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है।

"The essential quality of style was precision that this precision was not intellectual, not a precision of definition but of emotional seggestion that there are various methods of achieving it but that they could be grouped together under the term crystalisation"

अर्थात्—यथार्थता शैली का अनिवार्य गुण है। यह यथार्थता बुद्धिगत या परिभाषागत नही बल्कि भावगत होनी चाहिए। भावगत यथार्थता का समावेश करने की अनेक रीतियाँ हैं। इन सभी रीतियो को मूर्त-विधान के अन्तर्गत रख सकते हैं।

यथार्थ मूर्त विधान की योजना के लिए कवि अप्रस्तुत विधान का प्रयोग करते हैं। यह अप्रस्तुत विधान कई रूपों में किया जा सकता है। इनमें से दो रूप प्रधान हैं—

१ अलकार रूप में

२. प्रतीक रूप में

अप्रस्तुत योजना द्वारा मूर्त विधान (crystalisation) कई प्रकार का होता है जैसे वस्तु या विषय का मूर्त विधान, चारित्रिक मूर्त विधान और पात्रों की भाषा से सम्बन्धित आदि। उच्चकोटि के लेखक भावो के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने के लिए अपनी शैली में इन सभी गुणो पर ध्यान रखते हैं।

३ Precision of language—अर्थात् भाषागत यथार्थता या उपयुक्तता—हडसन ने यथार्थता (Precision) पर विचार करते हुए भाव को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए शब्दो के उपयुक्त प्रयोग पर ही बल दिया है। उपयुक्त शब्द चयन द्वारा ही शैली में उसके अन्य गुणो का विकास देखा जा सकता है। शैली में शब्दो के स्थान और महत्त्व का स्पष्टीकरण इन पक्तियो से भी हो जाता है—

'Poetry alone can tell her dreams
With the fine spell of words alone can save
Imagination from the sable chain
And dumb enchantmant"

शब्दो की उपयुक्त योजना के लिए पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य में रूपविधायिनी शक्ति (Plasticism) को विशेष महत्त्व दिया है। शैली की इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए चैहोव (Tchehov) नामक विद्वान् ने गोर्की को लिखा था—

"You are an artist, you feel superbly, you are plastic that is when you describe a thing you see it and touch it with your hands, that is real style"

अर्थात् तुम एक सच्चे कलाकार हो, तुम्हारी अनुभूति बडी-बडी तीव्र है। जब तुम अपनी अनुभूति का वर्णन करते हो तो उसको मूर्तिमान बना देते हो। उस समय ऐसा लगता है कि तुम वर्ण्य वस्तु को अपने चक्षुओ से देखते हो, और ऐसे स्पर्श करते हो।

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय की प्रत्यक्षानुभूति के योग्य बनाना ही कुशल कलाकार का कार्य होना चाहिए। काव्य में इस कार्य की सफलता सुन्दर और उपयुक्त शब्द-विधान पर बहुत कुछ अवलम्बित है।

भाव तत्त्व (Emotional Element)—काव्य में उपर्युक्त निर्देशित बुद्धिमूलक तत्त्वो के अतिरिक्त कुछ हृदयमूलक तत्त्व भी होते हैं। हडसन ने 'Emotional Element' और 'Aesthetic Element' को इसी हृदयमूलक तत्त्व के अन्तर्गत रक्खा है। कवि की भावनाएँ कुछ विशिष्ट गुणो से युक्त होने पर ही सफल मूर्त्त विधान कर सकती हैं। भावना पर भी व्यक्तित्व का प्रभाव पडता है अत भाव को सौम्य रूप प्रदान करने के लिए भावाभिव्यञ्जन में निम्नलिखित विशेषताएँ आवश्यक हैं—

१ Force—प्रवेश।
२ Energy—शक्ति।
३ Suggestiveness—ध्वन्यात्मकता।

सौन्दर्य तत्त्व (Aesthetie Element)—काव्य एक कला है अत कवि में सौन्दर्यानुभूति भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। सौन्दर्य के विविध स्तर होते हैं। उच्चकोटि की सौन्दर्य सृष्टि के लिए हडसन ने सौन्दर्य तत्त्व की निम्नलिखित विशेपताएँ ध्वनित की हैं।

१ Music (rhythm)—सगीतात्मकता।
२ Grace—आन्तरिक सौन्दर्य।
३ Beauty—वाह्य सौन्दर्य।
४ Charm—आकर्षण।

शैली में आयोजित वुद्धि तत्त्व, भाव तत्त्व और सौन्दर्य तत्त्व इन तीनों का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व से होता है। लेखक की वैयक्तिक विशेपताओ

के अनुरूप ही इन तत्वो का रूप विधान होता है। हडसन ने इस वात को इस प्रकार लिखा है—

"For us the intellectual, emotional and aesthetic qualities of any man's writings will raid themselves at Bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical study of his style become an aid of the individuality embodied in his work"

अर्थात् शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओ से प्रच्छन्न रूप से सयुक्त रहती हैं। अतः शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के व्यक्तित्व के अध्ययन में भी सहायक होता है।

इससे स्पष्ट है कि शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व में घनिष्ट सम्बन्ध है। मरे ने इसीलिए शैली को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"Style is the direct expression of the individual mode of experience"

अर्थात् शैली व्यक्तिगत अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यञ्जना है। प्रत्येक लेखक की अनुभूति भिन्न कोटि की होती है। उनके अनुसार ही उनकी रचना का स्वरूप भी होता है। इस प्रकार शैली में व्यक्तित्व की छाया शैली का एक सहज स्वाभाविक गुण है।

इतना होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि प्रत्येक शैली में व्यक्तित्व की प्रधानता होनी ही चाहिए। श्रेष्ठ शैली में व्यक्तित्वहीनता और व्यक्तित्वप्रधानता दोनो को महत्त्व दिया गया है। वास्तव में दोनो के सामञ्जस्य द्वारा उत्तम शैली का निर्माण किया जा सकता है उसमें व्यक्तित्व का आभास मात्र ही यथेष्ट होता है। मरे ने व्यक्तित्वहीनता और व्यक्तित्वप्रधानता के सम्बन्ध में लिखा है—

"For the highest style is that where in the two blendi it is the combination of the maximum of personatlity with the maximum of impersonality, on one hand it is a concentration of peculiar and personal emotion on the other hand it is complete projection of personal emotion into the created thing"

अर्थात् शैली की पराकाष्ठा व्यक्तित्व के अति प्रतिविम्वन और अति अप्रतिविम्वन-के समन्वय में देखी जाती है। उसमें व्यक्तिगत और विचित्र भावो का सम्मिश्रण होता है। वास्तव में शैली में व्यक्तिगत अनुभवो का ही मूर्त रूप दिखाई पडता है।

शैली की वैधानिक विशेषताऐं—शैली में व्यक्तिगत विशेषताओ के अतिरिक्त कुछ वैधानिक विशेषताएँ भी होती हैं। काव्य की अभिव्यञ्जना या शैली एक विशेप प्रकार की होती है। शैली काव्य की सार्थकता उसके अन्तर्भूत भाव का विम्वाकन करने में है। यह विम्वाकन पर ही आधारित है। शैली को सजीव वनाने के लिए लेखक अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न शैलियो का अनुगमन करते हैं। शैली के इन विभिन्न रूपो पर कुछ पाश्चात्य विद्वानो का विवेचन इस प्रकार है—

'Poetry alone can tell her dreams
With the fine spell of words alone can save
Imagination from the sable chain
And dumb enchantmant''

शब्दो की उपयुक्त योजना के लिए पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य में रूपविधायिनी शक्ति (Plasticism) को विशेष महत्त्व दिया है। शैली की इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए चैहोव (Tchehov) नामक विद्वान् ने गोर्की को लिखा था—

"You are an artist, you feel superbly, you are plastic that is when you describe a thing you see it and touch it with your hands, that is real style"

अर्थात् तुम एक सच्चे कलाकार हो, तुम्हारी अनुभूति बडी-बडी तीव्र है। जब तुम अपनी अनुभूति का वर्णन करते हो तो उसको मूर्तिमान बना देते हो। उस समय ऐसा लगता है कि तुम वर्ण्य वस्तु को अपने चक्षुओ से देखते हो, और ऐसे स्पर्श करते हो।

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय की प्रत्यक्षानुभूति के योग्य बनाना ही कुशल कलाकार का कार्य होना चाहिए। काव्य में इस कार्य की सफलता सुन्दर और उपयुक्त शब्द-विधान पर बहुत कुछ अवलम्बित है।

भाव तत्त्व (Emotional Element)—काव्य में उपर्युक्त निर्देशित बुद्धिमूलक तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ हृदयमूलक तत्त्व भी होते हैं। हडसन ने 'Emotional Element' और 'Aesthetic Element' को इसी हृदयमूलक तत्त्व के अन्तर्गत रक्खा है। कवि की भावनाएँ कुछ विशिष्ट गुणो से युक्त होने पर ही सफल मूर्त्त विधान कर सकती हैं। भावना पर भी व्यक्तित्व का प्रभाव पडता है अत भाव को सौम्य रूप प्रदान करने के लिए भावाभिव्यञ्जन में निम्नलिखित विशेषताएँ आवश्यक हैं—

१ Force—प्रवेश।
२ Energy—शक्ति।
३ Suggestiveness—ध्वन्यात्मकता।

सौन्दर्य तत्त्व (Aesthetie Element)—काव्य एक कला है अत कवि में सौन्दर्यानुभूति भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। सौन्दर्य के विविध स्तर होते हैं। उच्चकोटि की सौन्दर्य सृष्टि के लिए हडसन ने सौन्दर्य तत्त्व की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्वनित की हैं।

१ Music (rhythm)—सगीतात्मकता।
२ Grace—आन्तरिक सौन्दर्य।
३ Beauty—वाह्य सौन्दर्य।
४ Charm—आकर्षण।

शैली में आयोजित वुद्धि तत्त्व, भाव तत्त्व और सौन्दर्य तत्त्व इन तीनो का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व से होता है। लेखक की वैयक्तिक विशेषताओ

के अनुरूप ही इन तत्त्वों का रूप विधान होता है। हडसन ने इस बात को इस प्रकार लिखा है—

"For us the intellectual, emotional and aesthetic qualities of any man's writings will raid themselves at Bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical study of his style become an aid of the individuality embodied in his work"

अर्थात् शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से सयुक्त रहती हैं। अतः शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के व्यक्तित्व के अध्ययन में भी सहायक होता है।

इससे स्पष्ट है कि शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व में घनिष्ट सम्बन्ध है। मरे ने इसीलिए शैली को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"Style is the direct expression of the individual mode of experience"

अर्थात् शैली व्यक्तिगत अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यञ्जना है। प्रत्येक लेखक की अनुभूति भिन्न कोटि की होती है। उनके अनुसार ही उनकी रचना का स्वरूप भी होता है। इस प्रकार शैली में व्यक्तित्व की छाया शैली का एक सहज स्वाभाविक गुण है।

इतना होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि प्रत्येक शैली में व्यक्तित्व की प्रधानता होनी ही चाहिए। श्रेष्ठ शैली में व्यक्तित्वहीनता और व्यक्तित्वप्रधानता दोनों को महत्त्व दिया गया है। वास्तव में दोनों के सामञ्जस्य द्वारा उत्तम शैली का निर्माण किया जा सकता है उसमें व्यक्तित्व का आभास मात्र ही यथेष्ट होता है। मरे ने व्यक्तित्वहीनता और व्यक्यित्वप्रधानता के सम्बन्ध में लिखा है—

"For the highest style is that where in the two blendi it is the combination of the maximum of personatlity with the maximum of impersonality, on one hand it is a concentration of peculiar and personal emotion on the other hand it is complete projection of personal emotion into the created thing'

अर्थात् शैली की पराकाष्ठा व्यक्तित्व के अति प्रतिविम्बन और अति अप्रतिविम्बन के समन्वय में देखी जाती है। उसमें व्यक्तिगत और विचित्र भावो का सम्मिश्रण होता है। वास्तव में शैली में व्यक्तिगत अनुभवो का ही मूर्त्त रूप दिखाई पडता है।

शैली की वैधानिक विशेषताएँ—शैली में व्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ वैधानिक विशेषताएँ भी होती हैं। काव्य की अभिव्यञ्जना या शैली एक विशेष प्रकार की होती है। शैली काव्य की सार्थकता उसके अन्तर्भूत भाव का विम्बाकन करने में है। यह विम्बाकन पर ही आधारित है। शैली को सजीव बनाने के लिए लेखक अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न शैलियो का अनुगमन करते हैं। शैली के इन विभिन्न रूपो पर कुछ पाश्चात्य विद्वानो का विवेचन इस प्रकार है—

ऐरिस्टोटिल (Aristotle)—ऐरिस्टोटिल ने वैधानिक रूप से दो प्रकार की शैलियाँ मानी हैं—

साहित्यिक शैली (Literary Style), और

वादात्मक शैली (Controversial Style)—इस शैली के भी दो भेद हैं।

१ राजनैतिक शैली (Political Style)—इस शैली में काव्यगत शैली की रमणीयता नही होती। इसका रूप बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक और शुष्क-सा होता है।

२ उग्र शैली (Forensic Style)—इसके स्वरूप में विषयगत उग्रता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

ऐरिस्टोटिल ने शैली में दो गुण और चार प्रकार के दोषो का भी निर्देश किया है। यह गुण क्रमश प्रसाद (Perspeiquity) और औचित्य (Propriety) हैं। सस्कृताचार्य कुन्तक ने भी औचित्य को रीति का सामान्य गुण माना है। अरस्तू द्वारा निर्देशित शैली के चार दोष इस प्रकार है—

समासो का प्रयोग।

अप्रचलित शब्दो का प्रयोग।

अनौचित्यपूर्ण विशेषणो का प्रयोग।

अनौचित्यपूर्ण रूपको का प्रयोग।

भारतीय अलकारिको के समान ही अरस्तू ने भी शैली का वर्ण्य-विषय से घनिष्ट सम्बन्ध माना है।

डिमीट्रियस (Demetrious)—डिमीट्रियस ग्रीक के प्रसिद्ध आलकारिक हैं। इन्होने चार प्रकार की श्रेष्ठ शैलियाँ मानी हैं—

प्रसन्न मार्ग (Plain Style)।

उदात्त मार्ग (Stately Style)।

मसृण मार्ग (Polished Style)।

उर्जस्वी मार्ग (Powerful Style)।

इन्होने चार हेय शैलियाँ भी मानी है—

शिथिल (Frigid Style)।

कृत्रिम (Affected Style)।

नीरस (Arid Style)।

अनानुकूल मार्ग (Disagreeable Style)।

मरे (Merry) मरे साहब ने शैली में तीन गुणो का होना आवश्यक माना है। इनमें से एक गुण प्रमुख है और दो गौण हैं। उनके मतानुसार शैली का प्रमुख गुण आनुरुप्य (precision) है। इन्होने बौद्धिक आनुरुप्य (Intellectual precision) के स्थान पर भावाभिव्यञ्जन के आनुरुप्य (precision of emotional suggestion) को अधिक महत्त्व दिया है। आनुरुप्य के विविध रूपो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मरे द्वारा निर्वाचित शैली के दोनो गौण गुण इस प्रकार हैं—

लय की सगीतमयी अभिव्यक्ति (Musical suggestion of the rhythm)।
वर्ण्य-विषय की रूपमयी अभिव्यक्ति (Visual suggestion of the imagery)।

शोपेनहर—शोपेनहर ने शैली पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है। शैली में तीन गुणों की अवस्थिति बताई है—

वैशद्य;
सौन्दर्य, और
इन दोनों के समन्वय से बनी हुई सामर्थ्य।

शैली की कोटियो पर इन्होंने गम्भीर रूप से विचार नहीं किया है। उन्होने केवल दो प्रकार की स्थूल शैलियाँ बताई हैं—एक अच्छी, दूसरी बुरी।

वाल्टर रैले—रैले अग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक हैं। इन्होने शैली के वैधानिक रूपों पर अच्छा विवेचन किया है। शैली में शब्द विन्यास को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है।[१]

विंचेस्टर (Vinchester)—इन्होने क्विन्टीलियन-कृत शैलियो के विभाग स्थानो के नाम पर होने के कारण अस्वीकार किए हैं। शब्द प्रयोगो के आधार पर दो प्रकार की शैलियाँ निश्चित की हैं—एक वह शैली जिसमें विशदता और सक्षिप्तता का समावेश रहता है और दूसरी वह जिसमें विस्तार और अलकरण-प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। विंचेस्टर ने 'Some Principles of Literary Criticism' में शैली पर विचार किया है।

शैली के विकास की स्थितियाँ—किसी भी लेखक की शैली का एक सुनिश्चित रूप धीरे-धीरे प्रयास द्वारा स्थिर होता है। उनकी प्रत्येक रचना में शैलीगत विभेद दिखलाई पडता है। इस विभेद का स्पष्ट कारण है कि शैली का क्रमिक विकास होता रहता है। शैली का यह विकास-क्रम साधारणतया तीन अवस्थाओ में विभक्त किया जा सकता है—प्रारम्भिक अवस्था, प्रयोगावस्था और प्रौढावस्था। लेखक की कृतियो की आलोचना करते समय इन तीनों अवस्थाओ को भी दृष्टि में रखते हुए लेखक के प्रति अपना निर्णय देना चाहिए। यदि केवल प्रारम्भिक रचना को ही देखकर लेखक की शैली का मूल्याकन किया जाएगा तब साहित्य जगत में भ्रम उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है। साहित्य-प्रेमी लेखक के वास्तविक महत्त्व से अपरिचित ही रह जाएँगे। इसके विपरीत यदि उनकी प्रौढ रचना के आधार पर शैली का मूल्याकन किया जाएगा तब शैली के क्रमिक विकास के स्वरूप का सिंहावलोकन नही हो सकेगा।

भारत में शैली पर विचार

भारत में शैली का विवेचन रीति या मार्ग के नाम से हुआ है। सस्कृत में रीति-विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है। कुछ आचार्यों ने तो 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के आधार पर शैली को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। रीति सम्प्रदाय की

---

१ Style by Walter Raleigh, page 54

स्थापना इसी महत्त्व का पोषक है। इन आचार्यों ने भी व्यक्तित्व-भेद के अनुसार अनेक शैलियो के रूप स्थिर किए हैं। प्रत्येक कवि की शैली उनके व्यक्तित्व से विशिष्ट रहती है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में कहा है—'अस्त्यनेको गिरां. मार्ग सूक्ष्म भेद परस्परम्' अर्थात् अभिव्यञ्जना के अनेक प्रकार होते हैं जिनमें सूक्ष्म अन्तर रहता है। काव्य में यह व्यक्तित्व भेद भी अपना महत्त्व रखता है। इसी भेद के कारण एक ही विषय पर अनेक कवियो की रचनाएँ भी रोचक और मौलिक प्रतीत होती हैं। 'गगावतरण' में भी व्यक्तित्व भेद के महत्त्व को स्वीकार किया गया है—

"अन्धास्ते कवयो एषा पन्था. क्षुण्ण परैर्भवेत्
परेषा तु यदा कान्त पन्थास्ते कविकुजरा." (१।१७)

शारदातनय ने व्यक्तित्व की अनन्तता पर दृष्टि रखते हुए 'भाव-प्रकाश' में शैली की अनन्तता पर विचार किया है।

भाषा और शब्द-शक्तियाँ

प्रत्येक काव्य-रचना को काव्यत्व प्रदान करने वाली प्रमुख सहायिका उसकी भाषा है। यही कारण है कि काव्य-भाषा विश्व-साहित्यशास्त्र में विवेचन की वस्तु रही है। भारतीय विद्वानो ने भाषा को काव्य का शरीर मानकर उसे सौष्ठव प्रदान करने वाले हेतुओ पर गम्भीर रूप से विचार किया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में भाषा के औचित्य पर पद औचित्य, वाक्य औचित्य, प्रबन्धार्थ औचित्य आदि शीर्षको से प्रकाश डाला है। पाश्चात्य विद्वान लेविस (F R. Levis) ने काव्य या साहित्य में भाषा को अत्यधिक महत्त्व देते हुए लिखा है—

"Literature is not merely in a language but of a language" अर्थात् साहित्य या काव्य भाषा में नही होता बल्कि भाषा का ही होता है। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान ने काव्य में भाषा को ही महत्त्व देते हुए काव्य-परिभाषा इस प्रकार दी है—"Poetry is the best words in the best order" अर्थात् मधुरतम शब्दो का पूर्ण सुव्यवस्थित रूप ही काव्य है। इन परिभाषाओ में भी काव्य में भाषा औचित्य को सकेतित किया गया है। अरिस्टोटिल ने इसी भाषा औचित्य को 'Appropriateness of language' कहा है। इनके अतिरिक्त लॉगिनस ने भी भाषा और काव्य के सम्बन्ध पर विचार करते हुए अपने 'Sublime' नामक ग्रन्थ में शब्दौचित्य पर प्रकाश डाला है।

काव्योपयुक्त भाषा कुछ विशिष्ट गुणो से समन्वित रहती है। उसकी उपयुक्तता शब्द-सौन्दर्य के सामञ्जस्यविधान पर आधारित है। इसी सामञ्जस्यविधान को दूसरे शब्दो में भाव और भाषा का सम्बन्ध भी कह सकते हैं। काव्य के भाव तत्त्व, कल्पना तत्त्व और बुद्धि तत्त्व का सम्बन्ध तो कवि की आन्तरिक क्रियाओ से होता है। इन आन्तरिक क्रिया द्वारा निर्मित साध्य रूप के प्रत्यक्ष उपस्थित करने का कार्य भाषा द्वारा ही सम्पन्न होता है। अत कवि की कल्पना, भावना और विचारो को यथातथ्य

रूप में प्रगट करने में ही भाषा की सफलता है। भाषा की यह सफलता शब्द-चयन पर निर्भर है।

शब्दों का महत्त्व—सार्थक शब्दो के सामूहिक प्रयोग से भाषा का स्वरूप निर्माण हुआ है। प्रत्येक शब्द किसी न किसी अर्थ का वाचक होता है। प्राय एक ही अर्थ के वाचक कई शब्द होते हैं। इन्ही शब्दो में भावोपयुक्त शब्द का प्रयोग करने में ही शैली रोचकता और अर्थगाम्भीर्य को धारण कर सकती है। शैली विकास की प्रमुख तीन अवस्थाओ—प्रारम्भिक, मध्य और प्रौढ—पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। किसी भी लेखक की रचनाओ में इन अवस्थाओ के अनुसार शब्दो का महत्त्व भी दृष्टिगत होता है। अपने साहित्यिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में वे प्राय शब्दो के अर्थगाम्भीर्य पर अधिक ध्यान नही देते। उस काल की रचनाओ में शब्दाडम्बर की ओर ही उनकी प्रवृत्ति दिखाई पडती है। किन्तु लेखन-शक्ति के विकसित होने पर शब्दो की भरमार के स्थान पर भावगाम्भीर्य की ओर बढने की प्रवृत्ति लेखक में जाग्रत हो जाती है। उनकी लेखनी से उस अर्थ को सकेतित करने वाले सरल और मधुर शब्द स्वतः ही निसृत होने लगते हैं। ऐसे ही ध्वन्यात्मक शब्द सर्वोत्तम ध्वनि काव्य की रचना में सहायक होते हैं। ऐसे काव्य का रचना-काल ही लेखन-शक्ति की प्रौढावस्था कही जाती है। शैली के इस क्रमिक विकास से स्पष्ट है कि लेखन-शक्ति अभ्यास पर ही निर्भर है। लेखक की विशिष्ट प्रतिभा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में सकुचित और अविकसित रहती है। किन्तु अभ्यास द्वारा यह प्रतिभा मुकुलित होकर भाषा में असाधारण प्रेषणीयता का समावेश करती है।

इस प्रकार लेखक के इस श्र्योन्मुखी विकास में शब्दो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्द उनकी भाषा के मूल आधार तो होते ही हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचना की सफलता के मापक तत्त्वो में से एक प्रमुख तत्त्व भी है। प्रसिद्ध आलकारिक भामह ने काव्य में अर्थ के साथ-साथ शब्दों का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए लिखा है—'शब्दार्थौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही काव्य है। इसके अतिरिक्त मम्मट, पडितराज जगन्नाथ आदि सस्कृताचार्यों की प्रसिद्ध काव्य परिभाषाओ में भी अर्थ के समान ही शब्द को भी महत्त्व दिया गया है। अत' अर्थ के साथ शब्द के एकाकार हो जाने पर सत्काव्य की सृष्टि होती है। तुलसीदास ने शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य को 'मानस' की इस पक्ति में ध्वनित किया है—

'गिरा अरथ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'

अमर कवि कालिदास ने भी 'रघुवश' के प्रथम श्लोक में काव्य कलापक्ष और भावपक्ष या शैली और भाव की एकता के लिए मगलाधिपति शिव-पार्वती की वन्दना की है। वे लिखते हैं—

"वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'

अर्थात 'वाक् और अर्थ की भाँति सपृक्त जगत के माता-पिता पार्वती और शिव की वन्दना वाक और अर्थ की प्रतिपत्ति के हेतु करता हूँ।' इतना ही नहीं कवि

स्थापना इसी महत्त्व का पोषक है। इन आचार्यों ने भी व्यक्तित्त्व-भेद के अनुसार अनेक शैलियो के रूप स्थिर किए हैं। प्रत्येक कवि की शैली उनके व्यक्तित्व से विशिष्ट रहती है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में कहा है—'अस्त्यनेको गिरां मार्ग सूक्ष्म भेद परस्परम्' अर्थात् अभिव्यञ्जना के अनेक प्रकार होते हैं जिनमें सूक्ष्म अन्तर रहता है। काव्य में यह व्यक्तित्व भेद भी अपना महत्त्व रखता है। इसी भेद के कारण एक ही विषय पर अनेक कवियो की रचनाएँ भी रोचक और मौलिक प्रतीत होती हैं। 'गगावतरण' में भी व्यक्तित्व भेद के महत्त्व को स्वीकार किया गया है—

"अन्धास्ते कवयो एषा पन्था· क्षुण्ण परैर्भवेत्
परेषा तु यदा कान्त पन्थास्ते कविकुजरा" (१।१७)

शारदातनय ने व्यक्तित्व की अनन्तता पर दृष्टि रखते हुए 'भाव-प्रकाश' में शैली की अनन्तता पर विचार किया है।

भाषा और शब्द-शक्तियाँ

प्रत्येक काव्य-रचना को काव्यत्व प्रदान करने वाली प्रमुख सहायिका उसकी भाषा है। यही कारण है कि काव्य-भाषा विश्व-साहित्यशास्त्र में विवेचन की वस्तु रही है। भारतीय विद्वानो ने भाषा को काव्य का शरीर मानकर उसे सौष्ठव प्रदान करने वाले हेतुओं पर गम्भीर रूप से विचार किया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में भाषा के औचित्य पर पद औचित्य, वाक्य औचित्य, प्रबन्धार्थ औचित्य आदि शीर्षको से प्रकाश डाला है। पाश्चात्य विद्वान लेविस (F R. Levis) ने काव्य या साहित्य में भाषा को अत्यधिक महत्त्व देते हुए लिखा है—

"Literature is not merely in a language but of a language."
अर्थात् साहित्य या काव्य भाषा में नही होता बल्कि भाषा का ही होता है। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान ने काव्य में भाषा को ही महत्त्व देते हुए काव्य-परिभाषा इस प्रकार दी है—"Poetry is the best words in the best order" अर्थात् मधुरतम शब्दो का पूर्ण सुव्यवस्थित रूप ही काव्य है। इन परिभाषाओ में भी काव्य में भाषा औचित्य को सकेतित किया गया है। अरिस्टोटिल ने इसी भाषा औचित्य को 'Appropriateness of language' कहा है। इनके अतिरिक्त लॉगिनस ने भी भाषा और काव्य के सम्बन्ध पर विचार करते हुए अपने 'Sublime' नामक ग्रन्थ में शब्दौचित्य पर प्रकाश डाला है।

काव्योपयुक्त भाषा कुछ विशिष्ट गुणो से समन्वित रहती है। उसकी उपयुक्तता शब्द-सौन्दर्य के सामञ्जस्यविधान पर आधारित है। इसी सामञ्जस्यविधान को दूसरे शब्दो में भाव और भाषा का सम्बन्ध भी कह सकते हैं। काव्य के भाव तत्त्व, कल्पना तत्त्व और बुद्धि तत्त्व का सम्बन्ध तो कवि की आन्तरिक क्रियाओ से होता है। इन आन्तरिक क्रिया द्वारा निर्मित साध्य रूप के प्रत्यक्ष उपस्थित करने का कार्य भाषा द्वारा ही सम्पन्न होता है। अत कवि की कल्पना, भावना और विचारो को यथातथ्य

रूप में प्रगट करने में ही भाषा की सफलता है। भाषा की यह सफलता शब्द-चयन पर निर्भर है।

शब्दों का महत्त्व—सार्थक शब्दो के सामूहिक प्रयोग से भाषा का स्वरूप निर्माण हुआ है। प्रत्येक शब्द किसी न किसी अर्थ का वाचक होता है। प्राय एक ही अर्थ के वाचक कई शब्द होते हैं। इन्ही शब्दों में भावोपयुक्त शब्द का प्रयोग करने में ही शैली रोचकता और अर्थगाम्भीर्य को धारण कर सकती है। शैली विकास की प्रमुख तीन अवस्थाओं—प्रारम्भिक, मध्य और प्रौढ—पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। किसी भी लेखक की रचनाओ में इन अवस्थाओ के अनुसार शब्दों का महत्त्व भी दृष्टिगत होता है। अपने साहित्यिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में वे प्राय शब्दो के अर्थगाम्भीर्य पर अधिक ध्यान नही देते। उस काल की रचनाओ में शब्दाडम्बर की ओर ही उनकी प्रवृत्ति दिखाई पडती है। किन्तु लेखन-शक्ति के विकसित होने पर शब्दो की भरमार के स्थान पर भावगाम्भीर्य की ओर बढने की प्रवृत्ति लेखक में जाग्रत हो जाती है। उनकी लेखनी से उस अर्थ को सकेतित करने वाले सरल और मधुर शब्द स्वतः ही निसृत होने लगते हैं। ऐसे ही ध्वन्यात्मक शब्द सर्वोत्तम ध्वनि काव्य की रचना में सहायक होते हैं। ऐसे काव्य का रचना-काल ही लेखन-शक्ति की प्रौढावस्था कही जाती है। शैली के इस क्रमिक विकास से स्पष्ट है कि लेखन-शक्ति अभ्यास पर ही निर्भर है। लेखक की विशिष्ट प्रतिभा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में सकुचित और अविकसित रहती है। किन्तु अभ्यास द्वारा यह प्रतिभा मुकुलित होकर भाषा में असाधारण प्रेषणीयता का समावेश करती है।

इस प्रकार लेखक के इस श्रेयोन्मुखी विकास में शब्दो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्द उनकी भाषा के मूल आधार तो होते ही हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचना की सफलता के मापक तत्त्वो में से एक प्रमुख तत्त्व भी है। प्रसिद्ध आलकारिक भामह ने काव्य में अर्थ के साथ-साथ शब्दों का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए लिखा है—'शब्दार्थौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही काव्य है। इसके अतिरिक्त मम्मट, पडितराज जगन्नाथ आदि सस्कृताचार्यो की प्रसिद्ध काव्य परिभाषाओ में भी अर्थ के समान ही शब्द को भी महत्त्व दिया गया है। अत अर्थ के साथ शब्द के एकाकार हो जाने पर सत्काव्य की सृष्टि होती है। तुलसीदास ने शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य को 'मानस' की इस पक्ति में ध्वनित किया है—

'गिरा अरय जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'

अमर कवि कालिदास ने भी 'रघुवश' के प्रथम श्लोक में काव्य कलापक्ष और भावपक्ष या शैली और भाव की एकता के लिए मगलाधिपति शिव-पार्वती की वन्दना की है। वे लिखते हैं—

"वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'

अर्थात 'वाक् और अर्थ की भाँति सपृक्त जगत के माता-पिता पार्वती और शिव की वन्दना वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति के हेतु करता हूँ।' इतना ही नहीं कवि

ने इन पक्तियो में शब्द और अर्थ की एकता को शिव-पार्वती की एकता के समत्व व्यञ्जित किया है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणो से स्पष्ट है कि काव्य में शब्दो का महत्त्व स्वतन्त्र रहने में नही वल्कि अर्थ के साथ-साथ स्थिर करने में है। शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य के कलापक्ष को शक्तिशाली बनाते हैं। दोनो में परस्पर सम्बन्ध है किन्तु इस सम्बन्ध की घनिष्टता के अनुसार ही उत्तम, मध्यम और निकृष्ट काव्यो का मूल्याकन किया जाता है।

शब्द शक्तियाँ—वैयाकरणो के अनुसार जिस शक्ति या व्यापार द्वारा किसी शब्द के अर्थ का बोध होता है वह शक्ति कहलाती है। 'शब्दार्थसम्बन्ध शक्ति' अर्थात् बोधक शब्दो और बोध्य पदार्थ या अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं। अर्थ तीन कोटि के होते हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में तीनो प्रकार के अर्थों को सकेतित करते हुए लिखा है—

"पदवाचक अरु लाच्छनिक व्यञ्जक तीन विधान।
तातें वाचक भेद को, पहिले करो बखान॥"

इन तीनो अर्थों का बोध कराने वाले शब्द भी काव्य में वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक कहलाते हैं। इन तीनों प्रकार के शब्दो और अर्थों के सम्बन्ध का बोध कराने वाली शब्द-शक्तियाँ भी तीन प्रकार की होती है। अभिधा शक्ति, लक्षणा शक्ति और व्यञ्जना शक्ति।

अभिधा शक्ति—यह शक्ति शब्दों के मुख्य या प्रत्यक्ष सकेतित अर्थ का बोध कराती है। शब्दो के अर्थ किस प्रकार स्थिर हो जाते हैं इस विषय में अनेक मत हैं। अधिकतर शब्द-रचना और उसके अर्थ स्थिर करने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक ही होती है। वैयाकरणो ने व्यञ्जक और व्यङ्ग्य शब्दो की उत्पत्ति के लिए स्फोटवाद की कल्पना की है। पाणिनी ने व्यञ्जक शब्दों की उत्पत्ति का हेतु इस प्रकार बताया है—

"आत्मा वुद्धया समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत
वर्णाञ्जनयते "

अर्थात् पहले आत्मा या चैतन्य अपनी विशेष वृत्ति बुद्धि से विषय को समझता है। फिर वह उसे प्रगट करने की इच्छा से अपनी दूसरी वृत्ति मन से सहायता लेता है, मन प्रेरणा प्राप्त होते ही शरीराग्नि को प्रज्वलित करता है जिससे अत्यन्त सूक्ष्म वायु की उत्पत्ति होती है। यह वायु शरीरस्थ मूलाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र आदि चक्रो से होती हुई कण्ठ मार्ग से मूर्धा से टकराती है और व्यञ्जक शब्दो की उत्पत्ति होती है। वैयाकरण चार प्रकार की वाणी मानते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वे मध्यमासक्त स्फोट द्वारा ही अर्थ की शक्ति मानते हैं। प्राचीन न्याय में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ईश्वरेच्छा पर माना गया है—

"अस्मात् पदादयमर्थो वोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा सकेत शक्ति"
(तर्कसंग्रह-शब्द—प्रमाण)

किन्तु नव्य न्याय के अनुसार यह सम्वन्ध मनुष्येच्छा पर आधारित है। न्याय में शब्दो को अनित्य कहा है किन्तु वैयाकरण और मीमासक शब्द अर्थ दोनों को नित्य कहते हैं।

अभिधा द्वारा जिन शब्दों से अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात होता है वे शब्द तीन प्रकार के होते हैं—

१ रुढ़ शब्द।
२ यौगिक शब्द।
३ योग रूढ शब्द।

रूढ शब्द—रूढ शब्द वे हैं जिनसे पूरे शब्द से केवल एक ही अर्थ का वोध होता है। इन शब्दों के यदि अवयव किए जायें तो उनका कोई अर्थ नही होता जैसे घोडा। अत शब्द व्युत्पत्तिरहित और अभेद्य होते हैं—'व्युत्पत्ति रहिता शब्दा रूढा आखण्डलाक्ष्य' इनमें प्रकृति और प्रत्यय की भी आवश्यकता नहीं रहती—

"प्रकृतिप्रत्ययार्थमनपेक्ष्यशाब्दवोधजनक शब्द· रूढ़"
(शब्दकल्पद्रुम)

यौगिक शब्द—यौगिक शब्दो में प्रकृति और प्रत्यय (अवयव) की सहायता से अर्थवोध होता है जैसे दिवाकर इस शब्द में दिवा और कर दो अवयव हे। दिवा अर्थात् दिन। सूर्य में दिवाकरण की शक्ति है अत उसके लिए दिवाकर शब्द स्थिर हो गया। इसी प्रकार हिमाशु, जलवर आदि शब्द वने हैं।

योगरूढ़—यौगिक शब्दो के समान योगरूढ शब्दो में भी अवयवों के मिश्रण से अर्थवोध होता है किन्तु यह शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ शब्दो के समान एक ही विशिष्ट अर्थ के वाचक होते हैं जैसे वारिज अर्थात् जल में उत्पन्न होने वाला। अतः वारिज शब्द जल में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है किन्तु इसके स्थान पर वह केवल कमल का ही वाचक है।

अभिधामूलक इन तीनों प्रकार के शब्दो से युक्त यह पद्य दृष्टव्य है—

"नूपुर सिंजित चारु अरुन चरन अम्बुज सरिस
भुज मृनाल अनुहारु वदन सुधाकरसम रुचिर"

इसमें 'नूपुर' रूढ शब्द है, 'सुधाकर' यौगिक शब्द है और 'अम्बुज' योगरूढ़ शब्द है।

लक्षणा शक्ति—'काव्यप्रकाश' में लक्षणा शक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"मुख्यार्थ वाधे तद्योगे रूढितोऽय प्रयोजनात्
अन्योर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया"

अर्थात् मुख्यार्थ सिद्धि में वाधा होने पर रूढि या प्रयोजन के आधार पर अभिधार्थ से सम्वन्वित दूसरे अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति लक्षणा शक्ति कहलाती है। वार्तिककार कुमारिलभट्ट ने लक्षणा की विशेषताएँ निम्न शब्दो में स्पष्ट की हैं—

"मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे-
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते"

अत लक्षणा शक्ति के तीन प्रमुख लक्षण हैं—मुख्यार्थ का बाधित होना, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सम्बन्ध होना और रूढि अथवा प्रयोजन के द्वारा दूसरे अर्थ का बोध होना। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध तो अनेक प्रकार के होते हैं पर रूढि और प्रयोजन के अनुसार लक्षणा के दो भेद हैं—

१ रूढि लक्षणा।

२ प्रयोजनवती लक्षणा।

रूढ़ि लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ के बाधित होने पर शब्द के रूढिगत अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्यार्थ का बोध होता है वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है। जैसे—

"डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कप किसोरी दरस ते खरे लजाने लाल॥"

यहाँ पर 'ब्रज' शब्द में रूढि लक्षणा द्वारा ब्रज-निवासी का अर्थ लिया गया है।

प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ के बाधित होने पर किसी विशेष प्रयोजन के लिए कोई लाक्षणिक सकेत मिलता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है—

प्रयोजनवती लक्षणा के प्रमुख दो भेद हैं—गौणी और शुद्धा।

गौणी लक्षणा—एकावली की तरल टीका में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"गुणत सादृश्यमस्या प्रवृत्तिनिमित्त"

अर्थात् जहाँ उपमान उपमेय में गुण सादृश्य के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ गौणी प्रयोजनवती लक्षणा होती है। जैसे—

"शिशिर, न फिर तू गिरि वन में।
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में॥"

यहाँ उर्मिला ने स्व-शरीर के लिए 'नन्दन' और विरहजनित क्षीणता के लिए 'पतझड़' शब्दो का प्रयोग किया है। अत. यहाँ मुख्यार्थ का बोध है और सादृश्य सम्बन्ध को सूचित करने के कारण गौणी लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा—जहाँ गुण सादृश्य के अतिरिक्त किसी अन्य सादृश्य के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे—

"अपने कर गुहि आपु हठि हिय पहराई लाल।
नौलसिरी औरे चढी मौलसिरी की माल॥"

यहाँ 'अपने कर गुहि' में अङ्गाङ्गिभाव से हाथ की उँगली की ओर सकेत है।

काव्यप्रकाश में इन दोनो प्रकार की लक्षणाओं के कुल भेद दिए गए हैं जो इस तालिका से स्पष्ट हो जायँगे—
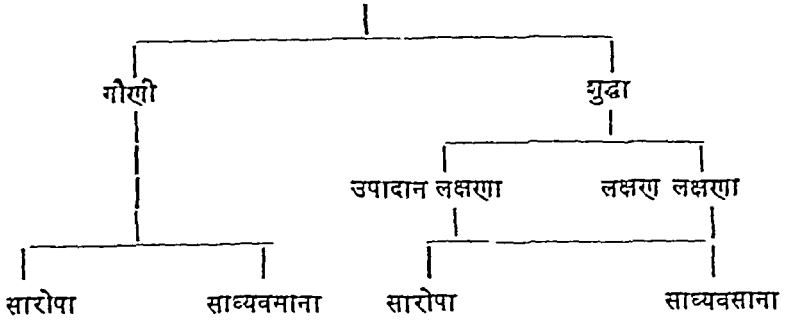
यह सभी लक्षणाएं गूढ़ व्यग्य या अगूढ़ व्यग्या दोनो हो सकती हैं। जहाँ व्यग्य केवल काव्य-मर्मज्ञ ही समझ सकें वहाँ गूढ व्यग्य होता है।

उपादान लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ की सिद्धि के हेतु दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। जैसे—

"फूटी कौडी पर विनोदमय जीवन सदा टपकता"

—निराला

यहाँ 'फूटी कौडी' का प्रयोग नगण्यता के लिए किया गया है।

लक्षण लक्षणा—जहाँ मुख्य अर्थ के स्थान पर लक्ष्यार्थ प्रबल होता है वहाँ लक्षण लक्षणा होती है। जैसे—

"कच समेट करि भुज उलटि खए सीस पर डारि।
का को मन बांधै न यह जूरा बांधनि हारि॥"

यहाँ 'मन बांवे' का मुख्यार्थ कोई विशेपता नही रखता' मन बाँधा नहीं जा सकता इसका तात्पर्य है मन को आकर्पित करना।

सारोपा गौणी लक्षण—जहाँ विपयी (उपमान) और विपय (उपमेय) दोनो का आरोप हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। जैसे—

"उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतग"

यहाँ 'रघुवर' पर बाल पतग का आरोप है। राम की शरीर की कान्ति का सादृश्य उदित होते हुए सूर्य की काति से स्थिर किया गया है अत यह गौणी सारोपा लक्षणा है।

सारोपा शुद्धा लक्षणा—

साध्यवसाना लक्षणा—जहाँ उपमेय या आरोपित विपय का शब्द द्वारा कथन न होकर केवल उपमान (आरोप्यमाण) का ही प्रयोग हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

'अद्भुत एक अनूपम बाग' इत्यादि (सूर)

साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा

"विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोतीहै।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोंपडी वलि होती है।।"

यहाँ धनिको के लिए 'महल' और गरीबो के लिए 'झोपडी' का प्रयोग हुआ है। इसमें तदर्थ सम्बन्ध है अत शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा है।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने प्रयोजनवती लक्षणा के चौंसठ भेद किए हैं। उन्होने शुद्धा के समान गौणी लक्षणा के भी लक्षण लक्षणा और उपादान लक्षणा भेद करके इनको अलग-अलग सारोपा और साध्यवसाना भेदों में विभक्त किया है। और शुद्धा के मिलाकर आठ प्रमुख भेद हुए। इन आठो के गूढ़ व्यग्य की दृष्टि से सोलह भेद हो गए फिर वाक्यगत और पदगत विभेदो से दूर धर्मगत और धर्मिगत भेदों से ६४ भेद किए हैं। जहाँ एक ही पद लाक्षणिक हो वहाँ पदगत लक्षणा होती है। किन्तु जहाँ कई लाक्षणिक पदो से वाक्य बनता है वहाँ वाक्यगत लक्षणा होती है। जैसे—'कीन्ह केकई सबकर काजू' में पूरा वाक्य लाक्षणिक है। इसी प्रकार जहाँ लक्षणा लक्ष्यार्थ में होती है वहाँ धर्मिगत लक्षणा और जहाँ लक्ष्यार्थ के धर्म में होती है वहाँ धर्मगत लक्षणा होती है।

व्यञ्जना शक्ति

अभिधार्थ और लक्षणार्थ से परे जिस शक्ति द्वारा एक तृतीय व्यग्यार्थ का बोध होता है उस शक्ति को व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। जैसे—

"सोचनीय दोउ यये मिलन कपाली हेत।
कान्तिमयी वह ससिकला अरु तू कान्तिनिकेत।।"

इस पद में 'कपाली' 'कान्ति निकेतन' शब्द व्यञ्जनात्मक हैं। ब्रह्मचारी वेप में शिवजी ये शब्द तपस्या करती हुई पार्वती से उनकी परीक्षा लेने के लिए कहते हैं। 'कपाली' शब्द द्वारा मुण्डमाल धारण करने वाले शिव के विकराल वेष की ओर सकेत किया गया है। तात्पर्य यह है कि अभी तक तो कपाली के ससर्ग से कान्तियुक्त शशि की कला ही शोचनीय थी अब तुम भी इस अनुचित सम्बन्ध की कामना कर रही हो। 'कान्ति निकेत' शब्द द्वारा पार्वती जी के अनुपम सौन्दर्य की व्यञ्जना होती है। यहाँ 'कपाली' शब्द ही विशेप रूप से व्यञ्जनात्मक है। कपाली के स्थान पर यदि कोई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त होता तो शिव और पार्वती के यथार्थ रूप के तुलनात्मक सम्बन्ध की व्यञ्जना न हो सकती। ऐसे व्यञ्जक शब्दो के प्रयोग के अनुसार व्यग्यार्थ भिन्न हो जाता है। अभिधामूलक पर्यायवाची शब्दो के प्रयोगों से अभिधेयार्थ सदा एक-सा ही रहता है। अत व्यञ्जना-शक्ति में व्यञ्जक शब्दो का अन्तत महत्व है।

व्यञ्जना के व्यग्यार्थ के, ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि-आदि पर्यायवाची शब्द हैं। इसके अनेक भेदोपभेद हैं। व्यञ्जना-व्यापार शब्दगत और अर्थगत दोनो होता है। अत प्रमुख रूप से इस व्यापार के शाब्दी-व्यञ्जना और आर्थी-व्यञ्जना दो भेद किए गए हैं। शाब्दी व्यञ्जना में शब्द सौन्दर्य की प्रधानता रहती है। आर्थी व्यञ्जना में अर्थ सौन्दर्य प्रमुख होता है। अर्थ सौन्दर्य वक्तृ, वोधव्य, व्यकु-

वाक्य, वाच्य, अन्य समिधि, प्रस्ताव, देशकाल और चेष्टा के वैशिष्टय से आता है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'काव्य कल्पद्रुम' के प्रथम भाग 'रसमञ्जरी' में व्यञ्जना के भेद इस तालिका द्वारा स्पष्ट किए हैं—
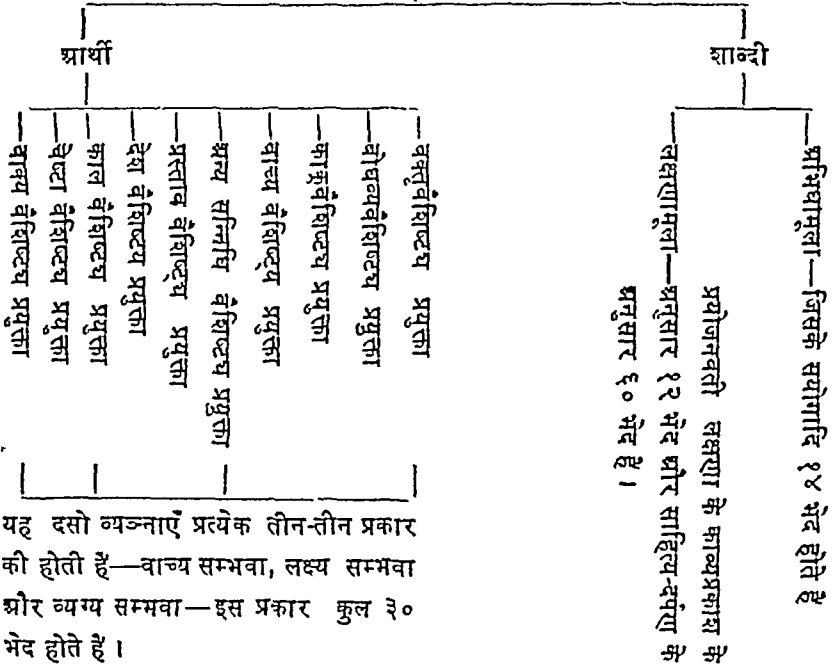
वाक्य का महत्त्व—काव्य में शब्दो और शब्द शक्तियो का महत्त्व वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही व्यञ्जित होता है। काव्य को प्रभावात्मक रूप देने से वाक्यो का सुचारु नियोजन अत्यन्त आवश्यक है। वाक्यो में भावानुकूल शब्द-योजना उसके सौन्दर्य को विकसित कर देता है। फिर वाक्य-रचना में वैयाकरणो द्वारा निर्धारित नियमों और भाषा-सौष्ठव पर भी उचित ध्यान रखना चाहिए। वाक्यों की लम्बाई या सीमा विषय के अनुसार निश्चित की जाती है। जटिल विषयो के लिए छोटे वाक्यो का प्रयोग किया जाता है और सरस और सरल विषयो के वाक्य कुछ लम्बे भी किए जा सकते हैं। प्रत्येक वाक्य का सम्बन्ध विषय से विच्छिन्न नही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वाक्य भी एक दूसरे से शृंखलाबद्ध होना चाहिए।

जब किसी वाक्य में प्रत्येक अंश समान आकार का होता है उसे समीकृत वाक्य कहते हैं। वाक्यो का समीकरण या तो व्याकरण के नियमो के कारण या शब्द-योजना द्वारा होता है। समीकृत वाक्य अधिक प्रभावात्मक और संगीतात्मक होते हैं। तुलनात्मक विषयों में ऐसे वाक्य अधिक उपयुक्त होते हैं।

वाक्य में योग्यता, आकाक्षा और सान्निध्य का होना भी आवश्यक है। एक शब्द का दूसरे शब्द से सम्बन्ध योग्यता कहलाता है। किसी बात को स्पष्ट करने के लिए दूसरे शब्द या वाक्याश की आवश्यकता को आकाक्षा कहते हैं। सान्निध्य या आसक्ति में पूरा वाक्य एक साथ ही कहा जाता है उसमें शब्दो के मध्य देश या काल का विचार नही होता।

शैली को सुशोभित करने वाले विविध अग

शैली की सर्वप्रमुख विशेषता चमत्कार है। यह चमत्कार शब्दगत और अर्थगत दोनो होता है। भारतीय आचार्यों ने चमत्कार को रस का सार तक मान लिया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने चमत्कार को काव्यरसास्वादन के अर्थ में प्रयुक्त किया है। महाकवि क्षमेन्द्र ने भी इसे काव्य का प्राण माना है। अपने 'कवि कठाभरण' में एक स्थल पर लिखा है कि चमत्कार-विहीन काव्य उसी प्रकार असुन्दर प्रतीत होता है जिस प्रकार लावण्यहीन ललना यौवन।

उन्होने चमत्कार दस प्रकार के माने हैं—

१ अविचारित रमणीय
२ विचार्यमाण रमणीय
३ समस्त सूक्तिव्यापी रमणीय
४ सूक्तैकदेश दृश्य
५ शब्दगत
६ अर्थगत
७ शब्दार्थगत
८. अलकारगत
९ रसगत
१० प्रख्यात वृत्तिगत

कुछ आचार्यों ने इन दसो प्रकार के चमत्कार में थोडा अन्तर किया है। साधारणतया काव्य की वाह्य शैली को चमत्कृत करने वाले निम्नाकित तत्त्वो का विचार किया जाना चाहिए—

१ गुणगत रमणीयता
२ शब्दगत रमणीयता
३ अर्थगत रमणीयता
४ शब्दार्थगत रमणीयता
५ अलकारगत रमणीयता
६ रसगत रमणीयता
७ वक्रोक्तिगत रमणीयता
८ औचित्यगत रमणीयता

भाव-पक्ष और कला-पक्ष

काव्य के चारो प्रमुख तत्त्वो का विवेचन कर लेने के बाद अब हम उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष पर विचार करेंगे।

भाव काव्य का प्राण पक्ष और कला उसका शरीर पक्ष है। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर का कोई मूल्य नही होता और शरीर के बिना प्राण निराधार रहता है, उसी प्रकार काव्य भी भाव पक्ष के बिना मूल्य-हीन और निष्प्रभ तथा कला-पक्ष के बिना निराधार और असुन्दर होगा। वास्तव में काव्य का सौन्दर्य दोनो की औचित्य-पूर्ण अभिव्यक्ति पर ही है।

भाव-पक्ष की विवेचना करते समय सबसे पहले हमें कवि के भाव, कोष या हृदय पर विचार करना पडेगा। महात्मा तुलसीदास ने "हृदय सिन्धु मति सीप समाना" लिखकर ही कवि के हृदय-पक्ष की महत्ता की ओर संकेत किया है। जैसा कवि हृदय या भावकोष होगा वैसे ही कवि भाव होगे। भावो की विशिष्टता पर काव्य का काव्यत्व निर्भर रहता है। अत कवि के हृदय की कुछ अपनी अलग विशेषताएँ होनी चाहिए।

१ सहृदय (कला साहित्यादि की अनुभूति पूर्व-जन्म के सस्कारो से युक्त)
२ सहानुभूति पूर्ण
३ कोमल, करुणार्द्र
४ सतोगुण प्रधान
५ विचार सयमित
६ सुन्दर भावों की उद्भावना करने की क्षमता रखने वाला
८ चमत्कारप्रिय
९ चेतन और जागरूक

उदात्त वृत्तियो से युक्त एवं उपयुक्त विशेषताओ से विशिष्ट होकर ही कवि का हृदय भावुक हृदय कहा जायगा, अन्यथा नही।

भाव कोष की व्याख्या करने के पश्चात् आलोचक को भावो की उत्पत्ति प्रक्रिया पर विचार करना होगा। भावों की सम्भूति प्राय. दो कारणो से हुआ करती है—किसी सौन्दर्य से प्रभावित होकर अथवा जीवन और जगत की किसी वस्तु या घटना की प्रतिक्रिया के रूप में। यदि भाव सौन्दर्यमूलक हैं तो कवि का काव्य अधिक तन्मयकारक और प्रभावपूर्ण होगा। और यदि वे जीवन और जगत की प्रतिक्रिया के रूप में जाग्रत हुए हैं तो वे अधिक उत्तेजक होगे। इसी प्रसग में भावो के स्वरूप पर भी विचार करना चाहिए। भावो के स्वरूप की व्याख्या पीछे की जा चुकी है। अत विस्तार-भय से यहाँ पिष्टपेषण नही करना चाहते हैं।

भावो की स्वरूप-व्याख्या कर उनके प्रकारो का निरूपण कर उनकी योजना विधियों पर विचार करना चाहिए। भावो की योजना-विधियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—

१ शुद्ध बौद्धिक
२ काल्पनिक

भावो का विस्तार और नियोजन करने वाली दो ही शक्तियाँ बुद्धि और कल्पना हैं। अत भाव-पक्ष का उद्घाटन करते समय हम इन दोनों को किसी प्रकार भुला ही नही सकते। कल्पना का भावो से घनिष्ठ सम्बन्ध है यह आचार्य शुक्ल ने भी माना है। उन्होने लिखा है—"किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक-रूप को काट-छाँटकर प्रस्तुत करने लगती है, तब उसे सच्ची कवि-कल्पना कहते हैं।" इस प्रकार कल्पना के कार्य और स्वरूप का सम्यक् स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए।

जहाँ तक बुद्धि का सम्बन्ध है, भाव क्षेत्र उसके बिना अव्यवस्थित और अनियन्त्रित हो जावेगा। बुद्धि-तत्त्व का विवेचन करते समय काव्य में बुद्धि के जो कार्य बताए गए हैं, उन सब का निर्देश किया जाना चाहिए।

भाव-पक्ष—भाव-पक्ष का सबसे प्रधान अग रस पक्ष है। भाव और रस में अन्योन्याश्रय भाव सम्बन्ध है। यह हम पीछे कई वार दिखा आए हैं। अत काव्य के भाव-पक्ष का विवेचन रस-विवेचना के बिना अधूरा रह जाता है। रस के अगो-उपागों के निर्देश के साथ काव्य में साधारणीकरण के रूप पर विस्तार से विचार से किया जाना चाहिए। निम्न कोटि की रसानुभूतियो की भी उपेक्षा नही की जानी चाहिए।

अन्त में भावो की मार्मिकता और प्रेषणीयता पर प्रकाश डालना चाहिए। सच्चा कवि वही होता है जिसके भाव मार्मिक होते हैं और जिसके भावो को दूसरे तक प्रेषक करने की अलौकिक शक्ति होती है। इसी को कुछ लोग अभिव्यजना-शक्ति भी कहते हैं। कवि की अभिव्यजना की शैली का विचार भी इसी पक्ष में आवेगा। लक्षणा व्यजना आदि के सौन्दर्य का उद्घाटन भी किया जायगा। सक्षेप में कवि के भाव-पक्ष का विचार करते समय उपर्युक्त बातो पर ध्यान रखना चाहिए। तभी आलोचक उस कवि के भाव जगत तक सच्ची पैठ कर सकेगा।

कला-पक्ष—काव्य का शरीर उसका कला-पक्ष है। जिस प्रकार कि प्राण की तुलना में शरीर कृत्रिम और महत्त्वहीन होता है, उसी प्रकार भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष कम महत्त्व रखता है। यह बात दूसरी है कि स्थूल बुद्धि के चमत्कार-प्रिय भौतिक दृष्टिकोण के लोग उसी को काव्य का सर्वस्व मान बैठे। यह सही है कि काव्य में कला का बडा महत्त्व है किन्तु वह इसका सर्वस्व नही है। लौकिक कविता का तो वह आवश्यक पक्ष कहा जा सकता है किन्तु अलौकिक काव्य बिना कला-पक्ष के ही मधुर और आनन्दप्रद होता है। सतो की बातो में कला-पक्ष बिल्कुल गौण है किन्तु फिर भी वह वाणी लौकिक कवियो की कविताओ से कही अधिक उदात्त और महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

भावो के बाह्य आवरण को सुन्दरतम बनाना ही कवि-कला है। इसके लिए निम्नलिखित अनेक काव्य-सौन्दर्य विधायक उपादानो की योजना करता है—

१ छन्द

२. गुण
३. अलकार
४. दस प्रकार के चमत्कार
५ भाषा सौष्ठव एव शैलीगत विशेषताएँ
६ अभिव्यजना की विविध शैलियाँ

इन सब पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। इसीलिए यहाँ अत्यन्त सक्षेप में सकेत मात्र कर दिया गया है। आलोचक को इन सबका मनन और खोजपूर्ण व्याख्या करनी चाहिए।

काव्य मे अभिव्यजनावाद

आजकल पाश्चात्य और प्राच्य सभी साहित्य-क्षेत्रो में अभिव्यजनावाद की वडी धूम है। जेम्स स्काट ने अपनी "The making of Literature" नामक पुस्तक में अभिव्यजनावाद के विकास पर प्रकाश डाला है। अभिव्यजनावाद के प्रमुख प्रवर्त्तक क्रोचे ने अपने "एस्थिटिक" नामक ग्रथ में इस मत का विस्तार से प्रतिपादन किया है। रामचद्र शुक्ल पहले हिन्दी विद्वान् हैं जिन्होने चिन्तामणि भाग दो में क्रोचे को समझाने की चेष्टा की है। कुछ अन्य हिन्दी विद्वानों ने भी उसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं।

अँगरेजी साहित्य में एक्सप्रैसनिस्ट (Expressionist) और एक्सप्रैसनिज्म (Expressionism) नामो को लेकर वहुत से कुछ भ्रान्तिपूर्ण मतो का प्रचार किया गया है। पिरैन्डलो के नाटको के सम्बन्ध में अँगरेजी साहित्य में वार-वार कहा जाता रहा है कि उसके नाटक एक एक्सप्रैसनिस्ट के नाटक है। किन्तु 'एक्सप्रैसनिस्ट' शब्द से 'एक्सप्रैसनिज्म' का वहुत कम सम्बन्ध है। डब्लू० जी० टेनर, मिस सूठन आदि लेखको ने भ्रम से एक्सप्रैसनिस्ट का सम्बन्ध एक्सप्रैसनिज्म से मान लिया है। जेम्स स्कॉट ने पिरैन्डलो के नाटको का क्रोचे के अभिव्यजनावाद से सम्बन्ध स्थापित करनेवाले लोगो को कटु शब्दो में खंडन किया है। उसकी धारणा विलकुल ठीक है कि एक्सप्रैसनिज्म कला के किसी पक्ष विशेष का सिद्धात नहीं है, वल्कि समस्त कलाओ की विशेपता है।

अभिव्यजनावाद का ऐतिहासिक विकास-क्रम—योरोप में मध्ययुग में रोमान्टिसिज्म या स्वच्छदतावाद का जो नया तूफान उठा, उसके प्रवेग में वहुत से प्राचीन सिद्धातो ने नया वाना पहनने का प्रयत्न किया। इसी प्रवाह में पड़कर प्राचीन ग्रीक कला का नए ढग पर विश्लेपण किया गया। इस प्रकार का प्रयत्न करनेवाले आचार्यो में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(१) लैसिग—इसने सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा की और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि आत्मा का सौन्दर्य ही कला और काव्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। दूसरे शब्दों में यो कहा जा सकता है कि काव्य आत्म-सौन्दर्य की ही शाब्दिक अभिव्यक्ति है। उन्होने अपने कला सम्वधी विवेचन को मूर्तिकला पर ही अधिक आधारित किया है। उनका प्रमुख कार्य लैकून नाम की प्राचीन ग्रीक मूर्तियो का कलात्मक विश्लेपण करना

था। ग्रीक पौराणिक विवरणो के अनुसार लैकून नामक एक व्यक्ति था। एक भयकर सर्प ने इस व्यक्ति के समस्त परिवार को निगल लिया था। बाद में वह दर्शन करने के लिए उसके चारो ओर भी लिपट गया। इसी स्थिति में लैकून की मूर्त्ति चित्रित की गई। कलाकार ने इस चित्र में केवल विषाद की अभिव्यक्ति की है। रुदन और हाहाकार की नही। लैसिग ने इस मूर्त्तिकला के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए बताया है कि कला-सौन्दर्य के लिए केवल विषाद की ही अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है। उसने भावाभिव्यजन को महत्त्व देते हुए भी कलागत सौन्दर्य के रूप के सम्बन्ध में भी आस्था प्रकट की है। सक्षेप में लैसिक का मत था कि विषादयुक्त सौन्दर्यमयी अभिव्यजना ही कला कही जा सकती है।

विकेलमैन—अभिव्यजना का स्पष्टीकरण इस विद्वान् ने भी किया है। इसने ग्रीक मूर्त्ति-कला और काव्य-कला का विविध युगो में विश्लेषण किया है। विकेलमैन ने कला में अभिव्यजना तत्त्व को तो महत्त्व अवश्य दिया है, किन्तु लैसिग के समान उसने अभिव्यजना की सौन्दर्यमयता पर विशेष बल नही दिया है। उसने अभिव्यजना-वाद की विविध शैलियो और भेदो को स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

कॉन्ट—कॉन्ट ने ज्ञान के दो विभाग किए हैं—एक विशुद्ध ज्ञान (Pure reason) और दूसरा व्यावहारिक ज्ञान (Practical reason)। उसने कला को दोनो प्रकार के ज्ञानो की मध्यवर्तिनी माना है। इन दोनो की मध्यभूमि को उसने अनुभूति (Judgement) कहा है। काव्य-कला को स्वतत्र क्षेत्र में उन्मुक्त करने का श्रेय उसी को है। योरोपीय उन्मुक्तवाद या स्वच्छदवाद या रोमाटिसिज्म में वाह्य प्रक्रियाओ की उपेक्षा और आन्तरिक अनुभूतियो के महत्त्व की ओर ध्यान दिया गया। आन्तरिक और सूक्ष्म सौन्दर्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति करना इन स्वच्छदतावादियो का लक्ष्य वन गया। यह सौन्दर्य केवल कल्पनागम्यमात्र था। दूसरे शब्दो में इसे हम अभिव्यजना का सौन्दर्य कह सकते हैं।

कॉलरिज—कॉलरिज ने कला को मन तथा वाह्य जगत् का सम्मिलन विन्दु माना है। उसका दृढ़ मत था कि मानसिक प्रक्रिया से भिन्न कोई वाह्य वस्तु नही है। हमारे यहाँ वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रथ पचदशी में भी वाह्य जगत् की अभिव्यक्ति मन की प्रक्रिया से मानी गई है। कॉलरिज का मत इससे साम्य रखता है। इसका परिणाम यह हुआ कि कला की सृष्टि वहुत कुछ मानसिक मानी जाने लगी और कला कवि के मन की अभिव्यक्ति मात्र ठहराई गई। कॉन्ट के सिद्धान्त में इस मतवाद को और भी दृढ किया। इस सिद्धान्त के आधार पर कला की अभिव्यक्ति वहुत कुछ वैयक्तिक समझी जाने लगी थी। किन्तु कॉलरिज और गेटे के प्रयत्न से कला सम्बन्धी अभिव्य-जना के वैयक्ति पक्ष के साथ-साथ उसके सामाजिक पक्ष को भी स्पष्ट किया जाने लगा।

क्रोचे का अभिव्यजनावाद

अभिव्यजनावाद के प्रमुख प्रतिपादक 'वेनिडिटो क्रूमो' थे। इनका जन्म इटली के नेपिल्स नामक नगर में १८६६ ई० में हुआ था। उन्होने एक नवीन दर्शन की प्रति-

पादना की है, जिसे वे "फिलासफी ग्राफ् स्प्रिट ग्रॉर माइण्ड" कहते हैं। इस दर्शन के सम्भवतः चार अग मानते थे। इन्ही से सम्बन्धित उन्होने चार ग्रथ लिखे हैं—

(१) सौन्दर्यशास्त्र—Aesthetic as Science of Fxpression and General Linguistic

(२) तर्कशास्त्र—Logic as the Selence of Pure Concept

(३) व्यवहार दर्शन—Philosophy of Practice, Economics and Ethics.

(४) इतिहास का सिद्धान्त—The Theory of History

क्रोचे के मतानुसार कला ग्रौर काव्य एक स्वतत्र ग्राध्यात्मिक प्रक्रिया की देन है। उसने मन को एक व्यापार रूप माना है। दूसरे शब्दो में ग्रगर कहना चाहे तो कह सकते हैं कि उसने परोक्षसत्ता को मानस-व्यापार रूप ही माना है। इन मानसिक व्यापार के भी कई रूप ग्रौर भेद किए हैं। इन्ही रूप ग्रौर भेदो के कारण सत्य की विविध रूपो ग्रौर नामो में ग्रभिव्यक्ति मिलती है। स्थूल रूप से मन. व्यापार के या ज्ञान के या वास्तविक सत्ता के उसने दो भेद माने हैं—

(१) ज्ञान या प्रज्ञा—यह मन का सैद्धातिक पक्ष है।

(२) क्रिया या सकल्प ज्ञान—यह मन का व्यावहारिक पक्ष है। ज्ञान के क्रोचे ने दो स्वरूप माने हैं—

(क) कलात्मक ज्ञान या स्वय प्रकाश ज्ञान—यह मूर्तियो के माध्यम से प्रकट होता है। इसका सम्बन्ध कला से है।

(ख) तार्किक ज्ञान या प्रभा—इस ज्ञान के सहारे हम निर्णय करने में समर्थ होते हैं। इसका सम्बन्ध तर्क ग्रौर दर्शन से ग्रधिक है।

कलात्मक ज्ञान—कलात्मक ज्ञान व्यष्टिमूलक ग्रौर स्वतत्र होता है। यह कलात्मक ज्ञान दृश्य जगत की नाना वस्तुग्रों की छाया से प्रभावित रहता है। उन्ही नाना वस्तुग्रो की इस कलात्मक ज्ञान के साँचे में ढलकर निकली हुई ग्रभिव्यक्ति को ग्रभिव्यजना कहते हैं। क्रोचे ग्रभिव्यजना को उसके जनक मन के समान ही ग्रमूर्त्त ग्रौर सूक्ष्म मानता है। यही कारण है कि वह उसकी ग्रभिव्यक्ति शब्दो में या चित्रो में ग्रावश्यक नही ठहराता। उसका विश्वास है कि कलात्मक ज्ञान "इन्ट्यूशन" या ग्रनुभूति की उद्भावना ही ग्रभिव्यजना है। इसीलिए इन्ट्यूशन ग्रौर ग्रभिव्यजना को प्राय एक भी मान लिया जाता है। इसी ग्राधार पर ग्रभिव्यजना को साँचा कह देते हैं ग्रौर रूप भी मान लेते हैं। कलात्मक ज्ञान को ही जब मन ग्रभिव्यक्त कर देता है तब वह रूपाकार ग्रहण कर लेता है। चाहे वह रूपाकार शब्दों या स्थूल चित्रो में व्यक्त किया जाय या न किया जाय। किन्तु ग्रभिव्यजना के माध्यम से व्यक्त होने के कारण वह व्यक्त कहलाता है। क्रोचे का ग्रभिव्यजनावाद ग्रत्यन्त सक्षेप में यही है।

काव्य में ग्रादर्शवाद

मानव के ग्रादर्शवादी विचारो के परिणामस्वरूप ही साहित्य में ग्रादर्शवाद

का प्रवर्त्तन हुआ है। आदर्शवादी विचारो का सम्बन्ध धर्म और नीति से अधिक रहता है। जो लोग साहित्य का सम्बन्ध धर्म और सदाचार से स्थापित करते हैं, आदर्शवाद उन्ही की देन है। भारत सदा से ही आचार प्रवण और धर्मप्रधान देश है। इसीलिए उसकी सामान्य प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। साहित्य के आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने भी आदर्शवाद के प्रवर्त्तन और प्रचार में योग दिया है। बृहदारण्योपनिषद् में 'अय पुरुष वाङमय' कहकर दृष्टा ने साहित्य की आध्यात्मिकता की ओर ही संकेत किया है। पुरुष आदर्शरूप है। अतएव यहाँ के साहित्य में आदर्शवाद का प्राधान्य होना स्वाभाविक था। एक बात और है, हमारे यहाँ के आचार्यों ने काव्य के प्रयोजनो में 'कान्ता-सम्मित उपदेश' का भी उल्लेख किया है। साहित्य में उपदेशात्मकता आते ही उसकी प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर हो जाती है। इसलिए भी हमारे यहाँ आदर्शवाद का प्रचार कुछ अधिक हुआ।

पाश्चात्य साहित्य में दो वादो का प्रचार बहुत अधिक रहा है—

१—कला कला के लिए, २—कला जीवन के लिए।

एक सम्प्रदाय तो भारतीय हितवाद का समर्थक कहा जा सकता है और दूसरा सम्प्रदाय कलावाद का अनुयायी है। कलावाद के अनुयायियो में क्रोचे बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होने काव्य को मन की कल्पना नामक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति माना है। वे उसे धर्म से भिन्न मानते हैं। पाश्चात्य हितवादी सम्प्रदाय काव्य-कला को नीति और सदाचार से सम्बन्धित सिद्ध करने का प्रयास करता है। इसीलिए उसमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठा स्वत' हो गई है। जहाँ तक क्रोचे का सम्बन्ध है उसकी विचारधारा को भी मैं एक प्रकार के आदर्शवाद को ही रूप मानता हूँ। क्योकि उसने कला को अखडरूप मानकर उसे अद्वैत तत्त्व सिद्ध करने की चेष्टा की है। जो कुछ अद्वैत है वही आदर्श है। इस दृष्टि से हम क्रोचे के सिद्धान्त को कलावादी आदर्शवाद का अभिघान दे सकते हैं। पाश्चात्य देशो में एक प्रकार का आदर्शवाद और मिलता है। ग्रीक साहित्य में दु:खान्त नाटको की बहुलता है। इन दु खान्त नाटको की रचना अधिकतर आदर्शात्मक सिद्धान्तो पर हुई है। आदर्शात्मक सिद्धान्तो पर जीवन की यथार्थता प्रतिष्ठित की जाने के कारण इसे हम यथार्थवादी आदर्शवाद कह सकते हैं। इस प्रकार हमें भारतीय और पाश्चात्य काव्य-क्षेत्र में तीन प्रकार के आदर्शवाद दिखाई पडते हैं—

१—सदाचार और धर्ममूलक आदर्शवाद, २—कलावादी आदर्शवाद, और ३—यथार्थवादी आदर्शवाद।

आदर्शवाद की प्रमुख मान्यताएँ--आदर्शवाद की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति अद्वैत प्रस्थापन की है। अनेकत्व में एकतत्व के दर्शन करना उसका प्रधान लक्ष्य है। भारत में जिस अद्वैतवाद की चिरकाल से प्रतिष्ठा रही है वही अद्वैतवाद आदर्शवाद की आधारभूमि है।

आदर्शवाद की दूसरी प्रधान विशेषता उसकी कल्पना-प्रवणता है। आदर्शवाद का विचरण-क्षेत्र-कल्पनालोक है, यह दृश्य जगत नही। वह नए काल्पनिक लोको का सृजन भी करता है। यह काल्पनिक लोक प्रत्यक्ष जगत से सर्वथा विलक्षण होता है।

आचार्य मम्मट ने 'कवि-भारती' के बहाने उसका सुन्दर वर्णन किया है।

"नियतिकृत नियम रहितरहिता ह्लादैकमयीमनन्य परतन्त्राम् ।
नव रस रुचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयति ।।"

अर्थात् "नियति विरचित नियमो से निर्मुक्त, हर्ष ही जिसका एकमात्र सर्वस्व है, जो किसी अन्य कारण से परतन्त्र नही है, शृंगारादि से जो मनोहारिणी लगती है, कवियो की इस प्रकार की वाणी उत्कृष्टता को प्राप्त हो"। इन पक्तियो में आचार्य ने 'कवि-भारती' के व्याज से इहलोक विलक्षण जिस काव्य लोक का वर्णन किया है, उसकी सर्जना का मूल हेतु भारतीय आचार्यो ने 'शक्ति' को माना है। शक्ति का अर्थ प्रतिभा लिया जाता है। प्राचीन आचार्यों की प्रतिभा ही अपनी कुछ अभिनव विशेषताओ से विशिष्ट हो कल्पना के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। कवियो की यह प्रतिभा या कल्पना ही कलात्मक आदर्शवाद की जननी है।

भारतीय साहित्य कभी भी जीवन से अलग करके नही रखा गया। साहित्य और कला में जो विभेद दिखाई पडता है उसका मूल कारण यही है। कला को हमारे यहाँ बहुत कुछ एकातिक जीवन के सुखोपभोग की सामग्री के रूप में ही देखा गया था। किन्तु साहित्य का एकातिक जीवन से कोई सम्बन्ध नही था। हमारा साहित्य हमारी सस्कृति का प्रतिबिंब है। हमारी सस्कृति आध्यात्मिकता से बहुत अधिक अनुप्राणित है। साहित्य में भी सस्कृति की छाया के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिकता की प्रतिछाया भी प्रतिबिंबित मिलती है। आध्यात्मिकता के प्रतिबिंबन के कारण ही उसमें आदर्शवाद का उन्मेष हुआ। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि आध्यात्मिकता ही आदर्शवाद का प्राण है।

आदर्शवाद में हमें सर्वत्र सतोगुण की प्रतिष्ठा और विजय दिखाई पडती है। इस दृष्टि से वह एकपक्षीय कहा जा सकता है। कभी-कभी आदर्शवाद में सत और असत् प्रवृत्तियो का द्वन्द्व दिखाकर सत की विजय भी चित्रित की जाती है।

आदर्शवाद में उपदेश की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। साहित्य में उपदेश की प्रतिष्ठा कई प्रकार से की जाती है। कुछ कवि लोग विधि निषेध के रूप में उपदेश की योजना करते हैं। उदाहरण के रूप में हम कबीर की निम्नलिखित उक्ति ले सकते है—

"रूखा सूखा खायकर ठंडा पानी पीव।
देख पराई चूपडी क्यों ललचावे जीव ?"

काव्य में इस प्रकार की उपदेश योजना अच्छी नही समझी जाती। इसीलिए कुछ दूसरे सरस और सफल कवियो ने अपने काव्यो में उपदेश की प्रतिष्ठा अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक आदि विविध माध्यमो से की है। उदाहरण के लिए हम जायसी का पद्मावत और प्रसाद की कामायनी ले सकते हैं। इन दोनो रचनाओ में उपदेशो और दार्शनिक सिद्धान्तो की उपर्युक्त माध्यमो के सहारे ही प्रतिष्ठा की गई है। जिन-जिन काव्यो में हमें उपदेश की प्रवृत्ति मिलती है उन सबको हम आदर्शवादी रचनाएँ मानते हैं। वास्तव में उपदेशात्मकता आदर्शवाद की प्रधान विशेषता है।

आदर्शवाद का एक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। वह हमारी कुप्रवृत्तियो का परिष्कार करता है और सुप्रवृत्तियो को जाग्रत करता है। महादेवी वर्मा के इस कथन में हमें पूर्ण सार्थकता दिखाई पडती है। वह लिखती हैं, "आदर्शवाद हमारी दृष्टि की मलिन सकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामञ्जस्य को देखने की शक्ति देता है।" काव्य के सौंदर्य की पराकाष्ठा आजकल सत्य शिव और सुन्दर की चरम अभिव्यक्ति में मानी जाती है। काव्य में इन तीनो की चरम अभिव्यक्ति एव प्रतिष्ठा करना आदर्शवाद का ही कार्य है। दूसरे शब्दो में हम आदर्शवाद को पूर्ण का पावन प्रतिबिब कह सकते हैं। इतना होते हुए भी आदर्शवाद हमारे जीवन का जो चित्र उपस्थित करता है वह असतुलित और एकपक्षीय होता है। सम्भवतः यही कारण है कि उन देशो में जो जीवन को अपनी पूर्णता में आलिगन करना चाहते हैं इसका अधिक प्रचार न हो सका। हमारे यहाँ जीवन को पूर्णता में उपलब्ध करने की साधना के साथ ही साथ आदर्शवाद की प्रतिष्ठा भी की गई। इसका कारण हमारी सस्कृति की आध्यात्मिकता है। हम जीवन के आध्यात्मिक विकास की पूर्णता में ही जीवन की पूर्णता देखते रहे हैं। अन्य लोगो की दृष्टि भौतिक रही हैं। यही कारण है कि भौतिक जीवन की पूर्णता की उपलब्धि के साथ-साथ वे आदर्शवाद को नही निभा सकते थे। इसीलिए उनके यहाँ आदर्शवाद का प्रचार भी बहुत कम हुआ।

आदर्शवाद का ऐतिहासिक पक्ष—भारतीय साहित्य में आदर्शवाद का उदय वैदिक काल में ही हो गया था। यद्यपि ऋग्वेदसहिता में हमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ की ही प्रतिष्ठा मिलती है, किंतु उसका मूल स्वर आदर्शवादी है। उपनिषद् साहित्य में हमें उस मूल स्वर का आदर्शवाद के रूप में पूर्ण प्रस्थापन मिलता है। उपनिषदो के पश्चात् रामायण और महाभारत काल आता है। रामायण में आदर्शवाद की ही प्रतिष्ठा मिलती है। महाभारत में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से यथार्थवाद की ही झाँकी दिखलाई पडती है किंतु उसकी भी आधार भूमि आदर्शवाद ही है। भारतीय नाटक-साहित्य में भी हमें सर्वत्र आदर्शवाद का ही प्रभाव दिखाई पडता है। इस आदर्शवाद के प्रभाव के कारण ही हमें एकाध को छोडकर कोई भी दु खान्त नाटक नही मिलता। सस्कृत साहित्य का रीतियुग भी आदर्शवाद के प्रभाव से न बच सका। इस युग की रचनाओ में हमें सर्वत्र कलावादी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं।

हिन्दी साहित्य पर भी आदर्शवाद का बहुत बडा प्रभुत्व दिखलाई पडता है। मध्यकालीन वैष्णव साहित्य पर आदर्शवाद की ही छाया झलकती है। मध्य युग की सूफी और निर्गुण काव्य-धाराओ में तो आदर्शवाद मानो मूर्तिमान हो उठा है। छायावादी युग कलात्मक आदर्शवाद के लिए प्रसिद्ध है ही।

पाश्चात्य साहित्य में भी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। प्रारम्भ में उसमें कही-कही धार्मिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा दिखलाई पडती है। किंतु परवर्ती साहित्य पर सर्वत्र कलावादी आदर्शवाद की ही झलक मिलेगी। रोमांटिक युग अपने कलावादी आदर्शवाद के लिए लोक-प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय साहित्य ही नही पाश्चात्य साहित्य भी आदर्शवाद से अनुप्राणित है।

यथार्थवाद

आधार तत्त्व—यथार्थवाद की मूल प्रेरिका ऐहिकता है। जब मानव "एकोऽहम् बहुस्याम" की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विकासोन्मुख होने लगता है, तभी से वह यथार्थवादी भी बनने लगता है। उसका दृष्टिकोण भौतिक और मनोवैज्ञानिक हो जाता है। यथार्थवाद के मूल में यही भौतिकता और वैज्ञानिकता है, जीवन और जगत की जैसी अनुभूति हमारी स्थूल इन्द्रियों को हुआ करती है उनको उसी रूप में चित्रित कर देना यथार्थवाद है। दूसरे शब्दों में हम यथार्थवाद को प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षीकरण कह सकते हैं। उसे अपरोक्ष की प्रत्यक्ष झाँकी मान सकते हैं। इसीलिए उसका दूसरा नाम प्रकृतिवाद भी प्रसिद्ध है।

पाश्चात्य देशों में यथार्थवाद की बड़ी धूम है। इसका कारण यह है कि उनका दृष्टिकोण भौतिक रहा है। ऐपिक्यूरियन दर्शन, हेकेल जडाद्वैतवाद, कान्ट का भौतिक इन्ट्यूशन आदि दार्शनिक तथ्यों ने पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवाद को प्रेरणा प्रदान की है। वर्गसा ने भी इन्ट्यूशन का जो निरूपण किया है, वह बहुत ही भौतिक और स्थूल है। इन भौतिक दर्शनों के प्रभाव से पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवाद का विकास हुआ।

यथार्थवाद का स्वरूप-निरूपण—यथार्थवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) यथार्थवाद की सबसे पहली प्रवृत्ति एकत्त्व से अनेकत्त्व की ओर जाना है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इसी प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हुए लिखा है—"यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक्-पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि को की ओर अधिक उन्मुख रहता है।"

(२) यथार्थवादी साहित्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु-जगत से रहता है।

(३) नैतिकता और धर्म से यथार्थवाद विशेष सम्बन्धित नहीं है।

(४) यथार्थवाद में जीवन की ज्यों की त्यों अभिव्यक्ति मिलती है। जीवन में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों की अभिव्यक्ति मिलती है। इसीलिए उसमें तीनों का चित्रण किया जाता है।

(५) इसमें मानव की सबलताओं और दुर्बलताओं का सन्तुलित चित्र मिलता है।

(६) यथार्थवाद में जीवन के सापेक्ष सत्य की प्रतिष्ठा मिलती है।

(७) यथार्थवाद में सत् और असत् का द्वन्द्व दिखाते हुए या तो बीच में ही छोड़ देते हैं या असत् की विजय दिखाते हैं।

(८) यथार्थवाद हमारी वृत्तियों के विस्तार में समर्थ होता है।

(९) यथार्थवाद का सम्बन्ध स्थूल जगत् और स्थूल अभिव्यक्ति से अधिक रहता है।

(१०) यथार्थवाद में सत्य की प्रतिष्ठा मिलेगी, किन्तु वह सत्य लौकिक सत्य के अधिक निकट होगा—काव्य जगत् के सत्य से थोड़ा दूर। उसमें सत्य के साथ-साथ शिव-तत्त्व भी पाया जा सकता है। किन्तु सौन्दर्य तत्त्व का जो स्वरूप उसमें प्रतिष्ठित रहता

है, वह द्वन्द्वात्मक कहा जा सकता है। यथार्थवाद के सौन्दर्य में जीवन के सुन्दर और असुन्दर का सुन्दर समन्वय देखा जा सकता है।

(११) यथार्थवाद की शैलियाँ बौद्धिक और वैज्ञानिक अधिक रहती हैं।

(१२) यथार्थवाद में आशा-निराशा का द्वन्द्व दिखाई पडता है।

(१३) यथार्थवाद में जीवन का सन्तुलित चित्र चित्रित किया जाता है।

(१४) यथार्थवाद का लक्ष्य मानव को मानव बनाना होता है।

(१५) यथार्थवाद को महादेवी जी के शब्दो में "जड की सचेतन अभिव्यक्ति कह सकते है।"

(१६) यथार्थवाद अपूर्ण का प्रतिबिम्ब होता है।

यथार्थवाद का ऐतिहासिक विकास—भारत में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा कम रही है और जब कभी यथार्थवाद का चित्रण भी किया गया तो उसके मूल में आदर्शवाद की भावना अवश्य प्रतिष्ठित की गई। सच तो यह है कि भारत में सदैव ही आदर्श की भूमिका पर ही यथार्थ का चित्रण किया गया है। केवल कुछ धर्मवादी और भक्तिवादी ही ऐसे थे जिन्होने कोरे आदर्शवाद का डका पीटा। इतना होते हुए भी भारत में यथार्थवादी साहित्य का अभाव नही कहा जा सकता। ऋग्वेद में ही यथार्थवाद का स्वस्थ चित्रण मिलता है। महाभारत यथार्थवाद का प्रामाणिक ग्रन्थ है। सस्कृत के गीत साहित्य का सम्बन्ध भी यथार्थवाद से स्थापित किया जा सकता है। हिन्दी में यथार्थवाद का प्रथम सकेत वीरगाथा काल में मिलता है। आधुनिक प्रगतिवाद भी यथार्थवाद का ही प्रतिरूप कहा जा सकता है। किन्तु उसे हम यथार्थवाद का स्वस्थ स्वरूप नही मान सकते। वर्तमान युगीय मार्क्स और लेनिन के समाज सम्बन्धी विचार यथार्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक एव भौतिक यथार्थवाद कहा जाता है। मार्क्सवादी साहित्यिक इस बात का आग्रह करते हैं कि उनके साहित्य का सम्बन्ध कल्पना और आदर्श से नही है—ठोस व्यावहारिक सत्य से है। मार्क्सवाद के भौतिक सिद्धान्त के नितान्त विरोधी अतश्चेतनावादी लेखक और कवि भी अपने को यथार्थवादी ही कहते हैं। उनका यथार्थवाद अतश्चेतना का यथार्थवाद है। इस मत के पोषक भी यही कहते हैं कि काव्य हमारी अतश्चेतना की वासनाओ का चित्र होता है। मार्क्सवाद और अतश्चेतनावाद दोनों का दृष्टिकोण भौतिक है। अन्तर केवल इतना है कि एक वाह्य भौतिकता को आधार मानकर चलता है, दूसरा आन्तर भौतिकता का विश्लेपण करता है। एक का लक्ष्य सामाजिक विकास का इतिहास कहना है और दूसरे का अन्तर के यथार्थ का सही चित्र चित्रित करना। एक स्थूल समष्टि को लेकर चलता है दूसरा व्यष्टि के स्थूल अन्तर की व्याख्या करता है।

अन्तश्चेतनावादियो ने काव्य सम्वन्वी धारणा ही पलट दी है। उनका विश्वास है कि कवि अपनी बहुत सी यथार्थ अनुभूतियाँ कुछ सामाजिक प्रतिबन्धो के कारण व्यक्त नही कर पाता। अत उनकी अभिव्यक्ति के लिए वह माध्यम चुनता है। अपनी इन दान्त एव यथार्थ अन्त वृत्तियो के प्रकाशन के लिए वह नए-नए उपमानो और प्रतीको की योजना करता है। ये उपमान और प्रतीक उसके हृदय का निर्वाध उद्गार होते हैं।

इनका महत्त्व मानस विश्लेषण के सहारे समझा है, काव्य-शास्त्र के सहारे नही। यह लोग कविता को किसी प्रकार की कला नही मानते। इनके मतानुसार वह केवल कवि के 'अन्तरंग सघर्ष' का विस्फोट है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या इस कविता में किसी प्रकार का सत्य भी अन्तर्निहित रहता है? इसके उत्तर में वे लोग कहते हैं कि मानव की अन्तश्चेतना के सत्य की प्रतिष्ठा ही हमारे काव्य का प्राण होती है।

मार्क्सवादी यथार्थवादी की विचारधारा अन्तश्चेतनावादियो से भिन्न होती है। ये लोग काव्य का सारा महत्त्व वर्ग-सघर्ष के प्रकाश में आंकते हैं। इनकी दृष्टि में काव्य-सत्य कोई महत्त्व नहीं रखता। वह कवि कल्पना की वस्तु है। काव्य का मूल लक्ष्य उन सामाजिक सत्य खण्डो का उद्घाटन करना है जो प्रत्यक्ष जीवन में अनुभव होते हैं।

यथार्थवाद की इन दोनो आधुनिक धाराओ का अध्ययन करने से अनुभव होता है कि काव्य-क्षेत्र में आदर्शवाद की प्रतिक्रियाएँ बडा विकृत रूप धारण कर रही है। यह दोनो ही धाराएँ हिन्दी में योरोप से आई हैं। वे योरोपीय सस्कृति के लिए चाहे हितकर रही हों किन्तु भारतीय सस्कृति के विरोध में होने के कारण वे भारत के लिए कल्याणकर नही कही जा सकती। इनसे मार्क्स-समाजवादी यथार्थवाद को युग-मांग समझकर हम सहन भी कर सकते हैं, किन्तु अन्तश्चेतनावादियो का विकास हमारे जीवन और देश के लिए घातक हो सकता है। दूसरे देशो की नकल करने वाले कवियो से मेरा यह कहना है कि भारतभूमि में विविध प्रकार की नई आदर्शवादी धाराओ का प्रवर्तन करें। इसमें इनकी मौलिकता भी होगी और देश के साहित्य का कल्याण भी होगा। इस दृष्टि से पत ने अरविन्द दर्शन की ओर झुककर जो पथ-प्रदर्शन किया है, वह सराहनीय और अनुकरणीय है।

सत्य शिव सुन्दर

आधुनिक साहित्य में कलात्मकता का मूल्याकन सत्य शिव सुन्दर के आधार पर किया जाता है। साहित्य के समालोचना क्षेत्र में यह एक आदर्श वाक्य हो गया है। साहित्य सर्जना के मूल में तो यह तीनो तत्त्व प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है। भाव-पक्ष की सभी क्रियाएँ इन तीन शब्दो में अन्तर्निहित की जा सकती हैं। 'सत्य' के अनुभव से भावनाएँ उद्भावित होती है, 'सुन्दर' उन भावनाओ को मनोहारी रूप प्रदान करता है, 'शिव' तत्त्व ही उन्हें व्यापक मगलकारी आकार में परिणत करता है। किन्तु आज के साहित्य में सत्य शिव सुन्दर की प्रतिष्ठा जिस पारिभाषिक रूप में हुई है उसके लिए हमारा हिन्दी साहित्य पाश्चात्य साहित्य का ऋणी है। पाश्चात्य देशो में इसका प्रयोग सर्वप्रथम ऐरिस्टोटिल ने किया था। उन्होने 'The true, The good, The beautiful' नाम से इन तत्त्वो पर विचार किया है। वहाँ से इसका प्रवेश बगला साहित्य में हुआ और बगला से हिन्दी में।

दार्शनिक पृष्ठभूमि—विद्वानो ने सत्य, शिव और सुन्दर पर दार्शनिक दृष्टिकोणो से विचार कर इनकी पृष्ठभूमिया या मूलाधार निर्धारित किए हैं। दृष्टिकोण भेद से वे

पृष्ठभूमियाँ इस प्रकार हैं—

१ ज्ञान, सकल्प, और भावना।

२ सत्, चित् और आनन्द।

३ प्राणमय, मनोमय और वाङ्मय।

४ इच्छा, क्रिया और ज्ञान।

ज्ञान, सकल्प और भावना को क्रमश सत्य, शिव और सुन्दर की पृष्ठभूमि माने जाने की कल्पना पाश्चात्य विद्वान् केन्ट (Kant) के दार्शनिक सिद्धान्त पर की गई है। केन्ट के मतानुसार आत्मा की समस्त वृत्तियाँ तीन वृत्तियो में पर्यवसित की जा सकती है। अपनी पुस्तक 'Critique of Judgement' (translated by Meridith, page 15) पर उन्होने इसका सकेत किया है। वे तीन वृत्तियाँ निम्न-लिखित हैं—

१ Faculty of knowledge—ज्ञानवृत्ति।

२ Feeling of pleasure or displeasure—सुख-दुख की भावना।

३ Faculty of desire—इच्छाशक्ति।

केन्ट द्वारा निर्देशित यही तीनो वृत्तियाँ ज्ञान (knowing), भावना (feeling) और सकल्प (willing) के नाम से अभिहित की गई हैं। सत्य शिव सुन्दर इन्ही वृत्तियो के प्रतीक रूप में ग्रहण किए गए है। ज्ञान सत्य का, सकल्प शिव का और भावना सुन्दर का मूल आधार है। [कुछ विद्वानो ने इस पृष्ठभूमि का विरोध किया है। इस सम्बन्ध में डा० बोसाँके का विरोध विवेचनीय है। डा० बोसाँके (Dr Bosanquet) ने अपने 'The Three Lectures on Aesthetics' में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि सत्य ज्ञान से, शिव सकल्प से किसी प्रकार सम्बन्धित माना जा सकता है किन्तु सौन्दर्य को भावना से सम्बन्धित नही कहा जा सकता। डा० बोसाँके ने यद्यपि अपना मत अनेक तर्क-वितर्कों से पुष्ट करने का प्रयास किया है, किन्तु मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से उनका मत मान्य नही हो सकता। वृत्तियो के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से भावनाओ को सौन्दर्य का मूल स्वीकार ही करना पडेगा। हमारे प्राचीन ऋषियो ने भी सौन्दर्य की भावनामूलकता की ओर सकेत किया है। महर्षि पतञ्जलि ने एक स्थल पर पत्थरो को सम्बोधित किया है—'शृणोतुग्रावाण.' जड पदार्थ में यह प्राण-प्रतिष्ठा भावना के सहारे ही की गई है। यही प्राण-प्रतिष्ठा पाषाण-निहित सौन्दर्य को प्रस्फुटित करती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने तो 'ध्वन्यालोक' में स्पष्ट लिखा है—

"भावानचेतनऽपिचेतनवत् चेतनान् अचेतनवत्"

अर्थात् भाव द्वारा अचेतन को चेतन के समान और चेतन को जड या अचेतन के समान कल्पित किया जा सकता है।

तुलसीदास ने भी भाव और सौन्दर्य के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए कहा है—

"जेहि की रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।"

इस कथन के अनुसार ही 'रामचरितमानस' में राम के रूप का वर्णन करते हुए उसके भावानुकूल पक्षो के वैविध्य का अच्छा सकेत किया है। जो भी हो डा० बोसाँके

का मत किसी प्रकार भी ग्राह्य नही हो सकता और ज्ञान, सकल्प और भावना ही सत्य शिव सुन्दर के आधार कहे जा सकते है।

संस्कृत के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कवि भवभूति की प्रसिद्ध काव्य परिभाषा के आधार पर भी सत्य शिव सुन्दर की पृष्ठभूमि निर्धारित की जा सकती है। भवभूति ने वाणी को आत्मा की कला कहा है—

"विन्देम देवतां वाचममृतानात्मन कलाम्"

यदि काव्य आत्मा की कला है तो आत्मा की प्रमुख विशेषताएँ भी काव्य में प्रतिबिम्बित होनी चाहिएँ। आत्मा की प्रमुख विशेषताएँ तीन हैं—सत्, चित् और आनन्द। ये तीनो वृत्तियाँ ही काव्य में सत्य शिव सुन्दर के रूप में अवतरित होती हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा का आध्यात्मिक निरूपण किया गया है। आत्मा का वर्णन करते हुए उसमें लिखा है—

"अयं आत्मा वाङ्मय, मनोमय प्राणमय." अर्थात् यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है।

आत्मा के इन तीनो तत्त्वो के आधार पर भी सत्य शिव सुन्दर की पृष्ठभूमि निर्धारित की जा सकती है। वाङ्मय को शिव, मनोमय को सौन्दर्य तथा प्राणमय को सत्य की आधारभूमि माना जा सकता है।

शैव दर्शन की दृष्टि से सत्य शिव सुन्दर के मूलभूत तत्त्वो का विचार एक दूसरे प्रकार से किया जा सकता है। महाकवि 'प्रसाद' की 'कामायनी' पर शैवदर्शन की स्पष्ट छाया प्रगट होती है। निम्नांकित पंक्तियो में मानव की इच्छा, क्रिया और ज्ञान नामक तीन प्रमुख वृत्तियो के समन्वित रूप से आनन्द की प्रतीति होना ध्वनित किया गया है—

"इच्छा, क्रिया ज्ञान मिल लय थे
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे"

काव्य का लक्ष्य भी इसी आनन्द की सृष्टि करना माना गया है। इस दृष्टि से हम कैन्ट द्वारा निर्देशित ज्ञान भावना और सकल्प के स्थान पर इच्छा क्रिया और ज्ञान को भी सत्य शिव सुन्दर की पृष्ठभूमि मान सकते हैं।

काव्य में सत्य तत्त्व—काव्य का सत्य जीवन और जगत के वास्तविक सत्य से थोड़ा भिन्न होता है। यद्यपि कवि को अपने काव्य-सृजन की प्रेरणा हमारे चारो ओर के वातावरण और उनके विविध मार्मिक रूपो से ही मिलती है, किन्तु फिर भी इतिहास के समान काव्य को जीवन के कठोर सत्य का प्रतिबिम्ब नहीं कह सकते। कवि का भाव-जगत् साधारण भाव-जगत् से भिन्न होता है। उनके भाव-जगत् में कल्पना का विशाल साम्राज्य होता है। इनके सम्मुख समस्त बाह्य-बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं और कवि जीवन के सत्यानुभव को कल्पना के सहारे एक नवीन आह्लादकारी रूप देने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार कवि कल्पना के माध्यम से जिन स्वतन्त्र रूपो का निर्माण करते हैं वह यथार्थ सत्य न होते हुए भी काव्य के सत्य के रूप में ग्रहण किया

जाता है। अग्निपुराण में रूप-निर्माण सम्बन्धी कवि-स्वातन्त्र्य के लिए स्पष्ट ही लिखा है—

"यथास्मै रोचते विश्व तथेदम् परिवर्तते।"

कवि की यह निरकुशता काव्य में नवीनता, मौलिकता और रोचकता का समावेश करती है। साथ-ही-साथ वह उसे विज्ञान जगत् से भिन्न भी कर देती है। कुशल कलाकार अपने इस स्वातन्त्र्य का अनुचित उपयोग नही करते। वास्तविक सत्य की उपेक्षा भी वे नही करते बल्कि जीवन के सापेक्ष सत्य के अन्तर्गत ही उसके निरपेक्ष सत्य का उद्घाटन कर देते हैं। जीवन के अपूर्ण सत्य को पूर्ण और लोकरञ्जनकारी रूप प्रदान करते हैं। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में कवि भारती का वर्णन करते हुए लिखा है—

"नियतिकृत नियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरन्त्राम्।
नवरस रुचिराम् निर्मितमावधती भारती कवेर्जयति॥"

अर्थात् कवि भारती विजयिनी हो। कवि भारती की रचना ब्रह्माजी की इस रचना से सर्वथा विलक्षण होती है। वह नियति के नियमो से निर्मुक्त रहती है। वह केवल हर्षात्मक मात्र होती है। वह किसी भी प्रकार से परतन्त्र भी नही होती। उसमें नवरसो का समावेश रहता है। वास्तव में वह बडी ही रमणीय और विलक्षण होती है। काव्य नियतिकृत नियमो से रहित होते हुए भी असम्भाव्य की सीमा तक नही जाता। असम्भाव्य के प्रदर्शन से उसमें आह्लादकारी रस सचार की क्षमता नही रहती। काव्य-सत्य अपने इसी आह्लादकारी गुण के कारण आदर्श पथ-द्रष्टा माना गया है।

कभी-कभी काव्य में ऐसे चित्रण मिलते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से असम्भव और असत्य प्रतीत होते हैं। कुछ आचार्यों ने तो अतिशयोक्ति पर शैलीगत सौन्दर्य को आश्रित माना है। इसका यह तात्पर्य नही कि कवि वास्तविकता का विस्मरण कर बैठते हैं, किन्तु ऐसे वर्णनो के समय उनका लक्ष्य लक्षणा और व्यञ्जना के सहारे अपने अनुभूत भावों को अत्यधिक प्रभावात्मक रूप में प्रकट करना होता है। प्रभावाभिव्यञ्जकता वस्तु को ज्यो का त्यो वर्णित कर देने से तीव्रतम रूप धारण नही कर सकती। कवियो का लक्ष्य स्वानुभूतियो को परवेद्य बनाना होता है। अत. वह अपने लक्ष्य के अनुरूप ही सत्य को भी ढाल लेते हैं। इसमे सत्य का रूप विकृत न होकर आकर्षक और सवेदनात्मक हो जाता है। जीवन-काव्य के सफल निर्माता महात्मा तुलसीदास ने सीता के सम्वन्ध में लिखा है—

"कनगुरियां की मुंदरी कगन हो जाय"

इस कथन में अतिशयोक्ति की पराकाष्ठा होते हुए भी नारी की विरह-जनित अवस्था का कितना मार्मिक चित्राकन है। सहृदय पाठक के सम्मुख सीताजी की अतीव कृशता का चित्र कितनी सरलता से उपस्थित कर दिया गया है। कवि की काव्यत्व शक्ति का परिचय ऐसे ही स्थलो पर मिलता है। उर्दू कवि हसरत ने कवि के इसी प्रेषण-विधान को महत्त्व देते हुए लिखा भी है—

"शेर दर असल वही है हसरत
जो कहते-कहते दिल में उतर आए।"

काव्य को यह रूप प्रदान करने के लिए उसमें चमत्कार की योजना करनी ही पड़ती है। इसी चमत्कार प्रतिष्ठा के लिए काव्य सत्य को अलकार, रस आदि काव्य के विविध उपादानो से भी युक्त करना पड़ता है। इस समन्वयकारी व्यापार में औचित्य का बड़ा महत्त्व है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

"औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिरम् काव्यस्य जीवितम्"

अर्थात् औचित्य रससिद्ध काव्य का प्राण होता है। काव्य का सत्य औचित्य से समन्वित रहता है। सुधांशु जी के शब्दो में हम कह सकते हैं—"काव्यगत सत्य के लिए यह सर्वथा अपेक्षित है कि वह आन्तरिक आवश्यकता और औचित्य विचार की उपेक्षा न करे। पाठको के आशाक्रम पर व्याघात पहुँचाना सत्य के ऊपर व्याघात करना ही है"।

काव्य में बहुत सी ऐसी उक्तियाँ भी प्रचलित हैं जो कवि-प्रसिद्धि कहलाती हैं। कवि-परम्परा इन उक्तियो का प्रयोग चिरकाल से करती आ रही है। इनके सत्यासत्य के विषय में सन्देह भी हो सकता है किन्तु यह प्रसिद्धियाँ परम्पराभुक्त और मार्मिक होने के कारण काव्य-सत्य के रूप में ग्रहण की जाती हैं। समाज इनकी अवहेलना नही कर सकता।

काव्य में शिव तत्त्व—काव्य में शिव तत्त्व का भी बड़ा महत्त्व होता है। शिव का अर्थ होता है कल्याण-भावना। मानवता के महान् उपासको की साधना इसी कल्याण-भावना को लक्ष्य कर आरम्भ होती है। काव्य-कला भी एक साधना ही है, वह अपूर्णता को पूर्णता तक पहुँचाने का ही सतत प्रयास है। कलाकार अपने इस प्रयास का सफल परिणाम शिव तत्त्व के अवराधन से ही प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय शास्त्रो में तो शिव तत्त्व को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसे देवाधिदेव महादेव के साक्षात् प्रतिरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। हमारी प्रत्येक साधना आध्यात्मिक रही है। अपनी इसी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण शिव तत्त्व को भी आध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है। गीता में इसी तत्त्व को 'हित तत्त्व' कहा है। भगवान् कृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म द्वारा लोक सग्रह की भावना को व्यक्त किया है—

"कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय।
लोकसग्रहमेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हसि॥" (३।२०)

भारतीय सभी महान् ग्रन्थो का यही सन्देश है। श्रुति ग्रन्थो में इसी हित तत्त्व या शिव तत्त्व की महत्ता का प्रतिपादन मिलता है। यजुर्वेद में एक स्थल पर कहा गया है—

"तन्मेमन शिवसकल्पमस्तु।"

महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' जैसे वृहद् ग्रंथ की रचना लोकहित के लिए ही की है। उन्होंने काव्य में शिव तत्त्व की महत्ता को स्पष्ट ही व्यञ्जित किया है—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥"

तुलसी की इस जन-हित भावना के विषय में उनकी "स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" वाली पंक्ति भ्रम उत्पन्न कर देती है। एक ओर तो वे काव्य को जन-

हित का हेतु बताते हैं दूसरी ओर उसकी रचना 'स्वान्त सुखाय' करते हैं। किंतु तुलसीदास की भावनाओ का गम्भीर अध्ययन करने पर इस भ्रम का निराकरण हो जाता है। उनका 'स्वान्त सुख' व्यक्तिगत स्वार्थ तक ही सीमित नही था। उनकी लोकरञ्जनकारी सात्त्विक भावना के अनुरूप उसकी परिधि भी बहुत व्यापक थी। उनका आत्मसुमुख केवल स्वार्थ में ही नही बल्कि जनहित में था।

काव्य में शिव तत्त्व को महत्त्व अवश्य दिया गया है, किंतु वह सदा एक ही में नही दिखाई पडता। काव्य में व्यक्तिगत और सामाजिक प्रवृत्तियो का बिम्बाकन किया जाता है अत शिव तत्त्व भी जिस काल और समाज में जिस रूप में विद्यमान रहा उसी रूप में काव्य में भी समाविष्ट किया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में चारो कालो में चार भिन्न प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं। वीरगाथाकाल और रीतिकाल में शिव तत्त्व के स्थान पर सत्य की आराधना को महत्त्व दिया गया है। रीतिकाल में उपदेशात्मक सूक्तियो के रूप में शिव भावना का किंचित् आभास मिलता है। काव्य में शिव-तत्त्व की पराकाष्ठा भक्ति-काल में देखी जा सकती है। आधुनिक काल में भी शिव का समावेश किया गया है, किन्तु उस रूप में नही जिस रूप में भक्ति-काल में मिलता है। भक्ति-काल में शिव-तत्त्व को आध्यात्मिक और धार्मिक कसौटी पर कसा गया था। आधुनिक काल उपयोगितावाद का समर्थक है, आधुनिक साहित्य का प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही उपनाम है। इसमें शिव को अध्यात्मवाद के घेरे से निकालकर भौतिक रूप प्रदान किया गया है। महाकवि पत के ऐसे ही प्रगतिवादी उद्गार इन पक्तियो में देखिए—

"तुम वहन कर सको जन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलकार।
× × ×
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको मानव उर के नि:शब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।"

—आधुनिक कवि २—वाणी, पृ० १०१

छायावादी युग में शिव तत्त्व बहुत कुछ आध्यात्मिक होते हुए भी भक्ति काल से भिन्न है। मनोवैज्ञानिक कवि प्रसाद ने शिव तत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा अपने महाकाव्य 'कामायनी' में की है। कामायनी का आनन्द तत्त्व ही शिव तत्त्व है। काव्य के सभी पात्रो का अवसान इसी तत्त्व में होता है। किन्तु इस शिव-तत्व का स्वरूप भक्तिकालीन शिवत्त्व के समान लोकव्यापी नही है यह बहुत कुछ आत्मसाधनाप्रधान है। छायावाद में शिव की प्रतिष्ठा वैयक्तिक आदर्श की अभिव्यक्ति द्वारा की गई है।

हिन्दी साहित्य के इन विभिन्न रूपो को दृष्टि में रखते हुए काव्य में शिव तत्त्व की अभिव्यक्ति निम्नलिखित रूपो में दिखाई पडती है—

१. लोक सग्रह की भावना भक्ति के आदर्शों की प्रतिष्ठा के रूप में।
२ दर्शन और अध्यात्मवाद के आदर्शों की प्रतिष्ठा के रूप में।

३ नैतिक या कान्तासम्मित उपदेश की प्रतिष्ठा के रूप में।
४ लौकिक या उपयोगितावाद के आदर्शों की प्रतिष्ठा के रूप में।
५ वैयक्तिक आदेश की प्रतिष्ठा के रूप में।

काव्य में सौन्दर्य तत्त्व—काव्य में सौन्दर्य तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व है। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति ही काव्य का आधार है। काव्यानुभूति और सौन्दर्यानुभूति परस्पर समानार्थी के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सौन्दर्य से रहित रचना काव्य की सीमा तक नही पहुँच सकती। यही काव्य का वैभव है। सौन्दर्य के साधारण अर्थ से काव्य सौन्दर्य भिन्न होता है। काव्य का सौन्दर्य एक अनिवार्य तत्त्व है इसकी स्थिर रूपरेखा प्रस्तुत नही की जा सकती। इसकी अनिवार्यता के सम्बन्ध में हमारे कवि भारवि ने लिखा है—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूप रमणीयताया।"

अर्थात् जो रूप क्षण-प्रतिक्षण अभिनव सौन्दर्य धारण करता रहता है वही वास्तविक रमणीयता है।

श्रेष्ठ काव्यकारो की वाणी में सौन्दर्य का यही रूप परिलक्षित होता है। इसके विपरीत साधारण कोटि के कलाकार सौन्दर्य के स्थूल रूप का ही अनुभव कर पाते हैं। उनकी दृष्टि वाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रह जाती है, जबकि प्रथम कोटि के कलाकार उसके आन्तरिक रूप को भी समझने का प्रयास करते हैं। वाशिंगटन इरविन नामक पाश्चात्य विद्वान् ने आन्तरिक पक्ष को महत्त्व देते हुए लिखा है—

"आन्तरिक सौन्दर्य ही वाह्य सौन्दर्य का विधायक होता है। मैं गुण सम्पन्न महिला से कही अधिक प्रभावित होता हूँ उस रूपवती महिला की अपेक्षा जिसमें गुण नही होते।"

सौन्दर्य के वाह्य पक्ष को प्रधानता देनेवाले विद्वानो में 'सॉक्रेटीज', 'ऐरिस्टोटिल' आदि प्रमुख हैं। सॉक्रेटीज ने सौन्दर्य को 'Short lived tyranny' कहा है। सौन्दर्य का वाह्य रूप ही क्षणिक और अनित्य होता है उसका आन्तरिक पक्ष नित्य नया रूप धारण कर प्रस्फुटित होता रहता है।

सौन्दर्य के इस आन्तरिक और वाह्य पक्ष के अतिरिक्त वह विषयगत और विषयीगत भी माना गया है। विषयगत सौन्दर्य या रूप-सौन्दर्य मात्र सच्चे कलाकार को आकर्षित नही करता। यह सौन्दर्य वासनामूलक होता है। कलाकार की सौन्दर्यानुभूति साधारण स्तर से कही ऊँची होती है। वह सौन्दर्य के सात्त्विक और आध्यात्मिक पक्ष में विश्वास करता है। महाकवि कालिदासकृत कुमारसम्भव की ये पंक्तियाँ देखिए—

"यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच·"

अर्थात् हे पार्वति यह जो कहा जाता है कि वास्तविक सौन्दर्य पाप-वृत्ति का हेतु नही होता वह वहुत सत्य है।

सौन्दर्य का यह सात्त्विक पक्ष अखड और अपरिसीम है। यह विषयगत नही वल्कि विषयीगत होता है। इसकी स्थिति प्रत्येक सौन्दर्य चिन्तक के हृदय में होती है। वह प्रकृति के अनुसार प्रतीत होने वाले पदार्थों में भी सौन्दर्य की अनुभूति करता है।

बँगला के विश्व-विख्यात कवि रवीन्द्र की निम्नलिखित पंक्तियो में उनकी आत्म-सौन्दर्य भावना का अच्छा परिचय मिलता है। वे काली कृषक-कन्या की कृष्ण कली से समता करते हुए लिखते हैं—

"कृष्ण कली आमितारेइ बलि
कालो तारे बले गाँयेर लोक
मेछला दिने देखे छिलाम माठे
काली मेयेर कालो हरिण चोख" इत्यादि।

अर्थात् लोक उस कृषक बालिका को काली कहता है, किन्तु मैं उसे कृष्ण कली कहता हूँ। एक दिन आकाश मेघो से आवृत्त था तब मैंने उसके हरिण के समान काले नेत्रो को देखा।

कृषक बाला का यह नैसर्गिक सौन्दर्य सहृदयो को ही आकर्षित कर सकता है। हिन्दी के महानतम कवि जयशकर प्रसाद ने भी अनेक स्थलो पर प्रकृति के असुन्दर दृश्यो को सजीव सौन्दर्य प्रदान किया है। सौन्दर्य तत्त्व की ओर छायावादी कवियो की प्रवृत्ति अधिक आकृष्ट हुई है। उनकी सौन्दर्य भावना विषयप्रधान और विषयीप्रधान दोनो ही रही है।

सत्य शिव सुन्दर इन तीनो तत्त्वो के समन्वय से काव्य श्रेष्ठतम रूप धारण करता है। ऐरिस्टोटिल, कॉलरिज, मैथ्यू आनर्ल्ड आदि विद्वानो ने तीनो के समन्वय को महत्त्व दिया है। भारतीय श्रेष्ठ कवियों की दृष्टि भी समन्वयात्मक है। गीता के सत्रहवें अध्याय में वाङ्मय की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए 'सत्य प्रिय-हित' तीनो के योग को आवश्यक बताया गया है—

"अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत्
स्वाध्यायाम्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते"

(१७।१५)

सन्त कवि तुलसीदास तो सामञ्जस्यवादी ही थे। निम्नलिखित पक्तियो में क्रमश सत्य शिव सुन्दर तीनो के दर्शन होते हैं—

"कलिमल तृन फलिमूल निकन्दिनी"
"सरजू नाम सुमगलमूला" या "सुरसरिसम सब कर हित होई'
"सहज विराग रूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द चकोरा"

छायावादी कवि पन्त ने भी तीनो के ऐक्य का समर्थन करते हुए लिखा है—

"यही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोकसेवा में शिव अविकार॥"

प्रज्ञा के सत्य स्वरूप से कलाकार को सौन्दर्यानुभूति होती है। यह अनुभूति जब लोकसेवा का व्यापक रूप धारण कर लेती है तब काव्य में शिव तत्त्व का समावेश होता है।

कुछ विद्वानो ने काव्य में सत्यं, शिव और सुन्दरं तीनो के समन्वय पक्ष को ग्रहण नही किया है। वे सत्य और शिव को या सत्य और सौन्दर्य को ही महत्त्व देते हैं। सत्य और शिव का समर्थन करने वाले पाश्चात्य विद्वानो में वेन्सन, सिमन्ड, गोथे, रस्किन, प्लेटो, गॉल्सवर्दी, मार्क्स, टॉल्सटाय आदि प्रमुख हैं। हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर भी पाश्चात्य मार्क्सवादी प्रभाव पडा है। इसमें समाजवाद के रूप में शिव तत्त्व को और यथार्थवाद के रूप में सत्य तत्त्व को महत्त्व दिया गया है। निरालाजी की निम्नलिखित पक्तियों में सत्य का यह चित्रण देखिए—

"वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता ॥" इत्यादि।

इन पक्तियो में काव्यगत सौन्दर्य का एक प्रकार से अभाव होते हुए भी सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण है। कवि अपनी लोक-हित कामना को किसी क्रियात्मक रूप में न प्रकट कर वाणी द्वारा ही स्पष्ट करते हैं और ऐसी त्रुटियो की ओर विशाल जन-समाज का ध्यान आकृष्ट कर उनके सुधार की कामना करते हैं।

काव्य के प्रति व्यापक दृष्टिकोण न रखने वाले अधिकाश विद्वानो ने केवल सत्य और सौन्दर्य को ही महत्त्व दिया है। शिव जैसे व्यापक तत्त्व की उन्होंने उपेक्षा की है। कीट्स ने सत्य और सौन्दर्य के समन्वय के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कहा है—

'Truth is beauty, beauty is truth'
सत्य ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही सत्य है।

शेक्सपियर ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है—"Oh how much more doth beauty beautious seem by that sweet ornament which truth doth give" अर्थात् सौन्दर्य सुन्दर तभी प्रतिभासित होता है जब वह सत्य से अनुप्राणित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य तभी सच्चा काव्य कहला सकता है जब उसकी अवस्थिति सत्य, शिव और सुन्दर की समुचित भूमिका पर की गई हो।

काव्योत्पत्ति के हेतु

"कला की प्रेरणाएँ" और "साहित्य की प्रेरणाएं" शीर्षको से हम इस विषय का विवेचन पहले भी कर चुके हैं। यहां पर हम थोडा विस्तार से विचार करेंगे।

काव्योत्पत्ति के हेतुओं पर पाश्चात्य और प्राच्य दोनों ही कोटि के विद्वानो ने मनोयोग के साथ विचार किया है। प्रत्यक्ष रूप से सब के मत एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अधिकाश मत एक दूसरे से मेल खाते प्रतीत होगे।

काव्योत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के मत—हडसन के मत का सकेत हम पहले भी कर चुके हैं। उसने काव्योत्पत्ति की कारणभूत चार प्रवृत्तियाँ मानी हैं—

(१) आत्माभिव्यक्ति की कामना।
(२) मनुष्यो और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव।
(३) यथार्थ जगत के प्रति हमारा आकर्षण।
(४) कल्पना जगत के निर्माण की प्रवृत्ति।

उपर्युक्त चार प्रवृत्तियो के अतिरिक्त साहित्य को जन्म देने वाली कुछ और वातो पर भी विचार किया गया है।

काव्य की प्रेरक शक्तियाँ

वर्गसा के मतानुसार ससार स्वय ही काव्य विधान की एक स्वाभाविक प्रेरणा प्रदान करता है। विद्वानो का एक वर्ग कल्पना को ही साहित्य की मूल प्रेरिका मानता है। प्लेटो का मत इन सबसे भिन्न था। वह मानस विम्ब (फैन्टेजिया) को काव्य के मिथ्या कथा-पक्ष का उद्भावक समझता था। कुछ दूसरे पाश्चात्य आचार्य फैन्सी (कल्पनामयी धुन) को ही काव्य का उत्पादक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इमेजरी (कल्पना विम्बो) को महत्त्व देने वाले आचार्यों का कहना है कि मानसविम्ब ही अभिव्यक्त होकर काव्य का रूप धारण कर लेते हैं। पाश्चात्य विद्वानो का एक सम्प्रदाय (सावे) कवि के काव्य-चातुर्य को ही काव्य की उद्भावना का उत्तरदायी बतलाता है। काव्योन्माद को काव्य का उत्पादक मानने वालो की भी अच्छी संख्या है। इनका कहना है कि कवि में काव्य की जागृति स्वयमेव होती है। वही काव्योन्माद में परिणत हो जाती है। यह काव्योन्माद ही वडे काव्यो के विकास का प्रेरक माना जाता है। मिथ्या कल्पनावादी मिथ्या कल्पना को ही काव्य का प्रेरक मानते हैं। कुछ लोगो ने अन्त स्फुरण (Inspiration) की प्रतिष्ठा करते हुए प्रतिपादित किया है कि काव्य की मूल प्रेरिका यही है। इमी प्रकार पाश्चात्य देशो में निर्वाध अभिव्यक्ति (Spontaneity), भावुकता (Sentimentality), भावावेश (Ectacy), अनुकरण (Imitation), अति प्राकृतिक तत्त्व (Supernaturalism), अन्धविश्वास (Superstition) आदि को भी काव्य का प्रेरक सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। इन सैंकडो मतो में कौन मत सबसे अधिक अनुकरणीय और स्पृहणीय है यह कहना वडा कठिन है। मेरी समझ में उपर्युक्त तत्त्वो में से प्रत्येक काव्य के विकास में किसी न किसी रूप में सहायक होता है। इन सवमें परस्पर वहुत अन्तर भी नहीं है। इन सवका अन्तर्भाव केवल तीन-चार में सरलता से किया जा सकता है। इन तीनो-चारो का अन्तर्भाव भारतीय आचार्यों द्वारा निर्देशित प्रेरक तत्त्वो में होता मालूम पडता है।

मनोवैज्ञानिको का मत साहित्यिको के मतो से भिन्न है। मनोवैज्ञानिको में सबसे अधिक विचारणीय मत फ्रायड, एडलर, युग आदि के हैं। फ्रायड के मतानुसार 'काम' मानव-जीवन का मूल प्रेरक है। काम की यह इच्छा तीनो रूपो में व्यक्त हुआ करती है—सम्भोग की इच्छा, एक दूसरे के प्रति सयोग, अपने वाल-वच्चो के प्रति स्नेह और

उनकी सरक्षा की भावना। बहुत सी सामाजिक और सास्कृतिक व्यवस्थाओ के कारण इनमें से अधिकाश का दमन कर दिया जाता है। कला और साहित्य की उत्पत्ति इनके उभार के परिणामस्वरूप ही होती है।

एडलर ने 'काम' के स्थान पर शासन-शक्ति को मानव-जीवन का मूल प्रेरक माना है। युङ्ग ने "कलैक्टिव अनकॉन्सस" के सिद्धात को महत्त्व दिया और कला या साहित्य की मूल प्रेरिका उसी को माना है। एक मत स्वप्नवादियो का भी है। ये लोग स्वप्न को साहित्य के उद्भव का एक हेतु मानते हैं। इनका कहना है कि सुखानुभूति की अवस्था में जाग्रत या स्वप्न की अवस्था में उदय होने वाला आन्तरिक उन्मेष ही काव्य का प्रेरक होता है।

टी० एस० इलियट साहब ने बाह्य बातो की शृङ्खला का (Objective Corroletive) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि यदि वस्तुओ और घटनाओ की बाह्य शृखला ढूंढ ली जाय तो फिर काव्य की अभिव्यक्ति अपने आप हो सकेगी और तत्सम्बन्धित भाव भी अपने आप व्यक्त हो सकेंगे। इसी से मिलता-जुलता सिद्धान्त वातावरणवादियो का है। इनका कहना है कि काव्य या कला का मूल प्रेरक कवि या कलाकार का वातावरण होता है। कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने एक प्रकार की मानस विकृति को ही काव्य का प्रमुख कारण सिद्ध किया है। उनके अनुसार कवि या कलाकार में एक मानसिक विकृति होती है जो सामान्य व्यक्तियो में नही रहती है। यह मानसिक विकृति ही काव्य का कारण होती है। यही कारण है कि काव्य के रचयिता सामान्य व्यक्ति नही हो सकते।

भारतीय दृष्टिकोण—काव्योत्पत्ति हेतुओ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध मत आचार्य मम्मट का है—

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"

अर्थात् "कविता रचने की शक्ति, लोक और शास्त्र आदि का ज्ञान, काव्य जानने वालों की शिक्षा, उसका अभ्यास आदि ही काव्य की उत्पत्ति का मूल कारण हैं।" इस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्योत्पत्ति के कारणभूत हेतुओ में शक्ति, निपुणता, अभ्यास इन तीनो के समन्वित रूप को माना है। मम्मट के इस मत से सस्कृत के अधिकाश आचार्य सहमत हैं।

मम्मट के समान ही भामह भी शक्ति, निपुणता और अभ्यास को ही काव्योत्पत्ति का हेतु मानते थे। दण्डी ने प्रतिभा, शास्त्रज्ञान और अभ्यास को काव्यहेतु मानते हुए भी अभ्यास को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। वही एक ऐसे आचार्य हैं जिसने प्रतिभा के अभाव में भी काव्योत्पत्ति की कल्पना की है। रुद्रट मम्मट और भामह के अनुगामी थे। वे दडी के समान प्रतिभा को गौड हेतु नही मानते थे। वे शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो को ही सम्मिलित रूप से आवश्यक समझते थे। जैन आचार्य वाग्भट्ट भी तीनो ही को महत्त्व देते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकाश सस्कृत आचार्य तीनो को ही काव्योत्पत्ति का कारण मानते थे।

अब हम थोडी सी व्याख्या प्रतिभा, शक्ति, व्युत्पत्ति, शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास आदि की कर देना चाहते हैं।

प्रतिभा, शक्ति और व्युत्पत्ति तीनो लगभग पर्यायवाची हैं किन्तु तीनो अलग-अलग अपनी कुछ विशेषताएँ भी रखती हैं। यह बात तीनो की व्याख्या से प्रगट् हो जायगी।

शक्ति का स्पष्टीकरण रुद्रट ने इस प्रकार किया है—

"मनसि सदा सुसमाधिनि
विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य
अक्लिष्टानि पदानि च
विभान्ति यस्यामसौ शक्ति ॥" —काव्यालकार १।१५

अर्थात् "जिस विशेषता द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण तथा कठिनतारहित पदो का भान होता है उसी को शक्ति कहते हैं।"

✓प्रतिभा की व्याख्या करते हुए भट्टतौत ने लिखा है।

"प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता।"

✓वक्रोक्ति जीवितकार ने प्रतिभा का स्पष्टीकरण दूसरे ढग से किया है। वे लिखते हैं —

"प्राक्तनाद्यतन सस्कार परिपाक प्रौढा
प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति"

अर्थात्—"पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के सस्कारो से परिपक्व दृढ बनी हुई एक अनोखी कवित्व शक्ति ही प्रतिभा कहलाती है।" प्रतिभा का स्पष्टीकरण वामन ने भी किया है। उसके अनुसार प्रतिभा ही कवित्व का प्रमुख कारण है। उसने लिखा है–

"कवित्व बीज प्रतिभान कवित्वस्य बीज कवित्वबीज जन्मान्तरागतसस्कार विशेष कश्चित् यस्माद् विना काव्य न निष्पद्यते निष्पन्न वा हास्याऽऽयतन स्यात्।"

अर्थात् "कवित्व का कारण 'प्रतिभान' है। यह प्रतिभान जन्मातरगत संस्कार विशेष होता है। उसके बिना काव्य निष्पन्न नही हो सकता, और यदि निष्पन्न भी हो जाय ✓तो हास्य को प्राप्त होता है।" प्रतिभा की व्याख्या राजशेखर ने भी की है। उन्होंने प्रतिभा को कवि के हृदय में शब्द, अर्थ और शक्ति के चमत्कार को अनुभूति-जाग्रत करने वाली शक्ति कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शक्ति और प्रतिभा एक ही हैं। आचार्य रुद्रट् ने दोनो को एक ही माना भी है। शक्ति या प्रतिभा का होना कवि में बडा आवश्यक होता है। काव्य की सच्ची उद्भाविका प्रतिभा या शक्ति ही है। पाश्चात्य विद्वानो ने प्रतिभा की खोज की है किन्तु उसके निचले स्तरो तक ही पहुँच सके। कल्पना शक्ति, फैन्टेजिया (मानस-बिम्ब), फैन्सी (व्यामोह), इमेजरी (कल्पना-बिम्ब), फैन्टेसी (मिथ्या-कल्पना), (काव्योन्माद), इन्सपायरेशन (अन्त स्फुरण), स्पान्टेनिटी (आकस्मिक-स्फुरण), सेन्टीमेन्टैलिटी (भावुकता), एकस्टैसी (उल्लास) तथा जनस्थित समाधि आदि सब प्रतिभा की ही निम्नतर भूमिकाएँ हैं।

निपुणता—विविध शास्त्रो, विद्याओ और लोक-व्यवहार आदि का ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर कवि काव्य रचना की योग्यता या निपुणता को प्राप्त करता है। 'व्युत्पत्ति' भी निपुणता से मिलता-जुलता शब्द है। मम्मट ने जिसे निपुणता कहा है, रुद्रट् ने उसी को व्युत्पत्ति कहा है (काव्यालकार १।१४)। पाश्चात्य आचार्यों के 'सावें' (काव्यचातुर्य्य), एम्पैथी (एकात्मता) एव अनुकरण आदि का अन्तर्भाव भारतीय निपुणता या व्युत्पत्ति में सरलता से किया जा सकता है।

अभ्यास—काव्योत्पत्ति का तीसरा आवश्यक हेतु अभ्यास है। प्रतिभा और निपुणता की सफलता और सार्थकता अभ्यास पर निर्भर हैं। काव्यज्ञ से सीखी हुई काव्यकला का अभ्यास वडा आवश्यक होता है। अभ्यास के द्वारा ही सुयोग्य शिष्य गुरु से प्राप्त शिक्षा को विकसित कर पाता है, अन्यथा नही। अत काव्योत्पत्ति में अभ्यास का वडा महत्त्व है। दण्डी तो अभ्यास को काव्योत्पत्ति का प्रमुख हेतु मानता था। उसने लिखा है—

"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना
गुणानुवन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
तदस्ततन्द्रैरनिश सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभि।
कृशे कवित्वेपिजना कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥"

—काव्यादर्श १। १०४, १०५

काव्योत्पत्ति हेतुओ पर प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वानो ने बड़े विस्तार से विचार किया है उनका थोडा सकेत हम ऊपर कर चुके हैं। आश्चर्य है कि मूल मनोवैज्ञानिक तथ्य तक किसी की पहुँच न हो सकी। मेरी समझ में काव्य की जनयित्री मनुष्य की प्राणभूत विशेषता उसकी मनन की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति ने ही पशु और मनुष्य में भेद स्थापित कर रखा है। पशुओ में मनन की प्रवृत्ति नही होती है। मनुष्य और 'मैन' इसी विशेषता के कारण बने हैं। दोनो ही शब्द 'मन' धातु से व्युत्पन्न हुए है। मानव की इस मनन की वृत्ति ने ही काव्य या साहित्य को जन्म दिया है। मननशील मानव-मन जब सासारिक वस्तुओ के सम्पर्क में आता है तब व्यक्तिगत प्रकृति के अनुसार कुछ वस्तुओ को देखकर उसमें तन्मय हो जाता है। कुछ वस्तुओ के प्रति उसके हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है और कुछ के प्रति वह भयभीत होता है। तन्मय-प्रधान मननशीलता ही साहित्य की जननी है। जिज्ञासापूर्ण मननशीलता से विज्ञान का विकास होता है। भय-विशिष्ट मननशीलता ही धर्म और उपासना का उदय-हेतु है।

काव्य के भेद

रूप, आकार, प्रवृत्ति, शैली आदि के आधार पर काव्य के कई भेद किए गए

हैं। हिन्दी में काव्य भेद और उनकी प्रवृत्तियाँ प्रचीन सस्कृत ग्रन्थो के अनुकरण पर निर्धारित की गई हैं, किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा एक नवीन ही दृष्टिकोण को लेकर आगे वढ रही है। उस पर सस्कृत का प्रभाव तो था ही पाश्चात्य प्रभाव से भी वह वचित न रह सकी। अत काव्य भेद और उनके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है। हिन्दी काव्य में प्राच्य और पाश्चात्य दोनो काव्य स्वरूपो के सम्मिश्रण से अनेक नवीन काव्य रूपो की सृष्टि हुई है।

सस्कृत आचार्यों द्वारा किए गए काव्य के भेद—सस्कृत में काव्य को वर्गीकृत करने वाले प्रमुख ग्रन्थ और आचार्य निम्नलिखित हैं—

१ अग्निपुराण के रचयिता व्यास जी।
२ भामह।
३. दण्डी।
४ वामन।
५ रुद्रट।
६ हेमचन्द्र।
७ विश्वनाथ।

अग्निपुराण—इसमें काव्य के तीन भेद वताए हैं।[1]

१ श्रव्य—काव्यादि।
२ अभिनेय—नाटकादि।
३ प्रकीर्ण—पत्रादि।

भामह—भामह ने सम्पूर्ण काव्य या साहित्य को गद्य और पद्य दो स्थूल भेदों में विभक्त किया है। भाषा भेद से उसके सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीन विभाग किए हैं। काव्य के वर्ण्य-वस्तु भेद से पुन चार भेद वताए हैं—

१ वृत्तदेवादिचरितशसि।
२ उत्पाद्यवस्तु।
३ कलाश्रय।
४ शास्त्राश्रय।

स्वरूप भेद से भामह ने काव्य के पाँच भेद माने हैं—

१ सर्गवन्ध (महाकाव्य)।
२ अभिनेयार्थ (नाटय)।
३ आख्यायिका।
४ कथा।
५ अनिवद्ध।

---

१ श्रव्य चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभि' (३३७।३९)।

भामह ने यह काव्य विभाजन विभिन्न आधारो पर किया है। 'काव्यालकार' के प्रथम परिच्छेद में इन विभेदो पर विपशे प्रकाश डाला गया है।

दण्डी—दण्डी ने साहित्य को सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और मिश्र इन चार भापाओ के अन्तर्गत रक्खा है। अग्निपुराण के समान दण्डी ने भी काव्य के गद्य, पद्य और मिश्र तीन रूप वताए हैं। इन तीनो के भी अनेक भेदोपभेद हैं[1]—
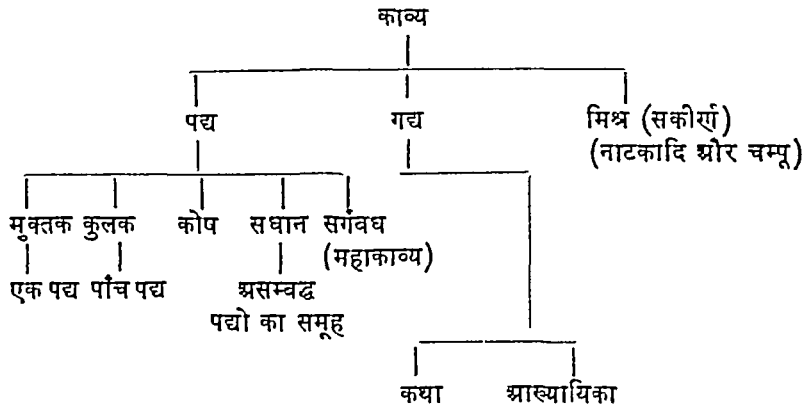
वामन—वामन ने काव्य के गद्य और पद्य दो भेद स्वीकार किए हैं किन्तु वामन के गद्य और पद्य के भेद दण्डी से भिन्न हैं। 'काव्यालकारसूत्र' (१।३।२१।२९) में यह भेद इस प्रकार दिए हैं—
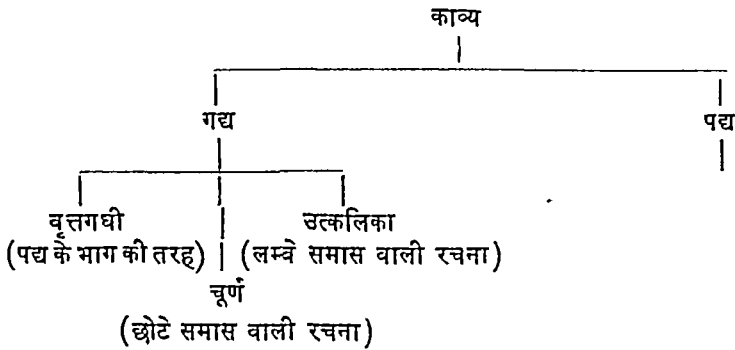
रुद्रट—रुद्रट ने काव्य के गद्य और पद्य भेद करके छ काव्य भाषाओ का उल्लेख अपने 'काव्यालकार' में किया है। इन्ही भापाओ के अनुसार काव्य के प्राकृत सस्कृत, मागधी, पैशाची, शूरनी लोर अपभ्र श छ भाग किए हैं।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किए हैं। हेमचन्द्र का

---

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास (द्वितीय भाग) पृ० २०५।

काव्य विभाजन इस प्रकार है—

हेमचन्द्र ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और ग्राम्यापभ्र श इन चार भाषाओ को काव्य-भाषा कहा है।

विश्वनाथ—विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' के छठे परिच्छेद में काव्य का विभाजन श्रव्य और दृश्य में करके उनके भेदोपभेदो का विवरण दिया है। विभागो की तालिका इस प्रकार है—

काव्य

दृश्य — श्रव्य

रूपक — उपरूपक

नाटिका — त्रोटक — गोष्ठी — सट्टक — नाट्यरासक

प्रस्थानक — उल्लाप्य — काव्य — प्रेंख — रासक

श्रीगदित — शिल्पक — विलासिका — दुर्मल्लिका

प्रकरणी — हल्लीस — भणिका — सलापक

नाटक — प्रकरण — भाण — व्यायोग — समवकार

डिम — ईहामृग — अक — वीथी — प्रहसन
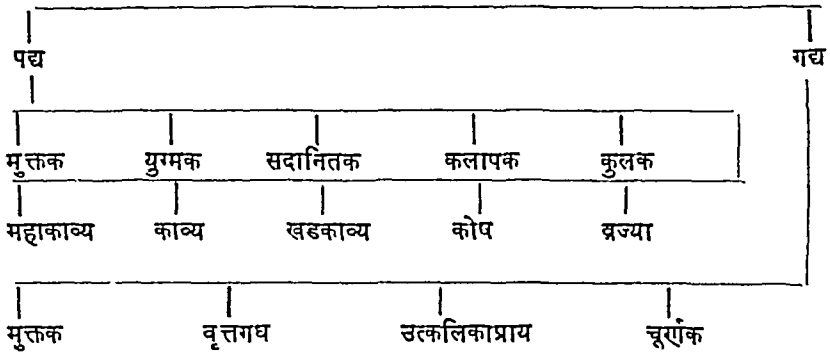
विश्वनाथ का काव्य विभाजन उपर्युक्त अन्य आचार्यों से भिन्न है। इन्होंने प्रथम काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किए हैं। दृश्य काव्य दो प्रकार का है—रूपक और उपरूपक। रूपक के नाटक, प्रकरण आदि १० भेद और उपरूपक के नाटिका, त्रोटक आदि १९ भेद वताए हैं। श्रव्य काव्य को गद्य और पद्य दो भागो में विभक्त किया है। पद्य मुक्तक युग्मक आदि १० प्रकार का और गद्य मुक्तक वृत्तगध आदि चार प्रकार के माने हैं।

पाश्चात्य काव्य-विभाजन—पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य के प्रमुख दो भेद किए हैं—

विषयीगत (Subjective Poetry)।

विषयगत (Objective Poetry)।

काव्य के अन्य सभी प्रचलित रूप इन्ही दो स्थूल भेदो के अन्तर्गत आते हैं। विलियम हेनरी हडसन ने 'An Introduction to the study of literature' में काव्य के विभिन्न रूपो का विभाजन किया है। सब्जेक्टिव पोयट्री के अन्तर्गत निम्न-लिखित काव्य-विधान रखे हैं—

१ दार्शनिक एव विचारात्मक गीत (Meditative and Philosophical lyrics)।

२. सम्वोधन गीत (Ode)।

३. दु खात्मक गीत (Elegy)।

४ पत्र गीत (Epistle)।

५ व्यग्य गीत (Satire)।

६. वर्णनात्मक गीत (Descriptive Poetry)।

हडसन ने ऑब्जेक्टिव पोयट्री के दो भेद किए हैं—

१. वर्णनात्मक कविता (Narrative Poety)।

२. अभिनयात्मक काव्य (Dramatic Poetry)।

वर्णनात्मक कविता के चार भेद हैं—

१ वीर गीत (Ballad)।

२ महाकाव्य (Epic)।

३ छन्दबद्ध रोमाचकारी कथाएँ (Meterical Romance)।

४. कविता में यथार्थवाद (Realism in Poetry)।

नाटकीय काव्य भी तीन प्रकार का है—

१ नाट्य गीत (Dramatic Lyric)।

२. नाट्य कथाएँ (Dramatic Story)।

३ नाट्य स्वगत (Dramatic marologue or Soliloquy)।

शक्ति काव्य और कला काव्य नामक काव्य के भेदो की चर्चा पीछे की जा चुकी है। वह भी अग्रेजी साहित्य में विशेष प्रसिद्ध है, किन्तु वह बहुत स्थूल हैं।

आधुनिक हिन्दी के काव्य-रूप—आधुनिक हिन्दी साहित्य में जो काव्य-रूप उपलब्ध हैं उनका निर्देश तालिका द्वारा किया जा रहा है। इनका सूक्ष्म विवेचन काव्याग विमर्श नामक ग्रन्थ में किया गया है। (काव्य के विविध रूपो की तालिका पृष्ठ १३५ पर देखिये।)

काव्य के वर्ण्य

काव्य का वर्ण्य बहुत विस्तृत, व्यापक और विशाल है। छोटे-से-छोटे रजकरण से लेकर विश्व की महान् से महान्, विशाल से विशाल, वस्तु चाहे वह जड हो या चेतन काव्य के वर्ण्य के अन्तर्गत आती है। इस विश्व की स्थूल वस्तुएँ ही नही सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व भी काव्य वर्ण्य के अन्तर्गत आते हैं। सच तो यह है काव्य-वर्ण्य के रूप में विश्वातीत वस्तुएँ तक आती हैं तभी तो उक्ति प्रसिद्ध है कि 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि'। सुविधा के लिए हम काव्य के प्रमुख तत्त्वो के आधार पर ही काव्य-वर्ण्यों का विश्लेषण करेंगे। काव्य के स्थूल रूप से चार तत्त्व माने गये है—भाव तत्त्व, बुद्धि तत्व, कल्पना तत्त्व और शैली तत्व। हम इन तत्त्वो से सम्बन्धित काव्य-वर्ण्यों का सक्षेप में क्रमशः विश्लेषण करेंगे।

भाव तत्त्व से सम्बन्धित काव्य-वर्ण्य—काव्य का मूल तत्त्व भाव है। भाव का विकसित रूप ही रस है। भरत मुनि ने इसीलिए लिखा है—

'न भाव हीनोऽस्ति रस रसहीनोऽस्तिभाव'

अर्थात् भाव से रहित रस नही हो सकता और रस से रहित भाव नही हो सकता। सम्भवत यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य का प्राण माना है। इस मत को केवल ध्वनिवादी आचार्यों ने ही नही स्वीकार किया है बल्कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी सम्प्रदायो में इसकी मान्यता रही है। रस-प्रकरण में हम इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ पर हमारा लक्ष्य रस से सम्बन्धित काव्य-वर्ण्यों पर विचार करना ही है। बाबू गुलाबराय ने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में काव्य के वर्ण्यों को रस के आधार पर ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है। भाव सम्बन्धी काव्य-वर्ण्यों के विवेचन के लिए वह समीचीन भी हैं। उन्ही के आधार पर हम यहाँ तालिका द्वारा भाव-वर्ण्यो को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। (तालिका पृष्ठ १३६ पर देखिये।)

आधुनिक हिन्दी काव्य के विविध रूप
काव्य
पाठ्य
प्रेक्ष्य
पद्य
गद्य
गीति काव्य
खड काव्य
महा-काव्य
उप-न्यास
कहानी
गद्य-काव्य
निबन्ध
आलो-चना
जीवनी
आत्म-कथा
रेखा-चित्र
संस्म-रण
रिपो-र्ताज
पत्र-प-त्रिकाएँ
सिनेमा टॉक्स
विविध विषय
आलोचनात्मक
सस्मरणात्मक
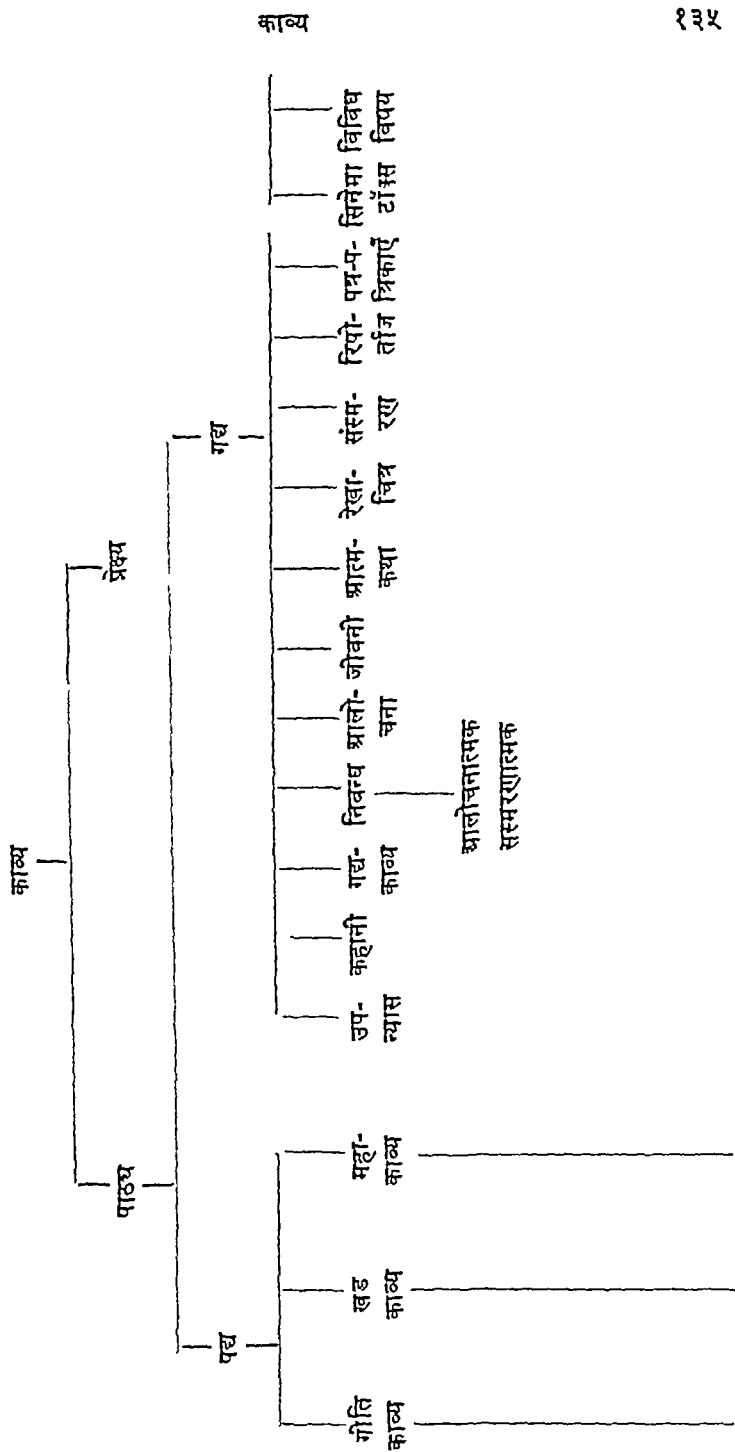
रस-सामग्री
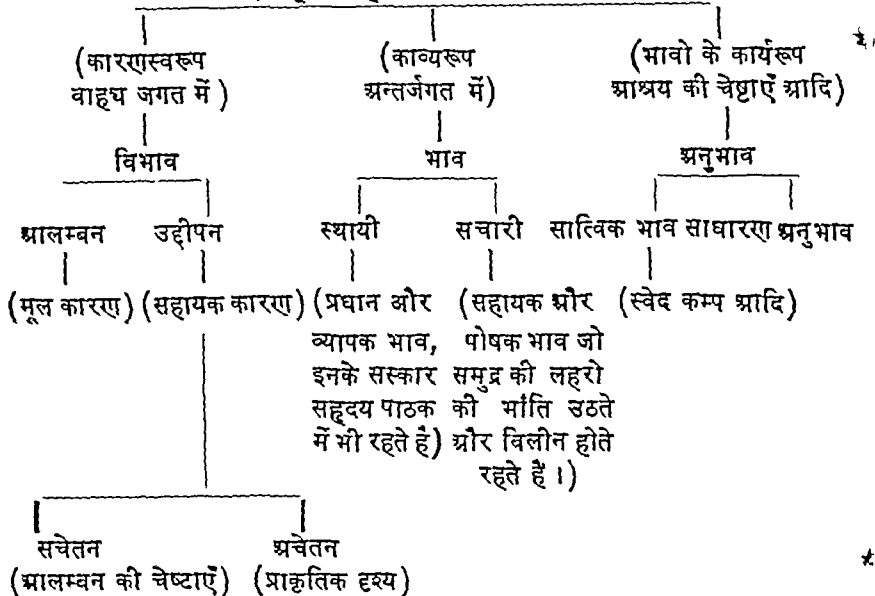
इस तालिका के अनुसार रस से सम्बन्धित काव्य-वर्ण्यों के प्रमुख तीन रूप होते हैं—

(१) वाह्य जगत या विभाव—यही रस का कारण है। काव्य की वर्ण्य-वस्तु या वर्ण्य-विषय वाह्य जगत से ही ग्रहण किया जाता है। विभाव भी दो प्रकार के होते है—आलम्बन और उद्दीपन। रसोत्पत्ति में आलम्बन तो उसका आधार या मूल कारण है। उद्दीपन इस उत्पत्ति में सहायक कारण के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(२) अन्तर्जगत् या भाव—रस के कारण रूप विभाव, भाव को जाग्रत कर, उन्हें कार्य रूप में परिणत करते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं। स्थायी और सचारी।

(३) भावो के कार्यरूपों के फलस्वरूप आश्रय की चेष्टाएँ या अनुभाव—अनुभाव दो प्रकार के हैं—सात्विक और कत्विक।

काव्य के इन तीनो वर्ण्यों के समन्वित प्रयास से काव्य के प्राण रस का पूर्ण परिपाक होता है। भाव, अनुभाव और उनके भेदो पर रस-प्रकरण में विचार किया जा चुका है। इन दोनो का सम्बन्ध कवि और पाठक की अपनी अनुभूति और प्रत्यक्ष दर्शन से है। वास्तव में काव्य के वर्ण्य में विभाव के आलम्बन और उद्दीपन यह दो स्वरूप ही विशेष रूप से विचारणीय हैं। रस के साथ-साथ काव्य के कारणभूत आधार भी यही हैं। यहां पर क्रमश आलम्बन और उद्दीपन के विविध रूपों पर प्रकाश डालेंगे।

आलम्बन पक्ष—काव्य के आलम्बनो के प्रमुख रूप से दो विभाग किए जा सकते हैं—

१ अलौकिक आलम्बन।

२ लौकिक आलम्बन।

अलौकिक आलम्बन—जीवन और जगत् की सामान्य वस्तु, रूप और गुण से भिन्न दिव्य और असामान्य रूप गुण से सम्पन्न आलम्बन अलौकिक होते हैं। धर्म और दर्शन में सृष्टि के कण-कण में व्याप्त अलौकिक सत्ता की विविध प्रकार से कल्पना की गई है। साहित्य में भी ये रूप धर्म की अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक रूप में समाहित किए गए हैं। इन रूपो को तीन शीर्षको के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है—

१ निर्गुण अव्यक्त।

२ सगुण अव्यक्त।

३. साकार और सगुण व्यक्त।

निर्गुण अव्यक्त--निर्गुणवादियों का ब्रह्म रूप रेखा रहित अव्यक्त, रहस्यमय और अनिर्वचनीय तत्त्व रूप है। साहित्य में भी अव्यक्त ब्रह्म को आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है। ऐसे कल्पित रूप को आलम्बन मानकर रचना करने वाले साहित्यिको को तीन कोटियों में रक्खा जा सकता है—

१ सिद्धो और नाथों का साहित्य।

२. निर्गुण कवियो का साहित्य।

३ छायावादी कवियो का साहित्य।

सिद्ध साहित्य का रचना-काल विक्रम की सातवी शताब्दी है। प्रमुख सिद्ध सख्या में चौरासी थे। इनमें से सरहपा, लुहिपा, विरुपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा, तानिपा आदि सिद्धो की रचनाएँ भी प्राप्त हैं। इन्होने वाह्याडम्बरो का विरोध कर अन्तस्साधना पर जोर दिया है—

"जहि मन पवन न सचरइ रवि ससि नाहि पवेस
तहि वट चित्त विसाम करु सरहे कहिअ उवेस
थोर अँधारे चन्दमणि जिमि उज्जोह करेइ
परम महासुख एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ॥"

—सरहपा

अन्तिम पक्ति में 'परम महासुख' से ब्रह्मानन्द का सकेत किया है। इनका ब्रह्म शून्य देशवासी शून्य रूप है—

"गगा जऊँना माझे रे वहइ नाई
तहि वुड़िलि मातगि पोइआ लीले पार करेइ॥"

सद्गुरु के निर्देश से इला पिंगला के मध्य सुषुम्ना के मार्ग से शून्य देश की यात्रा इनकी अन्तस्साधना का सिद्धान्त है। सिद्धि प्राप्त होने पर साधक का शून्य रूप ब्रह्म से पूर्ण एकाकार हो जाने पर महासुख की अवस्था आती है।

सिद्धो के इसी शून्य रूप ब्रह्म का उल्लेख किंचित् परिवर्तन के साथ नाथ साहित्य में भी किया गया है। नाथ सम्प्रदाय सिद्धो का परिष्कृत रूप है। अत: इनके साहित्य में सिद्धों के अश्लील और वीभत्स चित्र नही मिलते। गोरखनाथ ने चौदहवी

शताब्दी में हठयोग-साधना का प्रचार किया। शून्य का निर्देश इस प्रकार किया है—

"सुरहट घाट अम्हे वणिजारा
सुनि हमारा पसारा
लेण न जाणौं देण न जाणौं
एद्धा वणज हमारा ॥"

निर्गुण कवियों का साहित्य—मध्यकाल में ज्ञानदेव और नामदेव नामक सतो के अनुकरण पर निर्गुण काव्य-धारा का विकास हुआ। इस धारा के कवियो में कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास और अक्षर अनन्य प्रमुख हैं। कबीर इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि, उपदेशक और सुधारक हैं। इस धारा पर भारत में प्रचलित दर्शन की सभी शाखाओ का प्रभाव पडा था। नाथ पथ के सुनिमडलवासी अनिर्वचनीय तत्त्वरूप ब्रह्म को आलम्बन मानकर उनकी काव्य-धारा प्रवाहित हुई। कबीर का ब्रह्म वर्णन देखिए—

"जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप कुरूप,
पुहुप वास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप।"

उनका ब्रह्म 'सुनि मडल' वासी है—

'सुनि मडल में पुरुष एक ताहि रह्यो ल्यो लाय'

इतना होते हुए भी वह दिव्य ज्योतिस्वरूपी है।

कबीर ने अपने ज्ञानयोग में कविजनोचित भावयोग का भी सामञ्जस्य करके अपनी रचनाओ में सरसता का समावेश भी किया है। इस सरसता का सचार दो रूपो में मिलता है—

१ दाम्पत्य भाव द्वारा।
२ वात्सल्य भाव द्वारा।

उनके **'हरि मोर पिउ, मै राम की वहुरिया'** में और **'हरि जननी मैं बालक तोरा'** में दोनो भावो का स्पष्ट कथन है। उनके रहस्यवाद के पद ऐसे ही हैं। इन स्थलो पर कबीर पर सूफीधारा के अव्यक्त साकार रूप का प्रभाव दिखाई पडता है किन्तु उनकी सखियो में वर्णित आलम्बन पूर्णरूप से निर्गुण और अव्यक्त है। अव्यक्त साकार का उल्लेख होते हुए कबीर प्रमुख रूप से अव्यक्त निर्गुण के ही उपासक हैं। निर्गुण-वादी अन्य कवियो ने भी कबीर के सिद्धान्तो का अनुसरण किया है।

छायावादी कवियो का साहित्य—वर्तमान युग के छायावादी कवियो को आल-म्बन मानकर उसकी अनिर्वचनीयता और दिव्य शक्ति का उल्लेख किया है। महाकवि प्रसाद ने कामायनी में विराट ब्रह्म के अव्यक्त किन्तु व्यापक रूप का वर्णन किया है—

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?"

निर्गुण धारा के कवियो के समान इनका ब्रह्म भी अव्यक्त होते हुए भी रमणीय और दिव्य शोभासम्पन्न है। सृष्टि के सभी पदार्थ उसी की छवि से छविमान हैं—

"जिसकी सुन्दर छवि उषा है,
नव वसन्त जिसका शृङ्गार,
तारे हार किरीट सूर्य-शशि,
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार।
मलयानिल मुखवास जलधिमन,
लीला लहरों का ससार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी,
मृदु बांहो में लिपटा ले।"

—पत : वीणा

रहस्यमय के प्रति कवि की जिज्ञासा वृत्ति पुरुष रूप में उनकी कल्पना करती है—

"न जाने कौन अये छविमान,
जान मुझको अबोध, अज्ञान।
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन?"

—पत मौन निमन्त्रण

छायावाद की प्रमुख कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी विराट ब्रह्म की कल्पना पुरुष रूप में की है। उनकी अनुभूति में एक विचित्र उत्कण्ठा, विपाद और विह्वलता और साथ-ही साथ धैर्य भी है। जीवन के निकट होते हुए भी उनका ब्रह्म रहस्यमय और दूर है—

"इस अचल क्षितिज रेखा के,
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके"

(ख) सगुण अव्यक्त—सूफी काव्यधारा में आलम्बन रूप में ब्रह्म का एक दूसरा ही स्वरूप दिखाई पड़ता है। इसे सगुण अव्यक्त का नाम दिया गया है। सूफी कवियो का ब्रह्म रहस्यमय और अव्यक्त होते हुए भी निर्गुण और निराकार नही है। वह दिव्य रूप गुण-सम्पन्न सगुण और साकार है। ब्रह्म के इस रूप को ग्रहण करने वाले कवियो में कुतुवन, मझन, जायसी, उसमान, शेख नवी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद प्रमुख हैं। इन कवियो में भी मलिक मुहम्मद जायसी को उनके 'पद्मावत' के कारण विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। जायसी का उपास्य निर्गुण कवियो के उपास्य की अपेक्षा अधिक भावात्मक, सरस, ग्राह्य और व्यक्तित्त्वप्रधान है। पद्मावती के रूप में उन्होंने अपने विराट सौन्दर्यमय उपास्य की प्रतिष्ठा की है। इस अनिर्वचनीय सौन्दर्य की छाया

सम्पूर्ण सृष्टि में आभासित होती है—

"विकसा कुमुद देखि ससि रेखा। भई तहँ ओप जहाँ जेहि देखा॥
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हस भा दसन ज्योति नगहीर॥"

जायसी की साधना प्रेम-साधना है। निर्गुण कवियो ने अपने उपास्य तक पहुँचने के लिए अधिकतर शुष्क सैद्धान्तिक आत्म-साधना का आश्रय लिया है किन्तु सूफी कवियो की साधना भावात्मक है। उन्होने आत्मा को पुरुष रूप में और उपास्य को स्त्री रूप में कल्पित कर विरह और साक्षात्कार के मनोरम चित्र उपस्थित किए हैं। कबीर के समान उनकी साधना एकान्तिक नहीं है। उपासक के समान उन्होने उपास्य में भी विरहजनित विह्वलता दिखलाई है। साधक रत्नसेन के लिए विराट रूप पद्मावती भी उत्सुक है—

"पदमावति तेहि जोग सँजोगा। परी पेमवस गहे वियोगा॥"

इस प्रकार जायसी ने अपने आलम्बन में अलौकिक और लौकिक दोनों रूपो का सामञ्जस्य कर उसे माधुर्य और आकर्षत्व प्रदान किया है।

(ग) साकार और सगुण व्यक्त—सूफियो और निर्गुण कवियों का अव्यक्त ब्रह्म ही हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में साकार और सगुण व्यक्त के रूप में ग्रहण किया गया है। भारतीय धर्म-साधना में अवतारवाद का बहुत महत्त्व है। गीता में भगवान् कृष्ण में अव्यक्त का व्यक्त रूप प्रगट होने का रहस्य बताते हुए कहा है—

"परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्म सस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।"

विभिन्न युगो में अवतरित ब्रह्म के अनेक रूपो को भी काव्य में आलम्बन के पद पर प्रतिष्ठित कर रचनाएँ की गई हैं। राम, कृष्ण, गौतम तथा अन्य देवी-देवता ऐसे ही अलौकिक साकार आलम्बन हैं। राम और कृष्ण पर की गई रचनाओ का तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन रचनाओ को राम काव्यधारा और कृष्ण काव्यधारा के नाम से अभिहित किया है।

राम काव्यधारा—राम काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा तुलसीदास हैं। इनके अतिरिक्त स्वामी अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम और केशवदास, मुनिलाल, स्वयम्भू, वलदास, प्रियादास, भूपति, सेनापति, लालादास और विश्वनाथ भी प्रसिद्ध हैं। कवियो की शृङ्गारी रुचि को परिष्कृत और मर्यादित करने में रामकाव्य अत्यन्त सफल हुआ है। तुलसी इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। राम के चरित्र में उन्होने शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनो का चरम उत्कर्ष दिखाया है। अपने आलम्बन राम में ब्रह्म की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनो विभूतियो का सन्तुलन दिखाना तुलसी की विशेषता है। उनके राम लोकरञ्जक के साथ-साथ लोक-रक्षक भी हैं। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मार्गों के पथ-प्रदर्शक के रूप में चित्रित किए गए हैं। जीवन जगत से चित् का सामञ्जस्य स्थिर करने में राम काव्यधारा के कवि ही सबसे अधिक सफल हो सके हैं।

भक्ति काल में राम का चित्रण उपास्य रूप में ही हुआ। इसके अतिरिक्त रीति काल और आधुनिक काल में राम को शृङ्गार, वीर और शान्त आदि रसो का आलम्बन भी बनाया गया है। रीतिकाल की शृङ्गारी प्रवृत्ति से राम का मर्यादित रूप भी विकृत कर दिया। अनेक कवियो ने उन्हें शृगारप्रिय साधारण मानव के रूप में चित्रित किया है। आधुनिक युग में अपनी वैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण राम भक्तिकाल के समान न तो पूर्ण अवतारी हैं और न रीतिकाल के समान शृङ्गारी ही। प्राचीन सस्कृति के उपासक आधुनिक कवियो ने उन्हे आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया है। मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' और बलदेवप्रसाद उपाध्याय का 'साकेत सन्त' इस युग में राम काव्य परम्परा के पोषक महाकाव्य हैं। साकेत के अष्टम सर्ग में राम के महामानव के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या की गई है—

"मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ बताने आया,
सुख शान्ति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया।
× × ×
सुख देने आया, दुख झेलने आया,
मैं मनुष्यत्व का नाटच खेलने आया॥"

कृष्ण काव्यधारा—कृष्ण काव्यधारा का विकास वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के आधार पर हुआ है। इस धारा के कवियों ने अधिकतर भगवान् कृष्ण की मधुर लीलाओ को ही अपना विषय बनाया है। राम काव्य परम्परा के राम के समान इनके कृष्ण लोक-रक्षक नहीं है, वे लोकरञ्जक मात्र हे। वह प्रमुख रूप से वात्सल्य और शृङ्गार रस के आलम्बन बनाए गए हैं। बाल्य और युवावस्था के ब्रज-जीवन के लीला-गानो से ब्रज भाषा का साहित्य मधुर हो गया है। राम काव्य धारा में तो ब्रह्म के सगुण स्वरूप को महत्ता देते हुए भी उनके निर्गुण रूप की भी मीमासा की गई है, किन्तु कृष्णभक्त-कवियो ने निर्गुण अव्यक्त का तर्कपूर्ण शैली में खडन किया है। गोपी-उद्धव सम्वाद में सभी कवियों ने मधुर व्यग्य शैली अपनायी है—

"निर्गुन कौन देस को बासी,
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।"

उनके आलम्बन कृष्ण राम के समान अयोध्याधीश भी नही हैं। वे साधारण समाज में रहने वाले एक ग्रामीण हैं। राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनो की प्रतिष्ठा की गई है, किन्तु कृष्ण में सौन्दर्य का ही चरम विकास दिखाया गया है। शील और शक्ति का समावेश गौण रूप में मिलता है। कृष्ण काव्य के प्रमुख कवि सूरदास, मीराबाई, रसखान, बिहारी, जगन्नाथदास रत्नाकर, हरिऔध आदि हैं। इनके अतिरिक्त नन्ददास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, हित-हरिवशदास, गदाधर भट्ट, हरिदास, श्री भट्ट, व्यास जी, ध्रुवदास, नरोत्तम आदि भी उल्लेखनीय हैं।

राम के ही समान कृष्ण के भी विविध रूप काव्य में दिखाई पडते हे। इन रूपो

को चार शीर्षको में रक्खा जा सकता है—

१ भक्तिपरक रूप।
२ वाललीलापरक।
३ शृङ्गारपरक।
४ महामानवपरक।

भक्तिकाल कृष्ण की वाल लीला और शृगार लीला के वर्णन अलौकिक ही कहे जायेंगे। इन वर्णनो में सात्विक भक्ति-भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। इस काल का साहित्य भक्तिप्रधान ही कहा जाएगा। रीति काल में कृष्ण साहित्य का रूप अत्यन्त विकृत हो गया। रीतिकाल का साहित्य पूर्ण लौकिक है। कृष्ण लीला का घोर शृगारी रूप रीतिकाल में देखा जा सकता है। मैथिल कवि विद्यापति ने कृष्ण को भक्ति और शृगार दोनो का आलम्वन वनाया है। आधुनिक काल में राम के समान कृष्ण को भी महामानव का रूप दिया गया है। हरिऔध के प्रियप्रवास में कृष्ण महा-मानव के रूप में ही प्रगट हुए हैं। प्रियप्रवास कृष्णधारा के प्राचीन साहित्य का आधुनिक रूप है। जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी 'उद्धवशतक' में कृष्ण को काव्य का आलम्वन वनाया है। उनके काव्य में भक्तिकाल और आधुनिक काल की प्रवृत्तियो का सम्मिश्रण है। उनके कृष्ण भी नर और नारायण दोनों ही हैं। जगन्नाथदास की गणना रीति काल में की जाती है, किन्तु अपनी युगीय प्रवृत्ति के विपरीत इन्होने काव्य को एक नवीन मौलिक रूप दिया है। हरिऔध और रत्नाकर दोनो ने ही परम्परा से प्रसिद्ध कृष्ण-कथा में मौलिक परिवर्तन कर आलम्वन कृष्ण का नवीन रूप उपस्थित किया है। यही इनके काव्यो की विशेषता है। प० द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' नामक काव्य में कृष्ण का चित्रण महापुरुष रूप में किया गया है।

गौतम वुद्ध तथा अन्य देवी-देवताओ को लेकर भी हिन्दी साहित्य में अनेक रच-नाएँ हुई हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'सिद्धराज' और 'यशोधरा' गौतम सम्बन्धी साहित्य के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं।

लौकिक आलम्बन—काव्य में जीवन और जगत के प्रत्यक्ष और सामान्य आल-म्वन लौकिक आलम्वन हैं। ऐसे आलम्वनों को भी चार कोटियो में रक्खा जा सकता है—

१ मानव।
२ मानवेतर जीव और पदार्थ।
३ प्रकृति।
४ राष्ट्र।

काव्य मानवीय भावो की ही प्रतिच्छाया है। अत सामान्य रूप से मानव ही काव्य के आलम्वन रहते है। मानव के भी नर और नारी दो रूपो में से काव्य में नारी को विशेष महत्त्व दिया गया है। लौकिक आलम्वन वीरगाथा काल, रीति काल और आधुनिक काल के प्रगतिवादी और प्रयोगवादी साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। वीरगाथा काल युद्ध और वीरता का युग था। अत इस युग में राज-दरवार में रहने वाले कवियों ने अपने आश्रयदाता की वीरता का गान गाया है। रीति काल के ऐश्वर्य और वैभव के युग

में भी आमोद-प्रमोदप्रिय राजाओ की प्रशसा की गई है। राज-प्रशसा करने वाले यह कवि अपनी नारी-भावना का विस्मरण नही कर सके हैं। चन्दवरदाई आदि वीर युग के कवियो ने एक ओर तो शौर्य-वीरता की प्रशसा की है दूसरी ओर अपनी नायिकाओ का सौन्दर्य चित्रण भी किया है। रीतिकाल का तो सम्पूर्ण साहित्य ही नायिका-भेद से भरा हुआ है। आधुनिक काल की प्रगतिवादी और प्रयोगवादी रचनाएँ भी सामान्य रूप से मानव के इन द्विविध रूपो को लेकर लिखी गई हैं। इन रचनाओ में मानव और उनकी विविध परिस्थितियों का नग्न चित्रण किया गया है। इन रचनाओ के आलम्बन पक्ष की एक विशिष्ट मौलिकता यह है कि इनके आलम्बन राजवर्ग या उच्च श्रेणी के न होकर साधारण समाज से निर्वाचित किए गए हैं। प्राचीन कालों की लौकिक रचनाओं में जहाँ आलम्बन के सौन्दर्य, वैभव, पराक्रम, दानशीलता, महानता आदि का दिग्दर्शन कराया गया है, वहाँ आधुनिक समाजवादी रचनाओ में आलम्बन की हीनता, दारिद्र्य, परिश्रम और साथ ही साथ नैसर्गिक सौन्दर्य का चित्रण किया गया है।

मानव को आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित करने वाले प्राचीन कवियो में नरपति नाल्ह, चन्दवरदाई, भट्ट केदार, मधुकर कवि, जगनिक, विहारी, मतिराम, चिंतामणि, भूषण, देव, घनानन्द आदि हैं। आधुनिक कवियो में निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, सुभद्राकुमारी चौहान, हरिवंशराय 'बच्चन', रामधारीसिंह 'दिनकर' शिवमंगलसिंह 'सुमन', प्रभाकर माचवे, गोपालसिंह नेपाली आदि उल्लेखनीय हैं।

मानव के अतिरिक्त मानवेतर अन्य जीव और पदार्थ भी काव्य में यथोचित आलम्बन पद प्राप्त कर चुके हैं। कवि की अन्तर्दृष्टि का प्रवेश चेतन में तो सामान्य रूप से होता ही है और मूक, निरीह और जड पदार्थों में भी वे भावयोग स्थापित कर अपनी अनुभूति को प्रधान विषय बनाते हैं। इन अनुभूतियो की अभिव्यक्ति छोटे-छोटे गीतो के रूप में ही की जाती है। महाकवि पन्त की 'चींटी' शीर्षक कविता ऐसी ही है—

"चींटी को देखा ?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे-सी जो हिल-डुल
चलती लघु पद पल पल मिल-जुल
वह है पिपीलिका पाँति
देखो न, किस भाँति
काम करती वह संतत ?"

श्रेष्ठ कवि ऐसे आलम्बनो का प्रयोग प्राय. मानव को कोई आदर्श शिक्षात्मक सन्देश देने के लिए भी करते हैं।

काव्यगत आलम्बन का एक तीसरा लौकिक रूप राष्ट्रीय गीतो में मिलता है। कवियो ने अपनी मातृभूमि की कल्पना माता रूप में करके देश-भक्ति के गौरव-गान गाए हैं।

इसके अतिरिक्त देश-सेवक, राष्ट्र के नायक, देश-सुधारक तथा अमर शहीद आदि भी राष्ट्रीय गानों के आलम्बन बनाए गए हैं।

"कनक-से दिन मोती-सी रात,
सुनहली साँझ गुलावी प्रात।
मिटाता रँगता वारम्वार,
कौन जग का यह चित्राधार ॥"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर 'चित्राधार' शब्द का प्रयोग चित्रकार के अर्थ में किया गया है, किन्तु उसका सामान्य अर्थ 'अलवम' होता है।

अश्लील—लज्जास्पद, घृणास्पद और अमगलवाचक पदो के प्रयोग से काव्य में अश्लील दोप आ जाता है—

"चोरत हैं पर उक्ति को जे कवि ह्वै स्वच्छद।
वे उत्सर्ग वमन को उपभोगत मतिमद ॥"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर 'उत्सर्ग' और 'वमन' शब्द का प्रयोग लज्जास्पद प्रतीत होता है। इनके प्रयोग से उक्ति में अश्लील दोप आ गया है।

ग्राम्यत्व—काव्य में ग्रामीण शब्दो का प्रयोग ग्राम्यत्व दोप का कारण माना जाता है—

"कैसे कहते हो इस दुआर पर फिरि कभी न आऊँ।"

यहाँ पर 'दुआर' शब्द ग्रामीण है।

नेयार्थ—जहाँ लक्षणा का लक्षण घटित न हो किन्तु फिर भी लक्षणामूलक अर्थ लिया जाय—

"बड़े मधुर हैं प्रेम सद्म से निकले वाक्य तुम्हारे।"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर प्रेम सद्म का अर्थ लक्षणा के सहारे मुख लिया गया है, किन्तु प्रयोजन वा रूढि इन दोनों में से एक भी कारण व्यजित नही किया गया है।

क्लिष्टत्व दोष—जहाँ प्रयुक्त शब्द का अर्थ ज्ञान बडी कठिनता से होता हो वहाँ यह दोप होता है। सूर का यह कूट पद देखिये—

"कहत किन परदेसी की वात।
मदिर अरध अवध हरि वदि गए हरि अहार चलि जात ॥"

यहाँ पर 'मदिर अरध', 'हरि अहार' आदि शब्दो का अर्थ वडी कठिनता से निकलता है।

अप्रतीत्व दोप—पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से काव्य में अप्रतीत्व दोप आ जाता है—

"नव पौरी पर दसम दुआरा,
तेहि पर वाज राज घरियारा।"

यहाँ पर 'दसम दुआर' योगियो का पारिभाषिक शब्द है उससे अर्थ समझने में कठिनाई पडती है। अत यहाँ अप्रतीत्व दोप है।

अविमृष्ट विधेयांश—जहाँ रसाभासादि के प्रयोग से किसी शब्द का वह अर्थ व्यजित न हो सके जिसकी व्यजना कवि करना चाहता है वहाँ अविमृष्ट विधेयांश दोप होता है—

"मणि कंकण भूषण अलंकार
उत्सर्ग कर दिए क्यों अपार ।"—काव्य-दर्पण

यहाँ 'उत्सर्ग' छोडने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है किन्तु इसमें व्यंजना दान की निकलती है। इसीलिए इसमें असमर्थ दोष आ गया है।

अयथार्थ दोष—प्रसंगानुकूल अर्थ न देने वाले शब्दो के प्रयोग से अयथार्थ दोष आ जाता है—

"लिए स्वर्ण आरती भक्त जन
करते शंखध्वनि झनकार"[1]—काव्य-दर्पण

यहाँ पर शंखध्वनि के लिए झनकार शब्द का प्रयोग अयथार्थ है। इसीलिए यहाँ अयथार्थ दोष माना गया है। यह दोष कुछ लोग असमर्थ दोष के अन्तर्गत लेते हैं।

निहतार्थ दोष—जहाँ किसी श्लिष्ट पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाता है वहाँ यह दोष होता है।

"अथवा प्रथम ऋतुकाल का प्रदोष आज
कानन कुमारियाँ चलीं व्रत बहलाने को
खोलतीं पटल प्रति पटल अधीरता से
अटल उरोज अनुराग दिखाने को।"

—काव्य-दर्पण

यहाँ पर अन्तिम पंक्ति में 'उरोज' शब्द का प्रयोग हृदयगत के अर्थ में किया गया है। इसका यह अर्थ अप्रसिद्ध है, इसीलिए यहाँ निहतार्थ दोष है।

अनुचितार्थ—जहाँ प्रयुक्त पद उचित अर्थ के स्थान पर अनुचित अर्थ देने लगे वहाँ यह दोष माना जाता है—

"पलँग से पलना पर घाल के
जननि आनन इन्दु विलोकती।"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर 'घालके' का प्रयोग खडी बोली में ठीक नहीं है। 'घालकर' का शब्दार्थ 'मार' का होता है, किन्तु यहाँ 'डालने' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

निरर्थक दोष—जब पाद पूत्यर्थ या छन्द में लय आदि के लिए अनावश्यक पदो का प्रयोग किया जाता है तब वहाँ निरर्थक दोष माना जाता है—

"दास बनने का बहाना किसलिए
क्या मुझे दासी कहाना इसलिए
देव होकर तुम सदा मेरे रहो
और देती ही मुझे रखो अहो।"—साकेत

यहाँ पर 'अहो' शब्द का प्रयोग अन्त्यानुप्रास की सिद्धि के लिए रखा गया है।

अवाचक दोष—जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनको कवि किसी भाव विशेष की व्यंजना के लिए नियोजित करता है किन्तु वह शब्द उस भाव-व्यंजना में समर्थ नहीं हो पाता वहाँ यह दोष पाया जाता है।

"कनक-से दिन मोती-सी रात,
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।
मिटाता रँगता बारम्बार,
कौन जग का यह चित्राधार ॥"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर 'चित्राधार' शब्द का प्रयोग चित्रकार के अर्थ में किया गया है, किन्तु उसका सामान्य अर्थ 'अलबम' होता है।

अश्लील—लज्जास्पद, घृणास्पद और अमगलवाचक पदो के प्रयोग से काव्य में अश्लील दोष आ जाता है—

"चोरत हैं पर उक्ति को जे कवि ह्वै स्वच्छंद।
वे उत्सर्ग वमन को उपभोगत मतिमंद ॥"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर 'उत्सर्ग' और 'वमन' शब्द का प्रयोग लज्जास्पद प्रतीत होता है। इनके प्रयोग से उक्ति में अश्लील दोष आ गया है।

ग्राम्यत्व—काव्य में ग्रामीण शब्दो का प्रयोग ग्राम्यत्व दोष का कारण माना जाता है—

"कैसे कहते हो इस दुआर पर फिरि कभी न आऊँ।"

यहाँ पर 'दुआर' शब्द ग्रामीण है।

नेयार्थ—जहाँ लक्षणा का लक्षण घटित न हो किन्तु फिर भी लक्षणामूलक अर्थ लिया जाय—

"बड़े मधुर है प्रेम सद्य से निकले वाक्य तुम्हारे।"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर प्रेम सद्य का अर्थ लक्षणा के सहारे मुख लिया गया है, किन्तु प्रयोजन वा रूढि इन दोनो में से एक भी कारण व्यजित नही किया गया है।

क्लिष्टत्व दोष—जहाँ प्रयुक्त शब्द का अर्थ ज्ञान बडी कठिनता से होता हो वहाँ यह दोष होता है। सूर का यह कूट पद देखिये—

"कहत किन परदेसी की बात।
मदिर अरध अवध हरि वदि गए हरि अहार चलि जात ॥"

यहाँ पर 'मदिर अरध', 'हरि अहार' आदि शब्दो का अर्थ बडी कठिनता से निकलता है।

अप्रतीत्व दोष—पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से काव्य में अप्रतीत्व दोष आ जाता है—

"नव पौरी पर दसम दुआरा,
तेहि पर बाज राज घरियारा।"

यहाँ पर 'दसम दुआर' योगियो का पारिभाषिक शब्द है उससे अर्थ समझने में कठिनाई पडती है। अत यहाँ अप्रतीत्व दोष है।

अविभृष्ट विधेयाश—जहाँ रसाभासादि के प्रयोग से किसी शब्द का वह अर्थ व्यजित न हो सके जिसकी व्यजना कवि करना चाहता है वहाँ अविभृष्ट विधेयाश दोष होता है—

"आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना
देश से ही आज रामानुज मैं यहाँ
करता प्रचारित हूँ युद्ध हेत तुमको"—काव्य-दर्पण

यहाँ रामानुज शब्द से वह व्यञ्जना नही निकलती जो कवि को अभीष्ट है।

प्रतिकूल वर्ण—जब रस के प्रतिकूल वर्णों की योजना की जाती है, तब वहाँ प्रतिकूल दोष माना जाता है—

"मुकुट की चटक और लटक विविकुण्डल की" इत्यादि

यहाँ शृगार-रस की योजना के प्रतिकूल वर्णों की योजना की गई है।

न्यूनपदत्व दोष—जहाँ अभीप्सित अर्थ प्रकट करने के लिए वाक्य में किसी पद की न्यूनता मालूम पडे वहाँ न्यूनपदत्व दोष होता है—

"शत शत सकल्प विकल्पों के अल्पों में कल्प बनाती-सी।"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर 'अल्प' शब्द 'क्षणो' शब्द के विना पूर्ण अर्थ की व्यजना करने में असमर्थ है। अत यहाँ न्यूनपदत्व दोष माना गया है।

अधिक पद—यह न्यून पद के बिल्कुल विपरीत होता है। वाक्य में अभीप्सित अर्थ के स्पष्ट हो जाने के अतिरिक्त भी कोई पद शेष रह जाता है—

"लिपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरद।"

यहाँ 'पुहुप' शब्द अधिक है। 'अभीप्सित' अर्थ केवल पराग शब्द से ही निकल सकता है।

व्यर्थपदत्व—जब कवि अपनी रचना में अनावश्यक और व्यर्थ के पद ठूँस देता है, वास्तविक अर्थ व्यजना में उनसे कोई सहायता नही पहुँचती, वहाँ व्यर्थपदत्वदोष माना जाता है—

"एक एक करके तिल तिल करके
दिए रत्नकण सारे खोल—"

यहाँ पर 'तिल तिल करके' पद अनावश्यक और व्यर्थ है अत उसका प्रयोग खटकता है। अधिक पदत्व में अधिक पदता इतनी अधिक नही खटकती है।

कथित पद—एक ही पद में कई अनावश्यक समानार्थ पदों का रखा जाना कथित पद दोष कहलाता है—

"इन म्लान मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मित की रेखा।"

इस पक्ति में 'म्लान' और 'मलिन' दोनो ही पद समानार्थक हैं। अर्थ के लिए केवल एक की ही आवश्यकता है।

अस्थान पदता—छन्द में प्रत्येक पद का अपना एक निश्चित स्थान रहता है किन्तु बहुत से नौसिखिये कवियो को पदो के स्थान औचित्य का बोध नही हो पाता। पदों के इस स्थान अनौचित्य दोष को ही अस्थान-पदत्व दोष कहते हैं।

अक्रमत्व—छन्द में जब पदो के क्रम का अनौचित्य दिखाई पडे तो उसे अक्रमत्व दोष मानेंगे—

"जो कुछ भी हो मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के।"

इस उद्धरण में जीवन के मधुर भार न लिखने से क्रम भग दोष आ गया है।

अन्वय दोष—जब पद का अन्वय करने में कठिनाई अनुभव हो तब वहाँ अन्वय दोष माना जाता है—

"थे दृग से झरते अग्निखण्ड लोहित थे
ज्यों हिंसा प्रचण्ड।"—काव्य-दर्पण

यहाँ यह पता ही नही चलता है कि 'लोहित' दृग् का विशेषण है या अग्निखण्ड का। इसीलिए यहाँ अन्वय दोष माना जाता है।

अर्थ-दोष

अनावश्यक प्रयोग दोष—ऐसे अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग किया जाय जिनसे वर्ण्य-वस्तु की कोई विशिष्टता न प्रकट हो और उसके विना पदार्थ पर कोई व्याघात भी न पहुँचे—

"तिमिर पारावार में आलोक प्रतिमा है अकम्पित
आज ज्वाला से बरसता क्यों मधुर घनसार सुरभित।"

यहाँ पर घनसार के साथ सुरभित शब्द का प्रयोग अनावश्यक है।

क्लिष्टार्थ या कष्टार्थ-दोष—जहाँ अर्थ का बोध कष्ट से हो वहाँ यह दोष होता है। छायावादी कविता में तथा सूर आदि के कूट पदो में यह दोष बहुत मिलता है—

"आशाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना।"

यहाँ पर आशाओ की करवट का क्या अर्थ है यह बहुत देर में स्पष्ट होता है।

अव्याहत—जिसका महत्त्व व्यजित किया जाना चाहिए, उसकी तिरस्कार व्यजना में अव्याहत दोष होता है—

"दानी दुनियाँ में बडे, देत न धन जन हेत"—काव्य-दर्पण

इस पक्ति में पहिले तो दानियो का महत्त्व व्यजित किया गया है, बाद में धन न देने की बात कहकर उनका तिरस्कार किया गया है।

पुनरुक्त दोष—जब एक ही भाव या अर्थ भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा व्यक्त किया जाता है तब वहाँ पुनरुक्त दोष माना जाता है—

"धन्य है कलकहीन जीना एक क्षण
युग युग जीना सकलक धिक्कार है।"—काव्य-दर्पण

सदिग्ध—कवि के विवक्षित भाव का न स्पष्ट होना ही सदिग्ध दोष होता है।

निर्हेतु—जब कवि किसी बात का प्रतिपादन करके भी उसके हेतु को स्पष्ट नही कर पाता है तब वहाँ निर्हेतु दोष माना जाता है—

"घर घूमत स्वान सम लेत नहीं कुछ देत।"—काव्य-दर्पण

उपर्युक्त पक्ति में कवि ने एक ऐसे व्यक्ति का वर्णन किया है जो द्वार-द्वार पर जाता है, किन्तु देने से कुछ लेता भी नही। वह देने से क्यों नही लेता—यह स्पष्ट नही है।

प्रसिद्धि विरुद्ध—जिन वस्तुओ के सस्कार जनता के हृदय में जिस रूप में वर्तमान हो उनके विरुद्ध वर्णन करना प्रसिद्धि विरुद्ध दोष कहलाता है। जैसे—

"हरि दौडे रण में लिये कर में धन्वा वाण।"

यहाँ पर कृष्ण का धनुष-वाण लेकर दौडना परम्परा-विरुद्ध है। अतः दोष है।

दुष्क्रमत्व दोष—लोक और शास्त्र के विरुद्ध वर्णनो में दुष्क्रमत्व दोष माना जाता है—

"किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि उपवन में अकूल
इसमें कलि किसलय कुसुम शूल।"—काव्य-दर्पण

उपर्युक्त अवतरण में किसलय, कली, कुसुम यह क्रम रहता तो ठीक होता। इस क्रम के अभाव में दुष्क्रमत्व दोष माना गया है।

विद्या-विरुद्ध—किसी विद्या के विरुद्ध कथनो में विद्या-विरुद्ध दोष माना जाता है–

"वह एक अबोध अचेतन बेसुध चैतन्य हमारा।"—काव्य-दर्पण

उपर्युक्त पक्ति में चैतन्य को अबोध और अचेतन कहा गया है। यह कथन वेदान्त के सिद्धात के विरुद्ध है।

अनवीकृत—जहाँ अनेक अर्थों का एक ही प्रकार से वर्णन किया जाय वहाँ यह दोष होता है--

"लौट आया पौरुष हताश आर्य जाति का
लौट आई लाली प्रार्य वीरो के नयनो में
लौट आया पानी फिर आर्य तलवार
लौट आई उष्णता शिथिल नस नस में
लौट आया ओज फिर ठढे पडे रक्त में
लौट आई फिर अरि भेदने की वीरता।"—काव्य-दर्पण

यहाँ पर लौट आई की पुनरावृत्ति ही इस दोष का कारण है।

साकाक्षा—जहाँ अर्थ की पूर्णता के लिए कुछ शब्दो का अन्तर्भाव करना पडे—

"इधर रह गन्धर्वों के देश पिता की हूँ प्यारी सन्तान।"

इस पक्ति में अर्थ करते समय प्रथम चरण में 'मैं' और द्वितीय चरण में 'अपने' शब्दों की योजना अपनी ओर से करनी पडेगी।

अपदयुक्त दोष—जहाँ ऐसे पदो अथवा वाक्यो का प्रयोग किया जाय, जिनसे प्रस्तुत अर्थ का मण्डन होने के स्थान पर खण्डन हो जाय—

"सद्व शज लकाधिपति शैव सुरजयी और
पर रावण रहते कहाँ सत गुण मिलि इक ठौर।"

यहाँ रावण के दुर्गुणो के मण्डन के स्थान पर खण्डन हो गया है।

सहचर भिन्नता—सुन्दर और असुन्दर, उत्कृष्ट और निकृष्ट का एक साथ वर्णन सहचर भिन्नता दोष कहलाता है—

"वैद को वैद गुनी को गुनी ठग को ठग ड्यूक को ड्यूक मन भावै।
काग को काग मराल को मराल काधै गधा को गधा खुजलावै॥
कवि 'कृष्ण' कहे बुध को बुध त्यों अरु रागी को रागी मिले सुर गावे।
ज्ञानी सो ज्ञानी करै चरचा लबरा के ढिगौ लबरा सुख पावे॥"

यहाँ वैद, गुणी, मराल आदि के साथ ठग कौआ, गधा, लबरा आदि का वर्णन अनुचित है।

प्रकाशित विरुद्ध—जिस अर्थ को कवि प्रकाशित करना चाहता है, कवि अकौशल से जब उसका विरोधी अर्थ व्यजित होने लगता है तब वहाँ प्रकाशित विरुद्ध अर्थ माना जाता है—

"मनु निरावने लगे ज्यों यामिनी का रूप।
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप॥"

यहाँ 'अपरूप' शब्द का प्रयोग प्रकाशित विरुद्ध अर्थ-दोष का उत्तरदायी है। इस शब्द का प्रयोग सुन्दर के अर्थ में किया गया है किन्तु इसका सही अर्थ 'विकृत रूप' है।

अश्लील—जहाँ कहीं लज्जाजनक अर्थ की व्यजना हो वहाँ अश्लील दोष माना जाता है—

"कहि सतभाव भई कंठ लागू।
जनु कचन औ' मिला सोहागू॥
चौरासी आसन पर जोगी।
षट्रस बन्धक चतुर सो भोगी॥
कुसुम मालि अस मालति पाई।
जनु चम्पा गहि डार ओनाई॥
कली वेधि जनु भँवर भुलाना।
हना राहु अरजनु के बाना॥
कचन करी जरी नग जोती।
बरमा सो बेधा जनु मोती॥"

इन पक्तियों में 'मिलन' की अश्लील व्यजना की गई है।

रस-दोष

स्वशब्दवाच्यदोष—जब किसी रस-विशेष के विभावादि की उपयुक्त योजना न कर कवि उस रस का या उसके अगों का कथन मात्र कर देता है तब वह स्वशब्दवाच्यदोष माना जाता है।

"मुख सूखहि लोचन स्रवहि शोक न हृदय समाय
मनहु करुण रस कमल लै उतरा अवध बजाय॥"

यहाँ शोक स्थायी और करुण रस का कथन मात्र किया गया है। करुण रस के अगो की सम्यक् योजना कर रस की निष्पत्ति नहीं की गई है, इसीलिए यहाँ पर स्वशब्दवाच्य दोष है।

विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना—जहाँ भाव और विभाव के निश्चय करने में कठिनता पड़े वहाँ यह दोष होता है—

"यह अवसर तजि कामना किन पूरन करि लेहु
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह छन भगुर देहु।"

यहाँ आलम्बन रूप व्यक्ति का निश्चय करना कठिन मालूम होता है। कामुक और विरागी दोनो ही व्यक्ति आलम्बन रूप में लिये जा सकते हैं—

परिपन्थि साङ्गपरिग्रह—अभीष्ट रस के विरुद्ध रस की सामग्री के उल्लेख में यह दोष उत्पन्न होता हैं—

"इस पार प्रिये मधु है तुम हो।
उस पार न जाने क्या होगा ?"

यहाँ पहली पक्ति में शृगार का परिपाक दिखाया गया है। दूसरी पक्ति में निर्वेद का भाव व्यजित किया गया है, जिससे शृगार रस के परिपाक में व्याघात पहुँचा है।

रस की पुन पुन. दीप्ति—यह दोष केवल प्रबन्धकाव्यो में ही होता है। प्रबन्ध-काव्य में किसी भी रस की दीप्ति उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि औचित्यपूर्ण हो। आवश्यकता न होने पर बार-बार रस की उद्दीप्ति करना दोष हो जाता है।

अकाण्ड प्रथन—जहाँ प्रस्तुत रस की उपेक्षा कर अप्रस्तुत रस का विस्तार किया जाय वहाँ यह रस दोष होता है।

अकाण्ड छेदन—जब रस का पूर्ण परिपाक हो ही रहा हो उसी समय किसी कारण से रस भग कर दिया जाय तब उसे अकाण्ड छेदन नामक रस दोष कहते हैं।

अगभूत रस की अतिवृद्धि—काव्य और नाटक में एक रस अगी होता है और दूसरे रस अग हुआ करते हैं। जब कवि प्रधान या अगी रस की उपेक्षा कर अग रसो के परिपाक को महत्त्व देने लगता है तब वहाँ रस-दोष माना जाता है।

अगी की विस्मृति—जब कवि अगी रस के परिपाक को भूल जाता है तब वहाँ अगी को विस्मृति नामक रस दोष माना जाता है।

प्रकृति विपर्यय—नाटक काव्यादि में नायक प्रायः तीन प्रकार के हुआ करते हैं। दिव्य (देवता), दिव्यादिव्य (देवतावतार) और अदिव्य (मनुष्य)। इनकी प्रकृति के अनुकूल इनका चरित्र-विकास दिखाना चाहिए। जो कवि इनकी प्रकृति का ध्यान न रखकर दिव्य में अदिव्य आदि के गुण का प्रकर्ष दिखा देते हैं, तो उनके काव्य में प्रकृति-विपर्यय दोष आ जाता है।

अनग-वर्णन—काव्य में दो प्रकार के रस हुआ करते है—अगी और अग। अग रस अगी का पोषण करता है। कभी-कभी अग रसो के स्थान पर अनग रसो की योजना करने लगता है जिससे मुख्य रस की पुष्टि नही होती। इस दोष को अनग-वर्णन दोष कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त रस-दोष और भी अनेक प्रकार से घटित होते हैं। इनके कारण अधिकतर देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था आदि का अनौचित्य होता है।

वर्णन-दोष

पूर्वापर विरोध—यह दोष प्रवन्ध काव्यो में ही होता है। एक बात पहले कही जाय फिर कुछ देर वाद उसमें विपरीत वात का कथन कर देना पूर्वापर विरोध नामक दोष होता है।

प्रकृति-विरोध—जो बात प्रकृति-स्वरूपो के विरोध में रक्खी जाती है वहाँ प्रकृति-विरोध दोष होता है। कवि-प्रसिद्धियाँ प्रकृति-विरोध के अन्तर्गत नहीं आती।

अर्थ-विरोध—जव कवि ऐसी वात कहता है जो प्रत्यक्ष विरोधी प्रतीत होती है तव वहाँ अर्थ-विरोध नामक दोष माना जाता है। जैसे—

"लगे कामना के पक्षीदल करने मधुमय कलरव
लगी वासना की कलिकाएँ विखराने मधु-वैभव।"

यहाँ पर पूर्वार्ध में 'लगी' और विखराने क्रिया विशेष विचारणीय हैं। यह कथन कलिका के प्रसग में अनुचित लगता है।

स्वभाव विरोध—जब कवि किसी का चित्रण इस प्रकार करे कि वह वर्णन उसके जातिगत या स्वभावगत गुणों के विरोध में हो वहाँ स्वभाव विरोध वर्णनदोष होता है—

जैसे—

'फाड फाडकर कुम्भस्थल मदमस्त गजो को मर्दन कर
दौड़ा सिमटा जमा उड़ा पहुँचा दुश्मन की गर्दन पर॥"

इन पक्तियों में एक अश्व का वर्णन किया गया है, किन्तु यह वर्णन अश्व के स्वभावगत गुणों के वर्णन के विरोध में है।

इनके अतिरिक्त और भी वहुत से नए दोषो की खोज की जा सकती है।

रस सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय साहित्य का प्रधानभूत और आदि सम्प्रदाय है। साहित्य में रस के महत्त्व का प्रदर्शन सर्वप्रथम भरत मुनि ने किया। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही उपलव्ध शास्त्रीय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य में रस की प्रतिष्ठा भी आदिकालीन ही है। रस सम्प्रदाय के आचार्य तो रस को काव्य का प्राण ही मानते हैं। अन्य सम्प्रदायों में भी रस की उपेक्षा नही की जा सकी। इसका कारण रस का आनन्द तत्त्वमय होना है। काव्य में प्रवाहित होनेवाले मनोवेगों का आस्वादन रस है। काव्य के साथ काव्यानन्द का अभेद्य सम्वन्ध है, अन्यथा काव्य काव्य नही कहा जा सकता।

रस शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ और इतिहास—सस्कृत में रस शब्द की व्युत्पत्ति 'रसस्यतेऽसौ इति रस' इस प्रकार दी गई है। अर्थात् जिससे आस्वाद मिले वही रस है। रस शब्द का प्रयोग वहुत प्राचीन काल से होता आया है। रस केवल साहित्य में ही नहीं वल्कि अन्य ग्रन्थो में भी भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—वैदिक सहिताओ में रस का अर्थ जल होता है। उपनिषदों में रस ब्रह्म या ब्रह्मानन्द का वाचक है—तैत्तरीयोपनिषद् की यह लोक-प्रसिद्ध उक्ति इसी अर्थ की सूचक है—

"रसोवैस रसह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।"

आयुर्वेद में रस शब्द औषधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अलंकारशास्त्र में यह सर्वाधिक व्यापक रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ है। इस शास्त्र में रस शब्द एक अनिर्वचनीय साहित्यिक आनन्द के रूप में प्रयुक्त किया गया है। साहित्यजनित रसानन्द उपनिषदो के ब्रह्मरूप रसानन्द के समकक्ष माना गया है। रस रहित कोई भी शब्दार्थ साहित्य का विधान नही कर सकता इसीलिए रस साहित्य का प्राण निश्चित किया गया है।

साहित्य मे रस का महत्त्व

रस साहित्य का प्राण है। रस-रहित काव्य काव्य नही होता। काव्य ही क्या आचार्य भरत के अनुसार तो रस के बिना किसी अर्थ की प्रवृत्ति भी नही होती।

"नहि रसादृते कश्चिदर्थ. प्रवर्तते"—नाट्यशास्त्र, अ० ६

अग्निपुराण के रचयिता व्यास जी ने स्पष्ट ही रस को काव्य का प्राण कहा है—

"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"

—अग्नि पु० ३३७।३३

रस की प्रतिष्ठा केवल रसवादियों में ही नहीं रही है, अलकारवादियो, वक्रोक्ति-वादियो, रीतिवादियो आदि ने भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

भामह यद्यपि रस-विरोधी आचार्य थे किन्तु उन्हे भी 'युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलै प्रथक्' लिखकर इस सिद्धान्त की महत्ता स्वीकार करनी पडी है। रस का अन्तर्भाव 'रसवद् अलङ्कार' में करके उन्होने अप्रत्यक्ष रूप से रस को ही मान्यता दी है। दण्डी भी यद्यपि रस-विरोधी आचार्य थे किन्तु उन्होने भी रस के प्रति आस्था प्रकट करते हुए लिखा है—'कामे सर्वोप्य लकारो रस अर्थे निषिञ्चति'। रुद्रट भी रस-विरोधी आचार्य थे, किन्तु काव्य में रस की प्रतिष्ठा उन्होने भी आवश्यक ठहराई है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"तस्मात् कर्त्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।"

रीतिवादी आचार्य वामन ने 'दीप्तिरसत्व कान्ति' कहकर रस को गुणो के अन्तर्गत समेटने की चेष्टा की है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने रस को ध्वनि का प्रधान अग माना है। क्रौञ्च-वध वाले प्रसिद्ध श्लोक में करुण रस की व्यञ्जना के कारण, उन्होने उसमें पूर्ण काव्यत्व का स्फुरण माना है। इसमे प्रगट होता है कि ध्वनिवादी होते हुए भी वे रस को काव्य का प्राण मानते थे।

अलङ्कारो और वक्रोक्ति में विश्वास करने वाले आचार्य भोज ने रसोक्ति को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है।

"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मय
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानीते।"

होता है। भरत ने 'वहुकृत रस मार्ग' वागभट्ट ने 'रसोपेतं' जयदेव ने 'रसानेक' लिख कर काव्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रस की महत्ता ही स्वीकार की है। मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि तो रसवादी आचार्य ही थे। वे उसे काव्य का प्राण मानते ही थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सस्कृत के लगभग सभी प्राचीन आचार्यों ने काव्य में रस का महत्त्व स्वीकार किया है।

काव्य में रस का महत्त्व एक दृष्टि से और प्रकट होता है। काव्य की पराकाष्ठा साधारणीकरण व्यापार में दिखाई पडती है। साधारणीकरण रस की भूमिका है। अत रस काव्य अनिवार्य उपादान सिद्ध होता है।

भरत मुनि का रस सूत्र—रस सम्प्रदाय के आदि आचार्य भरत मुनि हैं, किन्तु इनका रस विवेचन नाटक और रूपक से ही अधिक सम्बन्धित है। उनका प्रसिद्ध रस सूत्र इस प्रकार है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसयोगात् रसनिष्पत्ति"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

इस सूत्र को समझने के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो को भी समझ लेना आवश्यक है। नाटक या काव्य आदि साहित्य में चित्तवृत्तियो की ही प्रतिच्छाया दिखाई पडती है। चित्तवृत्तियों के उदय, विकास और तिरोभाव होने के अनेक कारण, कार्य और सहायक कारण होते हैं। साहित्य में इन्ही को क्रमश विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (सचारी) भाव कहा गया है। आचार्य मम्मट ने इसी वात को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

"कारणान्यय कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटचकाव्ययो ॥
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण।
व्यक्त. स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रसस्मृत ॥"

—काव्यप्रकाश, ४।२७-२८

पीयूषवर्षी जयदेवप्रणीत 'चन्द्रालोक' में भी रसास्वादन के हेतु कारण, कार्य और सहकारी कार्यों को क्रमश विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कहा गया है—

"आलम्बनोद्दीपनात्मा विभाव कारण द्विधा
कार्योऽनुभावो भावाश्च सहायो व्यभिचार्यपि।"

स्थायी भाव—सहृदयो के हृदय में वासना रूप में स्थित मनोविकार साहित्य में स्थायी भाव कहलाते हैं। यही स्थायी भाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो द्वारा उद्वेलित किए जाने पर रस रूप में व्यक्त हो जाते है। साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

"विभावानुभावेन व्यक्त सचारिणा तथा
रसतामेति रत्यादि स्थायी भावो. सचेतसाम्।"

इस प्रकार साहित्य में रस को प्रवाहित करने में विभाव, अनुभाव और संचारी

भावो का अत्यधिक महत्त्व है।

विभाव—सहृदयो के हृदय में संस्कार रूप में स्थित रति आदि स्थायी भावो के उद्दीपक कारण को विभाव कहते हैं। शुक्ल जी ने विभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है'। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है—

"बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रया.
अनेन यस्मात्तेनाय विभावभूति कथ्यते ॥"—७।६

अर्थात् विभाव वाणी और अगों के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन या अनुभव कराते हैं इसलिए इनको विभाव कहा गया है।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—

१ आलम्बन विभाव।

२ उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव वे हैं जिनका आलम्बन लेकर रति आदि स्थायी भाव जाग्रत होते हैं जैसे नायक, नायिका।

आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं—

१ विषयालम्बन—जहाँ विषय के आलम्बन से रस की प्रतीति होती है। जैसे—रामादि।

२ आश्रयालम्बन—जहाँ नायक आदि आश्रय के द्वारा रस की उत्पत्ति होती है।

उद्दीपन विभाव वे कहलाते हैं जिन वस्तुओ या स्थिति को देखकर रति आदि स्थायी भाव तीव्रतर या उद्दीप्त होने लगते हैं। जैसे चन्द्रोदय, कोकिल, एकान्त स्थल आदि। प्रत्येक रस के अपने विशिष्ट उद्दीपन होते हैं। भावोद्दीपन के निम्नलिखित कारण होते हैं—

१ आलम्बन के गुण।

२. आलम्बन की चेष्टाएँ।

३ आलम्बन के अलंकार।

४ तटस्थ जैसे वसन्त, उद्यान आदि।

अनुभाव—स्थायी भावो के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक विकार दिखाई पड़ते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं—

"अनुभावयन्ति इति अनुभावा"

अर्थात् स्थायी भावो का अनुभव कराने वाले अनुभाव कहलाते हैं।

भावो के अनुवर्ती होने के कारण यह अनुभाव कहलाते हैं। विभावो की प्रत्यक्षानुभूति अनुभावो द्वारा ही होती है।

अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—

१ कायिक—कटाक्ष आदि आंगिक चेष्टाएँ।

२ मानसिक—वाचिक—कथोपकथन इत्यादि।

३. आहार्य—अलंकार आदि कृत्रिम वेश धारण करना।

४ सात्विक—स्वभावज अग विकार। शृंगार के अन्तर्गत स्वाभाविक अनुभाव या सात्विक भाव आठ होते हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वर-भग, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वेद, रोमाञ्च, प्रलय (अचेत)।

व्यभिचारी भाव या सचारी भाव—सचारी भाव स्थायी भावो के विपरीत क्षणिक होते हैं। स्थायी भावो के सहकारी के रूप में वर्तमान रहते हैं। इन्हे व्यभिचारी भाव भी कहते हैं, क्योकि यह किसी एक रस तक सीमित नहीं रहते। एक ही व्यभिचारी भाव भिन्न रसो से उदय और अस्त होता रहता है। अनेक रसो में व्यभिचरण करने के कारण ही सचारी भाव को व्यभिचारी भावो की सज्ञा दी गई है। ये सचारी भाव ३३ माने गए है, किन्तु इस युग में कई नवीन सचारी दिखाई पडने लगे हैं इसलिए इनकी सख्या में वृद्धि हो गई है।

रस सूत्र के व्याख्याकार

भट्ट लोल्लट का आरोपवाद या उत्पत्तिवाद—भट्ट लोल्लट ने 'निप्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति लिया है। इनके मतानुसार रस की उत्पत्ति मूल रूप से ऐतिहासिक पात्रो जैसे राम, सीता आदि में ही होती है। उनका अभिनय करते समय उसी रस का आरोप नट में किया जाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग से रस उत्पन्न होता है। सयोग का अर्थ है सम्बन्ध। यह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है।

१ उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध—यह विभावो द्वारा होता है। विभावो द्वारा ही दर्शक में स्थायी भाव या रस उत्पन्न होता है।

२. गम्य-गमक सम्बन्ध—इसमें अनुभावो द्वारा पात्र दर्शक के समक्ष रस को अभिव्यक्त करते हैं।

३ पोष्य पोषक भाव—व्यभिचारी पोष्य पोषक भाव से रस को पुष्ट करते हैं।

भट्ट लोल्लट के इस मत में कई दोष हैं। सक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

आलोचको का मत है कि हम दूसरे के भावो का दूसरे पर आरोप नही कर सकते। यदि आरोप किया भी जाय तो रसानुभूति नही हो सकती। भट्ट लोल्लट के मतानुसार केवल अनुकार्य में ही रस की उत्पत्ति होती है। नट में उसका आरोप भर होता है। यह मत समीचीन नही है।

दूसरा दोष यह है कि यह मत दर्शक तथा अभिनय के सम्बन्ध की व्याख्या नही करता। यदि रस राम में ही उत्पन्न होता है तो दर्शक का उससे क्या सम्बन्ध है। उन्हें जब रसानुभूति और तज्जनित आनन्द होता ही नही तो वे अभिनय देखने के लिए व्यग्र क्यो होते हैं।

इन दोषों का निराकरण करने के लिए शंकुक ने अनुमितिवाद चलाया।

शकुक का अनुमितिवाद—शकुक नैय्यायिक थे इसीलिए उन्होने रस को अनुमान का विषय माना है। 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमान या अनुमिति किया है तथा सयोग का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध माना है। इन्होने आरोप वाले सिद्धान्त को दूसरे ढग से समझाया है। इनका मत है कि नटो में अनुकार्य का आरोप नही किया जाता बल्कि 'चित्र

तुरगादिन्याय' से उनका अनुमान कर लिया जाता है। चित्र तुरगादिन्याय का अर्थ है कि बच्चे के समान घोडे के चित्र को ही वास्तविक घोडा समझ लेना। दर्शक अभिनय में इतने लीन हो जाते हैं कि वे नट को ही वास्तविक राम समझकर रसानुभूति करते हैं।

कुछ विद्वानो ने प्रधानत भट्ट नायक ने शकुक के इस मत का खडन किया है। उनके मतानुसार अनुमान से सच्चा आनन्द नही प्राप्त होता। इस मत का खडन करते हुए भट्टनायक ने भुक्तिवाद का प्रतिपादन किया।

भट्टनायक का भुक्तिवाद—भट्टनायक ने आरोप और अनुमान वाली बात का विरोध किया है। इन्होने एक नई काव्य क्रिया कल्पित की है जिसे भोजकत्व नाम के पारिभाषिक अभिधान से अभिहित किया है। इसी व्यापार द्वारा वह रसानुभूति मानते हैं। इस व्यापार से पहले दो और व्यापार और माने हैं। एक अभिधा का और दूसरा भावना या भावकत्व का। इस प्रकार इस व्यापार के तीन रूप होते हैं। अभिधा द्वारा काव्य का अर्थ समझकर भावकत्व के सहारे पात्र अपने व्यक्तिगत रूप को छोडकर सामान्य रूप में ग्रहण किया जाता है, यही साधारणीकरण की अवस्था है। तत्पश्चात् भोजकत्व द्वारा दर्शक रस का भोग करते हैं। इस दशा में दर्शक का अहभाव तथा रजोगुण और तमोगुण लुप्त हो जाते हैं। केवल सतोगुण मात्र शेष रह जाता है। सतोगुण की इसी पराकाष्ठा की अवस्था में रस भुक्ति की स्थिति आती है। 'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दसविद्विश्रान्ति'।[1] भट्ट नायक ने भरत सूत्र के 'सयोग' शब्द का अर्थ भोज्य, भोजक या भाव्य भावक सम्बन्ध लिया है तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति या भोग लिया है।

इस मत में रसानुभूति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है। इसमें दर्शक को ही महत्त्व दिया गया है—किन्तु इस मत की भी आलोचना की गई है। त्रिविध काव्य व्यापारो में अभिधा का उल्लेख तो मिलता है किन्तु भावकत्व और भोजकत्व निराधार होने के कारण मान्य नही हैं।

अभिनवगुप्ताचार्य का अभिव्यक्तिवाद—अभिनवगुप्त ने भट्ट नायक का मत स्वीकार तो किया है किन्तु उन्होने उसके भोजकत्व और भावकत्व को स्वतन्त्र व्यापार नही माना है। इन दोनो को वे व्यञ्जना व्यापार के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। यह व्यञ्जनावादी थे अत· यह 'सयोग' का अर्थ व्यग्य व्यञ्जक सम्बन्ध तथा 'निष्पत्तिः' का अर्थ रस की अभिव्यक्ति या व्यञ्जना मानते हैं। इनका मत है कि रति आदि स्थायी भाव दर्शक में सस्कारजन्य होते हैं किन्तु वे अव्यक्त रहते हैं। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग से व्यञ्जना नामक एक क्रिया उत्पन्न होती है। इस व्यञ्जना व्यापार की एक और उपक्रिया होती है जिसे विभावन व्यापार कहते हैं। व्यञ्जना व्यापार के इसी विभावन व्यापार द्वारा सामाजिको (दर्शक) के अव्यक्त स्थायीभाव जाग्रत हो जाते हैं और वे उनका अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार आत्मस्थित स्थायी भावो का सामान्य

---

१ अर्थात् सत्वगुण के उद्रेक से एक विलक्षण प्रकाश रूप आनन्द का अनुभव होता है। इसी अनुभव द्वारा रसास्वादन होता है।

रूप से आनन्दानुभव ही रस है। इसी के सहारे रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार वे रस और स्थायी भाव आदि में व्यग्य व्यञ्जक सम्बन्ध मानते हैं।

यहाँ पर हम हिन्दी के कुछ विद्वानो के मतो की परीक्षा कर लेना चाहते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' शीर्षक पुस्तक निराला जी की एक कविता की आलोचना करते हुए लिखा है कि उसमें रस व्यग्य नही वाच्य है। उन का यह कथन रस के प्राचीन सिद्धान्त के विरुद्ध ठहरता है। वे रस को सम्भवत ऐसा अर्थ समझते हैं जो वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य तीनो प्रकार का हो सकता है। वास्तव में रस अर्थ नहीं है। वह अर्थ के आगे की वस्तु है। अभिनवगुप्त ने अपनी रससूत्र की व्याख्या में इसी बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होने रस की अभिव्यक्ति का जो क्रम दिखलाया है वह भट्टनायक के मुक्तिवाद के क्रम के सदृश ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि भट्टनायक ने अभिधा के अतिरिक्त काव्य की दो नवीन शक्तियो की कल्पना की है वे हैं भावकत्व और भोजकत्व। अभिनवगुप्त ने इन दोनों का कार्य व्यञ्जना-वृत्ति से ही लिया है। जब अभिधा के सहारे पहले अर्थ प्रकट होता है उसके बाद व्यञ्जना के विभावन व्यापार के सहारे साधारणीकरण होता है, तब रसाभिव्यक्ति होती है। इससे प्रकट है कि रस वाच्य नहीं हो सकता। वाच्य अर्थ के निकलने के पश्चात् विभावन क्रिया से साधारणीकरण होता है तब कही जाकर रस व्यञ्जित होता है। शुक्ल जी ने व्यग व्यजक सम्बन्ध वाक्य और रस में माना है। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होने लिखा है कि व्यञ्जना में अर्थात् व्यञ्जक वाक्य में रस होता है (काव्य में रहस्यवाद पृ० ६८-६९), अभिनवगुप्त के मत के अनुसार व्यग व्यञ्जक सम्बन्ध स्थायी भावादि तथा उनसे ध्वनित या व्यग रस में ही होता है। स्थायी आदि किसी एक वाक्य में स्पष्ट नहीं हो सकते इसलिए शुक्ल जी का यह मत भी भ्रामक है। इसी प्रकार हिन्दी के अन्य विद्वानो ने भी रस की प्रक्रिया समझने में भूल की है।

अभिनवगुप्त का रस विषयक सिद्धान्त ही सर्वाधिक मान्य और अधिक मनोवैज्ञानिक है। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार कर उसका स्पष्टीकरण किया है।

रस के सम्बन्ध मे कुछ अन्य आचार्यों के मत

पण्डितराज जगन्नाथ का मत—पण्डितराज जगन्नाथ ने तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र 'रसो वै स । रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' को लेकर ही रस की व्याख्या की है। उनका कथन है कि रस का अनुभव आत्मानन्द रूप है। श्रुति ग्रन्थो में आवरण या अज्ञान-रहित चैतन्य को ही रस कहा है। चैतन्य के आवरण का हटना ही रसास्वाद या चर्वणा है। काव्य रस भी इसी रस के समान है। अन्तर केवल इतना है कि काव्य से जनित रस रति आदि भावो से युक्त रहता है और ब्रह्मानन्द रूप रस इन भावो से वियुक्त रहता है।

विश्वनाथ का मत—विश्वनाथ ने 'काव्य प्रकाश' के आधार पर अपने 'साहित्य-दर्पण' में रस का विवेचन किया है। वह काव्य प्रकाश के 'व्यक्त. सः तैः विभावाद्यै'

के अनुसार ही विभावादि द्वारा रस का व्यक्त होना बताते हैं। यह अभिनवगु विभावन व्यापार को तो मानते हैं, किन्तु इसके बाद अनुभावन और संचारण नाम और व्यापार मानते हैं। रसादि को आस्वाद योग्य बनाना विभावन है। इस वि किए हुए रति आदि स्थायी भावों को रस रूप में लाना अनुभावन है। उनका स चारण करना सचारण है। इन्होंने अपने साधारणीकरण सिद्धान्त में अनुकार्य अनु और सामाजिक सबको एक ही सामान्य भूमि पर रसानुभव होना बताया है।

दशरूपककार का मत—दशरूपककार ने रस निष्पत्ति की प्रक्रिया बतला लिखा है—

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि.
आनीयमान स्वाद्यत्व· स्थायीभावो रस स्मृतः"

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा स्थायी भाव आस्वादन के योग्य बना दिया जाता है उसे रस कहते हैं। यहाँ पर ञ्जय ने भरत द्वारा निर्देशित रसागो के अतिरिक्त सात्त्विक भाव नामक एक नवीन अग का उल्लेख और किया है। प्रत्यक्ष में यह भाव नवीन प्रतीत होता है, किन्तु व्यभिचारी के अन्तर्गत इसकी भी गणना की जाती है। अतएव भरत से इस परिभाषा का विरोध नहीं प्रतीत होता। इस कारिका की टीका में धनिक ने एक बात और स्पष्ट की है। उसने ज्ञान और आनन्द का अधिष्ठान होने के कारण सामाजिक के हृदय को रस का अधिष्ठान माना है। उसका तर्क है कि ज्ञान और आनन्द चेतन धर्म हैं अतएव यह काव्यादि अचेतन में नही रह सकते, किन्तु काव्य उस प्रकार के आनन्दमय ज्ञान की चेतना को उन्मीलित करता है। अतएव जैसे आयु की वृद्धि में हेतु होने के कारण घी को आयु कहने लगते हैं उसी प्रकार आनन्दमय चेतना के उन्मीलन में हेतु होने के कारण काव्य को भी रसमय कहते हैं। दशरूपककार के मतानुसार रस अनुकार्य के अन्दर नही रहता क्योकि वे स्थायी भाव को रस रूप में विकसित हुआ मानते हैं। यह स्थायी भाव सहृदय के अन्त करण में ही रहता है। दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश की अड- तीसवी कारिका से यही बात प्रगट है।

"रस स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात् काव्यस्यातत्परत्वत. ॥"

अर्थात् उस स्थायी भाव को रस कहते हैं। क्योकि एक तो उसका रस या स्वाद लिया जाता है, दूसरे वह रसिक के ही अन्त करण में रहता है। अनुकार्य के अन्दर नही रहता क्योंकि वह अतीत का होता है और तत्परक होता भी नही। इस कारिका के भावार्थ को धनिक ने और स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है—आशय यह है कि जब स्थायी भाव काव्यार्थ के द्वारा उपप्लावित किया जाता है और रसिक के अन्तः- करण में ही रहता है, तब उसे रस कहते हैं। वह स्थायी भाव तब निर्भरानन्दसवि- रूप हो जाता है। वे रस की अवस्थिति अनुकार्य में न मानकर रसिक में इसलिए मानते हैं कि रसिक तो वर्तमान रहता है उसमें रस की अवस्थिति सम्भव हो सकती है, किन्तु अनुकार्य (रामादिक ऐतिहासिक पात्र) अतीत काल के होते हैं वर्तमान नहीं रहते।

यहाँ पर विपक्षी एक विरोधी तर्क प्रस्तुत कर सकता है। वह यह कि भर्तृहरि के अनुसार शब्दों से ही इनके रूपो का उपाधान होता है। अतएव अनुकार्य अर्थात् रामादि का वर्तमान न होते हुए भी वर्तमान होना अभीष्ट ही है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि इनके अवसान का अनुभव हम लोगों को नही होता। अतएव शब्द द्वारा रूप का आधान होने पर भी आस्वादन के विषय में रूप का होना न होना एक-सा है। किन्तु विभाव के रूप में राम इत्यादि का वर्तमान रूप में अवभासन अभीष्ट ही है। रस को अनुकार्यगत न मानने में दूसरा तर्क यह है कि कवि लोग राम इत्यादि के अन्दर रस को उत्पन्न करने के लिए काव्य रचना नही करते, वरन् सहृदयो को आनन्द देने के लिए ही काव्य रचना करते हैं। वह रस समस्त व्यक्तियो के लिए स्वसम्वेद्य ही होता है। अनुकार्यगत रस न मानने के दूसरे कारण ये हैं—

"दृष्टुः प्रतीति व्रीडेर्ष्यारागद्वेष प्रसङ्गतः।
लौकिकस्य स्वरमणी सयुक्तस्येव दर्शनात्॥"

अर्थात् जिस प्रकार किसी लौकिक व्यक्ति को उसकी रमणी के साथ देखने वाले व्यक्ति के हृदय में प्रतीति, व्रीडा, ईर्ष्या, राग और द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार से काव्य में भी होने लगेंगे। धनिक ने इस कारिका के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि रस अनुकार्यगत माना जायेगा तो वह रस तो राम इत्यादि का होगा, सामाजिक का उससे कोई भी सम्बन्ध स्थापित न हो सकेगा और सामाजिक को उससे किसी प्रकार का आनन्द नही मिलेगा। ठीक उसी प्रकार जिस तरह एक तटस्थ दर्शक को किसी सपत्नीक व्यक्ति को देखने पर किसी प्रकार का आनन्द नही मिलता। जब हम किसी तटस्थ व्यक्ति को उसकी रमणी के साथ देखते हैं तब हमें या तो प्रतीति मात्र होकर रह जाती है कि वह अपनी पत्नी के साथ है। यदि दर्शक सज्जन है तो लज्जा का अनुभव करने लगता है और यदि वह दुष्ट हुआ तो ईर्ष्या करने लगेगा कि इसे यह सुन्दरी क्यो मिल गई। उसके हृदय में उसके प्रति लोभ भी हो सकता है और उसके अपहरण की कामना भी जग सकती है। इसी प्रकार राम के प्रेम को तटस्थ दर्शक की भाँति दर्शन करने वाले व्यक्ति के लिए भी या तो प्रतीति मात्र होकर रह जाएगी या लज्जा, अपहरण आदि का कोई भाव उत्पन्न होगा। किन्तु ऐसा नही होता अतएव रस अनुकार्यगत नही माना जा सकता। एक कारण और है। वह यह कि रस व्यंग्य नहीं होता। व्यग्य वही वस्तु होती है जिसकी सत्ता अन्य प्रकार से सिद्ध हो जैसे दीपक उसी घडे को प्रकट करता है जो पहले से वर्तमान रहता है। ऐसा नही होता कि अभिव्यञ्जक मानी जाने वाली वस्तुएँ अभिव्यक्त होने वाली वस्तुओ को स्वय बनाकर प्रकाशित करें। रस की सत्ता पहले से राम इत्यादि में नहीं मानी जाती। अतएव विभाव इत्यादि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि प्रेक्षको में विभाव इत्यादि के द्वारा रस की भावना उत्पन्न की जाती है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि सामाजिको में जो रस रहता है उसका विभाव कौन होता है। यदि सीता आदि उसका विभाव मानी जायें तो सीता जैसी देवियों के प्रति एक साधारण व्यक्ति की रति-भावना हो ही कैसे सकती है। इसका

उत्तर देते हुए धनञ्जय ने लिखा है—

"धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादि प्रतिपादक ।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्यते ॥"

अर्थात् धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाओ का अभिनय करने वाले राम इत्यादि की रति आदि को विभावित करते हैं, जिससे रसिको को उनमें आनन्द आता है। आशय यह है कि कवि लोग योगियो के समान ध्यान-मुद्रा से ध्यान करके केवल राम इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाली उनकी दशा को प्रबन्धबद्ध नही करते, किन्तु वे ऐसी धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाओ का उपनिबन्धन भी करते हैं जो सर्वसाधारण होती हैं। कवि अपनी कल्पना के बल पर ही उन सर्वसाधारण अवस्थाओ की निकटता प्राप्त करते हैं, और वे अवस्थाएँ किसी एक अभिनेय राजा इत्यादि को आश्रय देने वाली होती हैं अर्थात् निबन्धन की सुविधा के लिए राजा इत्यादि का आश्रय ले लिया जाता है—

"ता एव च परित्यक्तविशेषा रस हेतव"

अर्थात् वे ही अवस्थाएँ अपनी विशेषताओं को छोडकर रस का हेतु बनती हैं। आशय यह है जिस समय हम अभिनय देखते हैं उस समय यद्यपि ज्ञान तो यह होता है कि सीता को देख रहे हैं किन्तु रचना-कौशल से सीता अपने सीतात्त्व (जनकपुत्रीत्त्व) अश को छोडकर एक सर्वसाधारण प्रेमिका का रूप धारण कर लेती है। उस समय वे स्त्रीमात्र की वाचक हो जाती हैं। अतएव यह दोष नही रहता कि सीता जैसी जगत्पूज्य देवियाँ हमारे प्रेम का आश्रय कैसे बन सकती हैं। अब प्रश्न यह होता है कि फिर सीता के उपादान की ही क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है—

"क्रीडताम् मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साह स्वदते तद्वच्छो तृणामर्जुनादिभि ॥"

अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी इत्यादि के बने हुए हाथी इत्यादि से खेलने वाले बच्चों को अपने उत्साह से आनन्द आता है उसी प्रकार अर्जुन आदि से सुनने वालो को आनन्द आता है। यहाँ पर आशय है कि जिस प्रकार लौकिक शृगार इत्यादि में स्त्री आदि विभावो की अपेक्षा होती है वैसी काव्य या नाट्य में नही होती। अपितु नाट्य रस लौकिक रसों से विलक्षण होते हैं। जैसा कि कहा गया है कि आठ नाट्य रस होते हैं (अर्जुन इत्यादि के साथ श्रोताओ को अपने ही उत्साह का आनन्द आया करता है, इसीलिए रस परिपाक के लिए अर्जुन इत्यादि का उपादान होता है। काव्य में लौकिक रस की अपेक्षा विलक्षणता होती है। इसीलिए नायिका इत्यादि भी अपनी ही प्रेमिका के रूप में उपस्थित होती हैं)।

"काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते"

अर्थात् नर्तक की काव्यार्थ-भावना के आस्वाद का निषेध नही किया जाता। आशय यह है कि न तो नर्तक के हृदय में लौकिक रस से रसवत्ता उत्पन्न होती है और न वह लौकिक रस के आलम्बन नायिका इत्यादि को उपभोग्य रूप में अपनी प्रेमिका इत्यादि ही समझ सकता है। किन्तु यदि उसमें काव्य के अर्थ को भावित करने की शक्ति (सहृदयता और रसिकता) हो तो वह भी हम लोगो के समान अभिनय का रसास्वादन

कर सकता है। इसके प्रतिकूल यदि वह सहृदय नही है तो उसके अभिनय का फल केवल दर्शको का अनुरञ्जन करना होगा, उसे उस अभिनय का आनन्द स्वय प्राप्त न कर सकना नर्तक (अनुकर्त्ता) के हित में ठीक ही है, क्योकि अन्यथा वह आनन्दमग्न होने पर अभिनय करना भूलकर किंकर्त्तव्यविमूढ-सा खडा रह जायेगा।

साधारणीकरण

यद्यपि साधारणीकरण भारतीय वस्तु है किन्तु इसे अंगरेजी विद्वानो ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। 'वूचर' नामक विद्वान ने साधारणीकरण की अवस्था का देखिए कितने स्वाभाविक शब्दो में वर्णन किया है—

"The spectator is lifted out of himself He becomes one with the tragic sufferer and through him with humanity at large" अर्थात् दर्शक अपने स्वार्थ सम्बन्धों से ऊपर उठकर सतप्त नेता से तादात्म्य स्थापित करता है। इस तरह से सारे मानव मात्र से उसका साम्य एव ऐक्य स्थापित हो जाता है। इन पक्तियों में वूचर साहव ने स्पष्ट रूप से आलम्वनत्व धर्म सम्वन्धी साधारणीकरण की ही व्यजना की है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् भाव-तादात्म्य की स्थिति पर अधिक जोर देते हैं। हाउसवन नामक विद्वान् ने लिखा है कि—'लेखक और पाठक की भावमैत्री काव्य का एक उद्देश्य है।' इसी कोटि के विद्वानों को दृष्टि में रखकर वावू गुलावराय ने लिखा है कि पाश्चात्य समीक्षक विभावादि के साधारणीकरण की अपेक्षा भाव-तादात्म्य की स्थिति पर अधिक जोर देते हैं। कुछ पाश्चात्य समीक्षको ने इसके तादात्म्य की स्थिति को कल्पना का सर्वोत्तम रूप माना है। वावू गुलावराय का कथन सारपूर्ण होवे हुए भी अन्तिम निर्णय नहीं कहा जा सकता। ऊपर हम वूचर साहव के उद्धरण के सहारे दिखला आए हैं कि आलम्वनत्व धर्म के साधारणीकरण में ही विश्वास करते थे। ऐसी अवस्था में यह कहने में सकोच नही होता कि भारतीय साधारणीकरण के प्रति पाश्चात्यो ने भी अपनी आस्था प्रकट की है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में सस्कृत आचार्यों के मत—सस्कृत के निम्नलिखित विद्वानो ने साधारणीकरण के स्वरूप पर विचार किया है।

१ भट्टनायक।
२ अभिनवगुप्त।
३ विश्वनाथ।
४ जगन्नाथ।

भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या अपने ढग पर की थी। उनका रस सम्वन्धी सिद्धान्त भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। भुक्तिवाद दो नए काव्य-व्यापारो की कल्पना के कारण बहुत प्रसिद्ध है। भट्टनायक ने अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोजकत्व नामक दो नई काव्य-वृत्तियाँ कल्पित की थीं। इनके मतानुसार अभिधा द्वारा काव्य का अर्थ समझकर भावना के सहारे प्रथम काव्यार्थ का साधारणीकरण होता है। वाद में इस साधारणीकृत काव्यार्थ का भोग किया जाता है। साधारणीकरण की अवस्था

में तमोगुण और रजोगुण का परिहार हो जाता है, केवल सतोगुण मात्र शेष रह जाता है। सतोगुण की यह पराकाष्ठा आनन्दरूप होती है। इस सतोगुणी अवस्था में पहुँचकर हमें किसी भी लौकिक वस्तु का ज्ञान नही रहता। हमारा अह और त्वम् वाला भेद मिट जाता है। नायक और नायिका के कार्य-भाव अनुभूतियाँ व्यक्तिविशेष के कार्य और अनुभूतियो के रूप में अनुभूत न होकर सामान्य मानवमात्र के कार्यो, भावो और अनुभूतियो के रूप में अनुभव होती हैं। इस प्रकार का सामान्यीकरण भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण कहलाता है। इसी साधारणीकृत काव्यार्थ को हम भोग नामक व्यापार के सहारे उपभुक्त करते हैं। भट्टनायक का साधारणीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त यही है। इसमें आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर ही विशेष बल दिया गया है।

अभिनवगुप्त भट्टनायक के मत से बहुत कुछ सहमत प्रतीत होते हैं। अतर केवल इतना है कि वह भट्टनायक के द्वारा माने गए भावना और भोग नामक काव्य-व्यापारो की कल्पना को अनावश्यक समझते थे। उनका कहना है कि इन दोनो ही काव्य-व्यापारो का कार्य सर्वमान्य व्यजना-वृत्ति से ही चल जाता है। ऐसी अवस्था में दो नये काव्य-व्यापारो की कल्पना करना तर्कसगत नही है।

अभिनवगुप्त का कहना है कि स्थायी भाव और विभावादि में वस्तुतः व्यग्य-व्यंजक सम्बन्ध रहता है। अर्थात् विभावादि के सयोग से व्यजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया की एक उपक्रिया होती है जिसे विभावन व्यापार कहते हैं। इस विभावन व्यापार के सहारे ही काव्यार्थ का साधारणीकरण होता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार विभावादि के ममत्व और परत्व के सम्बन्धो से स्वतत्र होना ही साधारणीकरण है। विभावो के साधारणीकृत हो जाने पर ही 'यह न मेरे हैं, न शत्रु के हैं और न तटस्थ के हैं' ऐसी सम्बन्ध स्वीकृति रहती है और 'न मेरे नही, शत्रु के नही, तटस्थ के नहीं हैं' ऐसे सम्बन्ध की अस्वीकृति रहती है। इस प्रकार विभावो के साधारणीकृत होने पर सामाजिको के वासनागत स्थायी भाव जाग्रत हो उठते हैं। उस समय यह व्यक्ति के होते हुए भी व्यक्ति के नही रहते हैं। साथ ही अपना निजत्व भी नही खोते हैं। उस समय सामाजिक का मन एक ओर तो वेद्यातर सम्पर्क शून्य हो जाता है और दूसरी ओर उसमें उन भावो के ज्ञाता होने का अह भी नष्ट हो जाता है। वह भाव सकलसहृदयो के अनुभव का एक-सा विषय होता है। वही चर्व्यमाण अर्थात् आस्वादित होकर रसरूप हो जाता है। रस का यह अनुभव अखड रूप होता है। और गन्ने के समान अपनी निर्माण-सामग्री से स्वतत्र भी रहता है।

अभिनवगुप्त के मत का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे पाठक का सब सहृदयों से समरूप होने में अधिक विश्वास करते थे। आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण में वे विशेष विश्वास नही करते थे। इस प्रकार इनका साधारणीकरण का सिद्धान्त सहृदय के हृदय से अधिक सम्बन्धित प्रतीत होता है। वैसे तो वह आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते भी मालूम पडते हैं। किन्तु उनका मूल लक्ष्य पाठक और सहृदयो के हृदय के साधारणीकरण पर बल देना था। भट्टनायक ने साधारणीकरण में केवल आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर विचार किया था।

अभिनवगुप्त ने आलम्बनत्व धर्म के साथ-साथ पाठक और सहृदयो के हृदयो के तादात्म्य पर भी विशेष वल दिया। यही दोनो में अतर है।

विश्वनाथ—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विभावो के साधारणीकरण के साथ-साथ पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य भी आवश्यक वतलाया है। विश्वनाथ ने विभावन को तो जैसा भट्टनायक ने माना है वैसा ही रक्खा है पर अनुभावन और सचारण नामक दो नई क्रियाएँ और कल्पित की हैं। रसादि को आस्वाद योग्य वनाना विभावन है यही भट्टनायक का भावकत्व है। इस प्रकार विभावन किए हुए रत्यादि को रस रूप में लाना अनुभावन है। इनका सम्यक् रूप से चारण किया जाना सचारण कहलाता है। सक्षेप में विश्वनाथ का मत यही है।

साधारणीकरण के सम्वन्ध में हिन्दी विद्वानों के मत—हिन्दी विद्वानो ने भी साधारणीकरण के सम्वन्ध में अपने मत भी प्रकट किए हैं। कुछ विद्वानो ने तो मौलिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से आचार्य केशवप्रसाद और डा० श्यामसुन्दरदास का मत विशेष विचारणीय है।

आचार्य केशवप्रसाद और डा० श्यामसुन्दरदास का मत—आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने साधारणीकरण का सम्वन्ध योग की मधुमती भूमिका से माना है। केशवप्रसाद मिश्र का अनुसरण श्यामसुन्दरदास जी ने भी किया है। डा० श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—"कवि के समान हृदयालु सहृदय भी जब उस मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है तब उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एक तान एक लय हो जाती हैं। कवि और पाठक की चित्तवृत्तियो का एक तान, एक लय हो जाना ही साधारणीकरण है।"

वावू गुलावराय ने श्यामसुन्दरदास एव मिश्र जी के इस मत पर आक्षेप किया है। वह आक्षेप त्रयोन्मुखी है।

१ मधुमती भूमिका योग की दूसरी श्रेणी है अन्तिम श्रेणी नही। योगी का लक्ष्य केवल वहाँ तक पहुँचना ही नही होता उससे आगे वढ़कर ही उसे अपने इष्ट-देव के दर्शन होते हैं। इसलिए मधुमती भूमिका को योग की श्रेष्ठतम अवस्था कहना उचित नही है।

२. इस भूमिका तक पहुँचने के लिए केवल पूर्व-जन्म के सस्कारो की ही आवश्यकता नही होती अपितु कवि के लिए अभ्यास तथा अन्य कुछ साधनो की भी अपेक्षा होती है।

३. वह दशा मधुमती भूमिका के सदृश हो सकती है किन्तु मधुमती भूमिका ही नही हो सकती।

वावू गुलावराय जी के मत से मैं भी सहमत हूँ—वास्तव में योग की मधुमती भूमिका को साहित्य-क्षेत्र में घसीटना ठीक नही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत—शुक्ल जी ने साधारणीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "जव तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नही लाया जाता कि वह सामान्यत सवके उसी भाव का आलम्बन हो सके तव तक उसमें रसोद्वोधन की शक्ति नही आ सकती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता

है।" एक दूसरे स्थल पर उन्होने इसके स्वरूप की व्याख्या करते हुए पुन लिखा है—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेप आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलम्बन हो जाती है। तात्पर्य यह है कि आलम्वन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सवके भावो का आलम्बन हो जाता है।"

उपर्युक्त उद्धरणो के आधार पर प्रकट है कि शुक्ल जी साधारणीकरण आलम्वनत्व धर्म का मानते थे। डा० श्यामसुन्दरदास जी ने भी शुक्ल जी के मत को इसी रूप में समझा था। वह लिखते हैं कि शुक्ल जी के अनुसार 'विभाव, अनुभाव आदि का साधारण रूप देकर ही सामने लाया जाना' साधारणीकरण है।

शुक्ल जी और श्यामसुन्दरदास जी के मतों में अन्तर—श्यामसुन्दरदास के मतानुसार उन्ही के शब्दों में सावारणीकरण 'कवि अथवा भावक' की चित्तवृत्ति से सम्बन्धित रहता है। शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकरण विभाव आदि का होता है। शुक्ल जी का साधारणीकरण सम्बन्धी मत गुलावराय ने अपने ढग पर समझा है। वह लिखते हैं—ऐसा ज्ञात होता है कि शुक्ल जी आलम्बन का साधारणीकरण नही चाहते थे वरन् वह ऐसा आलम्बन ही चाहते हैं जो सवका आश्रय वन सके। उनके मतानुसार शुक्ल जी की प्रतिभा विषयगत है, किन्तु वह स्वय विषयी के हृदय को साधारणीकरण का श्रेय देते हैं। गुलावराय जी का यह दृष्टिकोण भी ध्यान देने योग्य है।

डा० नगेन्द्र का मत—इनके मतानुसार 'विषय अर्थात् रामादि का रूप अज्ञात ही रहता है किन्तु कवि अपनी-अपनी भावना के अनुकूल उसका वर्णन करते हैं। उसी कवि की भावना का साधारणीकरण होता है। पाठक कवि की साधारणीकृत भावना का आस्वादन करता है।' अपने इस सिद्धान्त का उन्होने निम्नलिखित शब्दो में और भी स्पष्टीकरण किया है—"हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं। काव्य का आलम्वनरूप सीता कोई व्यक्ति नही है जिससे हमको किसी प्रकार का सकोच करने की आवश्यकता हो। वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति सवेद्य वनाया है। वस, इसीलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके सावारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है।"

समस्त मतो की समीक्षा और अपना दृष्टिकोण—साधारणीकरण का विषय अत्यधिक साधारण होते हुए भी जटिल वना दिया गया है। यदि हम उपर्युक्त मतों को ध्यान ने देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि प्राय. आचार्यों ने सावारणीकरण के किसी एक पक्ष को पकडकर उसका प्रतिपादन किया है। सच्चा सावारणीकरण वह होगा जो सर्वांगीण हो। सावारणीकरण की अवस्था में विभावादि तो साधारणीकृत होते ही हैं, पाठक आश्रय और कवि आदि का तादात्म्य भी अपेक्षित होता है। यह सर्वांगीण तादात्म्य तभी सभव हो सकता है जब कवि को सार्वभौमिक सार्वकालिक अनु-

भूतियो का ज्ञान हो तथा परम्परागत सस्कारो की रक्षा और निर्वाह में समर्थ हो।

भाव और रस मे अन्तर

भाव का स्वरूप—भाव का सामान्य अर्थ 'स्थिति' होता है। सस्कृत साहित्य-क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग देवादिविषयक रति आदि स्थायी भावों के वर्णन तथा व्यभिचारी भावो के अभिव्यञ्जन के अर्थ में देखा जाता है। किन्तु सामान्यतया उसका प्रयोग जीवन और जगत् के विविध पदार्थों की प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत विविध सवेदनात्मक मनोविकारो के लिए होता है। भावो के विषय और विषयी का अस्तित्व अनिवार्य होता है। बिना विषय के वे उत्पन्न नही हो सकते। यह बात दूसरी है कि वह विषय चाहे कल्पना-जगत् में ही वर्तमान हो। भावो का एक स्वभाव भी हुआ करता है। वे या तो दु खात्मक होते हैं या सुखात्मक। कुछ आचार्य भावोदय प्रक्रिया का सम्बन्ध शरीर से भी मानते हैं। उनका कहना है कि भावोदय से पूर्व हमारे स्नायु और मासपेशियाँ सजग हो उठती हैं। कुछ दूसरे विद्वान् इस मत के समर्थक नही हैं। वे भावों का शरीर से कुछ विशेष सम्बन्ध नही मानते हैं। भारतीय आचार्य अधिकतर प्रथम मत के ही अनुयायी हैं। अनुभावो की कल्पना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। भावो के सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने योग्य है। कोई भी भाव स्वतत्र और निरपेक्ष नही रह सकता। उसका सम्बन्ध विविध प्रकार के सम और विषम भावो से अवश्य रहता है।

भावो की स्थितियाँ भी कई होती हैं। कुछ भाव सुषुप्तावस्था में रहते है, कुछ सुप्तावस्था में, और कुछ जाग्रतावस्था में भी दिखाई देते हैं। कुछ आध्यात्मिक भावों की स्थिति तुरीयावस्था में भी रहती है। इस कोटि के भाव प्राय समाधि की अवस्था में रहते हैं।

भावों के प्रसार-क्षेत्र पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार" माना है।[1]

मैं आचार्य जी से पूर्णतया सहमत नही हूँ। भावो का प्रसार कोरे ज्ञान-क्षेत्र में ही नही होता। उनके प्रचार के लिए क्रिया की भी आवश्यकता होती है। कभी-कभी तो बिना ज्ञान के ही केवल क्रिया ही भावो को प्रसरित कर देती है। सुषुप्त और तुरीय भाव क्रिया और ज्ञान की भी अपेक्षा नही रखते।

भाव भी कई प्रकार के हुआ करते है। इनका थोडा सकेत काव्य के भाव-तत्त्व के प्रसग में किया जा चुका है। भाव की विविध आधार-भूमि या क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक रूप होते हैं। साहित्य में इन्हे विभाव, सचारी और अनुभावो की सज्ञा दी जाती है।

ऊपर हम भावो की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय कोटियो का सकेत कर चुके हैं। जो भाव हमारे हृदय में सुषुप्तावस्था में वर्तमान रहते हैं उन्ही को स्थायी भाव कहते है। सुषुप्तावस्था में स्थित भाव ही सचारी का रूप धारण कर लेते हैं। रस वास्तव

---

१ चिन्तामणि भाग २—पृ० २१६।

में स्थायी भावो का जाग्रत रूप होता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि हम स्थायी भावो के जाग्रत रूप को ही रस क्यो मानते है ? अन्य सामान्य भावो के जाग्रत रूप को नही।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें स्थायी भाव के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना होगा। स्थायी भाव की सबसे सुन्दर परिभाषा दशरूपककार ने दी है। उस पर धनिक की टीका और भी सुन्दर है। उन दोनो आचार्यों के मतानुसार स्थायी भाव में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

१. जो मानवमात्र के हृदय में सुषुप्तावस्था में वर्तमान हो।

२ जो सजातीय और विजातीय दोनो प्रकार के भावो से विच्छिन्न न हो सके।

३ जो दूसरे भावो को अपने ही रूप में परिणत करने की क्षमता रखता हो, उसी को स्थायी भाव कह सकते है। इनका ही उद्रेक रसरूप में होता है। ये स्थायी भाव सामान्य भावो से भिन्न होते है। सामान्य भाव रसरूप में परिणत नही हो सकते। यदि ऐसा होता तो रसो की सख्या सहस्रो तक पहुँच जाती, क्योकि सामान्य भाव अगणित हो सकते है। किन्तु रसो की सख्या सीमित ही है। जितने स्थायी भावो का पता लगाया जा सका है, रसो की सख्या भी उतनी ही होती है।

रस का स्वरूप—संस्कृत आचार्यों ने रस के स्वरूप पर बडे विस्तार से विचार किया है। आचार्य भरत, अभिनवगुप्त और विश्वनाथ के मत इस दृष्टि से बडे महत्त्व-पूर्ण हैं। आचार्य विश्वनाथ ने रस की स्वरूप व्याख्या करते हुए लिखा है—

"सत्वोद्रेकादखण्डश्च प्रकाशानन्दचिन्मय।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभि
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस॥"

अर्थात् रस सत्त्वोद्रेकप्रधान होने के कारण अखड रूप प्रकाशात्मक आनन्द-रूप, चैतन्यरूप, वेद्यान्तर स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सदृश, लोकोत्तर, चमत्कार से अनुप्राणित रहती है। किसी सहृदय के द्वारा ही स्वाकार से अभिन्न रूप में आस्वादित किया जाता है।" उपर्युक्त पक्तियो में रस की निम्नलिखित विशेषताएँ व्यजित की गई हैं—

(१) रस का सम्बन्ध केवल सतोगुण से होता है। रसानुभूति की अवस्था में रजोगुण और तमोगुण का परिहार हो जाता है। रज और तम से प्रेरित ममत्व और परत्व की भावनाओ का लोप हो जाता है।

(२) रस आस्वाद रूप है। वह आस्वाद भी माधुर्यरूप होता है। इसका आस्वा-दन केवल सहृदयो को ही हो सकता है, सामान्य मानवो को नही।

(३) इसका उदय अखण्ड और अद्वैत रूप में होता है। इसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, सचारी आदि की ही पृथक् पृथक् स्थिति नही होती। यह समस्त मिलकर अखण्ड और अद्वैत रस रूप में प्रतिभासित होते हैं। अद्वैत रूप होने के कारण अन्य लौकिक और अलौकिक अनुभूतियो का तिरोभाव हो जाता है।

(४) यह अखण्ड और अद्वैतरूपिणी अनुभूति चिन्मय होती है। उसमें ज्ञान की प्रतिष्ठा रहती है। वह जडरूप नही होती—वह ज्ञानप्रकाश रूप होती है।

(५) इस प्रकार के रस मे उद्भूत होने वाला आनन्द एक विशेष लोकोत्तर चमत्कार से चमत्कृत रहता है। यह चमत्कार ही उसकी अभिव्यक्ति में एक विचित्र आकर्षण भर देता है। वास्तव में रसानुभूति स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म और आध्यात्मिक होती है। किन्तु यह आध्यात्मिकता सच्ची आध्यात्मिकता का प्रतिविम्ब मात्र होती है। इसीलिए उसे "ब्रह्मास्वादसहोदर" अथवा "ब्रह्मानन्दसहोदर" कहा गया है।

(६) रस न तो ज्ञाप्य होता है और न कार्य। उसका साक्षात् अनुभव भी नही होता। लौकिक शब्दों में उसकी व्यजना नहीं की जा सकती। इसीलिए उसे अनिर्वचनीय और अलौकिक मानते हैं। उसकी समता निर्विकल्पक समाधि से भी नही कर सकते, क्योकि उस अवस्था में अहकार-भावना का सदा के लिए विनाश हो जाता है, किन्तु रसानुभूति की अवस्था में उसका परिहार केवल क्षणिक मात्र होता है।

सक्षेप में रस-स्वरूप की यही विशेषताएँ प्रमुख है। अब यदि हम भाव और रस के स्वरूपो की तुलना करें तो दोनो में निम्नलिखित अन्तर दिखाई पड़ेंगे—

(१) भावो का सम्बन्ध सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनो से हो सकता है। तीनो ही प्रकार के भाव हो सकते हैं। किन्तु रस में केवल सत्व का ही उद्रेक रहता है।

(२) रस का आस्वादन केवल सहृदयो को होता है, किन्तु भावो का उदय मानवमात्र के हृदयो में हो सकता है।

(३) रस का आस्वादन आनन्द रूप ही होता है, किन्तु भाव की अनुभूति सुखात्मक और दुखात्मक दोनो ही प्रकार की हो सकती है।

(४) रस का उदय अखड और अद्वैत रूप होता है, किन्तु भावो का उदय खण्ड रूप में ही होता है क्योकि भाव अनेक होते हैं।

(५) रस की अनुभूति चिन्मयी होती है पर भावो की अनुभूति अचिन्मयी भी हो सकती है।

(६) रस की अनुभूति लोकोत्तररूपिणी होती है, किन्तु भाव की अनुभूति का यह अनिवार्य लक्षण नही है।

(७) रसो की अनुभूति "ब्रह्मास्वाद्सहोदररूपा" होती है, किन्तु भावो की अनुभुति दु खात्मक और सुखात्मक दोनो प्रकार हो सकती है।

(८) रस की अभिव्यक्ति निरपेक्ष, स्वतन्त्र और अखड रूप होती है पर भाव कोई भी निरपेक्ष और स्वतत्र नही रहता। रस और भाव में यही प्रमुख भेद है।

रस मैत्री और रस विरोध—भारतीय साहित्यशास्त्र में वर्णित प्रमुख नौ रसो में से कुछ रस तो परस्पर सम्बन्वित रहते हैं। काव्य में ये रस एक ही स्थल पर एक साथ भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं किन्तु इसके विपरीत कुछ रसो में परस्पर सम्बन्ध नही स्थापित किया जा सकता। आचार्यो ने परस्पर सम्बन्वित रसो के योग को रस मैत्री और विरोधी रसो को रस विरोध की संज्ञा दी है। रस का सम्बन्ध स्थायी भावो से होता है क्योकि इन्ही भावो से रस की उत्पत्ति होती है अत रस मैत्री और रस विरोध स्थायी भावो का ही होता है। रस शब्द से स्थायी भावो की ओर ही सकेत किया जाता है जैसा कि 'काव्यप्रकाश' में लिखा है—'रसशब्देनात्र स्थायिभावउपलक्ष्यते'।

रस मैत्री—जबकि परस्पर मित्र रसो का एक ही आलम्बन और आश्रय में समुचित समावेश किया जाता है काव्य में उसे रस मैत्री कहते हैं। देव कवि ने रस मैत्री को जन्य-जनक भाव द्वारा स्पष्ट किया है—

"होत हास्य, सिंगार ते, करुण, रौद्र ते जानु,
वीर जनित अद्भुत कहो, वीभत्स ते भयानु।
ये आपस में मित्र है, जन्य जनक के भाई,
मित्र वरनिये शत्रु तजि, उदासहू रस जाई।"

—शब्दरसायन चतुर्थ प्रकाश, पृ० ४५

इस प्रकार शृङ्गार और हास्य, करुण और रौद्र, वीर और अद्भुत, वीभत्स और भय को देव कवि ने परस्पर मित्र रस माना है।

रस विरोध—विभिन्न रसो के योग की असमर्थता काव्य में रस विरोध कहलाती है। रसो का पारस्परिक विरोध तीन प्रकार का होता है—

(१) एक आलम्बन विरोध—जब एक ही आलम्बन को लेकर दो विरोधी रसो का प्रयोग किया जाता है, वहाँ एक आलम्बन विरोध होता है जैसे शृङ्गार रस का रौद्र, वीर, वीभत्स आदि से एक ही आलम्बन होने पर विरोध हो जाता है, क्योकि प्रेम, क्रोध और घृणा का एक साथ योग हो जाने पर रस का आस्वादन नही किया जा सकता।

(२) एक आश्रय विरोध—जब एक ही आश्रय के साथ विरोधी रसों का योग किया जाय, वहाँ एक आश्रय विरोध होता है। जैसे एक ही आश्रय में वीर और वीभत्स रस का प्रयोग विरोध उत्पन्न कर देता है क्योकि भय और उत्साह का उदय एक साथ नही हो सकता।

(३) नैरन्तर विरोध—नैरन्तर विरोध वहाँ पर होता है जहाँ दो विरोधी रसो के मध्य में उन दोनों का अविरोधी रस नहीं रक्खा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम शान्त और शृङ्गार रस को ले सकते है। इन दोनो का अविरोधी रस हो सकता है करुण। किन्तु यदि हम इन दोनो के बीच करुण न रखकर वीभत्स रस की योजना कर दें तो इस प्रकार का विरोध नैरन्तर विरोध कहा जाएगा।

पारस्परिक विरोधी रस निम्नलिखित है—

शृङ्गार रस के विरोधी करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक और शान्त है।
हास्य रस के विरोधी भयानक और करुण हैं।
रौद्र के विरोधी हास्य शृङ्गार और भयानक है।
भयानक के विरोधी शृङ्गार, हास्य, वीर, रौद्र और शान्त है।
शान्त के विरोधी रौद्र, शृङ्गार, हास्य, भयानक और वीर हैं।
वीभत्स का विरोधी शृङ्गार है।
वीर रस के विरोधी भयानक और शान्त है।

जहाँ पर दो विरोधी रसो के विभावादि का वर्णन होता है वहाँ पर रस दोष आ जाता है।

"विरोधीरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रह।" —ध्वन्यालोक ३।१८, पृ० १६१

इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी लिखा है—

"परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादे. परिग्रह ।"—साहित्यदर्पण ७।१३

रसों के पारस्परिक विरोध का परिहार—रस विरोध का परिहार कई रूपो में किया जा सकता है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्यकल्पद्रुम के प्रथम भाग में पृ० ३८२ पर उदाहरण सहित रस विरोध के परिहार की निम्नलिखित स्थितियाँ बताई हैं।

१ जिन रसो में एक आलम्बन विरोध होता है उन रसो के पृथक् आलम्बन रखने से विरोध नही रहता है। जैसे—

"निरखत सिय मुखकमल छवि रघुबर बारहिंबार।
निसिचर दल कलकल सुनत, बाँधत जटा सँभार॥"

यहाँ आश्रय तो राम ही हैं पर शृङ्गार की आलम्बन सीता और वीर रस के आलम्बन राक्षस हैं। अत विरोध नही रहा।

२ एक आश्रय में जिन रसो में विरोध होता है उनमें आश्रय-भेद कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

"धनुष चढावत तोहि लखि सनमुख रन-भुविमाय।
मृगगन जिमि मृगराज ढिग अरि जन जाहि पलाय॥"

यहाँ वीर और भयानक दोनो का आलम्बन तो राजा ही है किन्तु वीर के स्थायी भाव उत्साह का आश्रय राजा और वीभत्स के स्थायी भाव भय के आश्रय शत्रुगण हैं इस प्रकार आश्रय भेद के कारण विरोध नही है।

३ जहाँ नैरन्तर का विरोध हो वहाँ वीच में कोई मित्र रस ले आने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

"आलिंगित सुरतियन सौं नभ-विमान थित वीर।
निरखत स्यारन सौं घिरे रन निज परे सरीर॥"

यहाँ प्रथम पक्ति में शृङ्गार रस और दूसरी पक्ति में वीभत्स रस है। ये दोनों विरोधी रस हैं, किन्तु इनके बीच में निश्शक प्राण त्यागने की ध्वनि निकलती है जिससे वीर रस का समावेश किया गया है। यह दोनों का विरोधी नही किन्तु उदासीन रस है।

रस विरोध के उपर्युक्त कथित तीन प्रमुख परिहारो के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार भी हैं। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाप्यविवक्षित
अंगिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्" (७।६५)

अर्थात् जहाँ विरोधी रस केवल स्मरण मात्र ही किया गया हो या जहाँ समता-पूर्वक वर्णन किया गया हो अथवा एक रस दूसरे रस के अग रूप में प्रयुक्त किया गया हो तो परस्पर विरोधी रस भी दोष नही कहलाते।

इन परिहारो के उदाहरण इस प्रकार हैं—

स्मर्यमाण विरोधी रस के कारण परिहार—

"है याद उस दिन की गिरा तुमने कही थी मधुमयी,
जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँद कर मैं रह गई।

यह करतल स्पर्शन प्रिये ! मुझसे न छिप सकता कहीं,
फिर इस समय क्या नाथ ! मेरे हाथ वे ही है नहीं ।।"

उत्तरा-विलाप की इन पक्तियो में करुण के साथ शृगार का पूर्वकालिक स्मरण-मात्र है।

साम्य विवक्षित होने के कारण परिहार—जहाँ उपमान उपमेय की समानता-पूर्वक वर्णन की इच्छा से विरोधी रस का प्रयोग किया जाय जैसे—

"भक्ति तिहारी यों बसै मो मन में श्रीराम,
बसै कामिजन हियनि ज्यों परम सुन्दरी वाम।"

दूसरे किसी रस या भाव के अग हो जाने से परिहार—किसी रस के अग रूप में प्रयुक्त किया गया विरोधी रस भी दोष नही कहलाता जैसे—

"आवतु है न बुलावतु हूँ भई आथिक हू मुख को न दिखावै
बातें अनेक रहस्यमयी सुनिके हूँ नहीं कछु बोलि सुनावै
पास गए हू न ह्वै समुही कर्त्तव्य-विमूढ भई दरसावै
भूपति तेरे रिपून की बाहिनी मानवती जुवती-सी लखावै ।।"

यहाँ राजा की वीरता की प्रशसा करते हुए शत्रु सेना की भयानक चेष्टाओ की मानिनी युवती से उपमा दी गई है। अत भयानक और शृगार दो विरोधी रस वर्णित हैं। इस दोष का परिहार भयानक के राजविषयक रति का अग हो जाने से हो जाता है।

विरोधी रस के बाधित हो जाने से परिहार—प्रधान रस की प्रबलता होने पर विरोधी रस प्रयुक्त होने पर बाधित हो जाता है।

"साँचहु विभव सुरम्य है रमनी हू रमनीय।
पै तरुनी-भगि लौं चल जीवन स्मरनीय।।"

इसमें शान्त और शृगार रस है किन्तु शृगार, शान्त द्वारा बाधित है।

रस सम्बन्धी काव्य दोषो की व्यापकता और उनके परिहार के उपाय

काव्य-दोष की सामान्य परिभाषा इस प्रकार है—"मुख्य अर्थ का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं।" काव्य दोष मुख्य रूप से तीन होते हैं—

(१) शब्द दोष ३७
(२) अर्थ दोष २३
(३) रस दोष १०

स्थूल रूप से रसदोष यद्यपि काव्य दोष का ही एक अग है किन्तु श्रेष्ठ काव्य को ध्यान में रखते हुए हम सभी काव्य दोषो को रस दोष ही कह सकते हैं। इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) काव्य का लक्ष्य होता है अलौकिक आनन्द की प्राप्ति। काव्य में रस की अवस्थिति होने पर ही इस आनन्द का अनुभव हो सकता है। काव्य में शब्दगत, अर्थगत या रसगत किसी भी प्रकार के दोष इस रसानुभूति में बाधक होते हैं। अत. सभी काव्य दोष रस दोष के अन्तर्गत आते हैं।

(२) भारतीय आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा माना है। विश्व-

नाथ ने तो काव्य की परिभाषा में रसपूर्ण वाक्य को ही काव्य कहा है—"वाक्य रसात्मक काव्य"। अत रस काव्य का अभिन्न अग होने के कारण काव्य का कोई भी विकार रस में भी विकार उत्पन्न कर देता है।

(३) भावनाओ की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से हो सकती है—

(क) अभिधामूलक शैली में

(ख) लक्षणामूलक शैली में

(ग) व्यजनामूलक शैली में

व्यजनात्मक या ध्वन्यात्मक काव्य ही श्रेष्ठ काव्य माना जाता है। ध्वन्यात्मक लाने के लिए काव्य के शब्दो में आलकारिक सौन्दर्य लाने की आवश्यकता नही होती। यह ध्वनि तो व्यजक शब्दो द्वारा अर्थगत सौन्दर्य में ही विकसित होती है और रस की धारा प्रवाहित होती है। यदि काव्य में शब्दगत या अर्थगत कोई भी दोष उपस्थित होगा तो रस का सचार भली भाँति न हो सकेगा। अत वे शब्द और अर्थदोष रसदोष ही कहे जायेंगे।

(४) रस सलक्ष्य क्रम व्यग ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद है। काव्यदोष ध्वनि को बाधित करनेवाले अर्थ दोष रस में भी अवश्य बाधा पहुँचायेंगे। रस को बाधित करने के कारण उन अर्थगत दोषों को भी रसदोष ही कहेंगे।

(५) काव्यदोष की उपर्युक्त परिभाषा में 'मुख्य-अर्थ' का तात्पर्य ध्वनि से है। शब्दो द्वारा काव्य में व्यञ्जनात्मकता लाई जाती है और व्यजनात्मकता के अर्थगत सौन्दर्य से ही मुख्य अर्थ या ध्वनि का बोध होता है। उस मुख्य अर्थ के अपकर्ष में सहायक कोई भी काव्यदोष उसकी ध्वनि या रस में भी अपकर्ष उत्पन्न करेंगे। अत. वे शब्द-अर्थगत दोष ही कहलायेंगे। तुलसी ने शब्द और अर्थ के अभिन्नत्व को "गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"—कहकर इसी बात को ध्वनित किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य दोषो और रस दोषो में कोई मौलिक अन्तर नही है।

रस के निम्नलिखित दस दोष माने गए हैं—

स्वशब्द वाच्य दोष, प्रतिकूल विभावादि दोष, क्लिष्ट कल्पना, अस्थान में रस की स्थिति, रस-विच्छेद, रस की पुन पुन दीप्ति, अगी को भूल जाना, अग को प्रधानता देना, प्रकृति-विपर्यय। कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जिसमें रस दोष का परिहार हो जाता है।

रस दोष के परिहार की अवस्थाएँ—इसके अन्तर्गत पूर्ववर्णित रस विरोध के परिहार में वर्णित सभी वर्णित अवस्थाएँ आयेंगी। इसका उल्लेख पहले कर चुके हैं।

रस और ध्वनि का सम्बन्ध

रस और ध्वनि के सम्बन्ध को समझने के लिए हमें रस-निष्पत्ति के सिद्धात और ध्वनि के सिद्धात पर अत्यन्त सक्षेप में विचार करना पडेगा। रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत का रससूत्र बहुत प्रसिद्ध है—

"विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्ति."—अर्थात् विभाव, अनुभाव और

व्यभिचारी से पुष्ट होकर स्थायी भाव इस दशा को प्राप्त होता है। भरत के इस रस-सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में रसगगाधर में लगभग ११ मतो का उल्लेख किया गया है। इनमें चार मत बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद।
(२) शकुक का अनुमितिवाद।
(३) भट्टनायक का भुक्तिवाद।
(४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

इनमें प्रथम तीन मत दोषपूर्ण है और पूर्वापूर्व आचार्यों द्वारा उनका खण्डन किया जा चुका है। अब सबसे अधिक प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' की है।

अभिनवगुप्त ने रस की अभिव्यक्ति काव्य के व्यजन व्यापार द्वारा मानी है। उनके मतानुसार साधक काव्य है, साध्य रस है, साधन व्यजना है और इतिकर्तव्यतारूप गुणालकार औचित्यादि का अन्वय होता है। व्यजना-वृत्ति ध्वनि सिद्धात का प्राण है। काव्य में व्यजक शब्द का व्यग्य अर्थ का बोध इसी व्यजनावृत्ति के सहारे ही होता है। इस वृत्ति को व्यजना का अभिधान इसलिए दिया गया है कि यह अभिधा और लक्षणा से अस्फुट अर्थों को स्फुट करती है। इस वृत्ति द्वारा जो अर्थ प्राप्त होता है उसे व्यग्यार्थ कहते हैं। इस व्यग्यार्थ को ध्वनिकारो ने ध्वनि की सज्ञा दी है—

"यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यक्तः काव्य विशेष स ध्वनिरिति सूरभि.कथितः।"

—ध्वन्यालोक १।१३

व्यग्यार्थ भी कही वाच्यार्थप्रधान होता है और कही गौण। जहाँ वह वाच्यार्थ से प्रधान होता है वही उसे ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यजना-वृत्ति से जिस व्यग्यार्थ का बोध होता है वही रस का कारण है। इस और ध्वनि में यही सम्बन्ध है। ध्वनिकार ने तो इसलिए रस को रस ध्वनि कहा है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस ध्वनि का ही एक अग है। ध्वनि के भेदो का उल्लेख करते हुए आचार्यों ने उसे स्थूल रूप से दो भेदो में बाँटा है—

(१) अभिधामूला (विवक्षित अन्यपदवाच्य-ध्वनि)
(२) लक्षणामूला (अविविक्षित वाच्य-ध्वनि)

अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद किए गए हैं। असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि और सलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि। असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि के अन्तर्गत ही रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति और भावशवलता आदि आठ भेद आते हैं।

रस को असलक्ष्यक्रम व्यग्य के अन्तर्गत इसलिए रखा गया है कि विभावादि द्वारा जो रस की अनुभूति होती है उसमें किसी प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता। पूर्वापर सम्बन्ध तो वहाँ भी होता है किन्तु वह क्रम "शत पत्र भेदन न्याय" के अनुसार प्रतीत नही होता।

सक्षेप में रस और ध्वनि का यही सम्बन्ध है।

रसों की सख्या—अलकारों के समान रसो की सख्या में भी समय-समय पर

विस्तार होता रहा है। रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत मुनि ने ,'नाटयशास्त्र' में शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स इन चार ही रसो का प्रमुख रूप से उल्लेख किया है। इन्ही से क्रमश: हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक रसो की उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार सब आठ रसों का वर्णन किया है—

"अष्टौ नाट्‌ये रसा स्मृता:"

—नाटयशास्त्र

इन आठ रसो का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"शृंगार हास्य करुण—रौद्रवीरभयानका
वीभत्साद्भुतसज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्‌ये रसा स्मृता"

—नाटयशास्त्र ६।१६

इन रसों के बाद 'शान्तोऽपि नवमो रस.' इत्यादि कहकर शान्त रस भी निरूपित किया है। वे शान्त रस से ही सब रसो की उत्पत्ति और उसी में उनका अवसान होना भी मानते हैं—

"स्व स्व निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव: प्रवर्तते
पुर्ननिमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते"

—नाटयशास्त्र ६।१०८

भक्ति रस को वे शान्त रस के अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार शान्त रस को नाटक में स्थान न देते हुए भी उसे सब रसो का उद्‌गम और अस्तस्थल कहा है।

'विक्रमोर्वशीय' और 'काव्यादर्श' में शान्त रस की चर्चा नही है, इनमें नाटयशास्त्र में वर्णित अन्य आठ रसों का ही निर्देश है। किन्तु बाद में 'उद्भट' ने और 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में नौ रस दिए हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि शान्त रस की अवतारणा सर्वप्रथम उद्भट ने ही की थी। नाटयशास्त्र में शान्त रस वाला अश उद्भट द्वारा ही जोडा गया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालकार' में प्रेयान् नामक दशम रस माना है। इसका स्थायी भाव स्नेह है। विश्वनाथ ने प्रेयान् के स्थान पर वात्सल्य को दशम रस कहा है।[1] महाराजा भोज ने बारह प्रकार के रसो की कल्पना की है। वे प्रेयान् उदात्त और उद्धत को भी रस मानते हैं—

"वीभत्सहास्य प्रेयांस. शांतोदात्तोद्‌धता रसा."

—सरस्वती कण्ठाभरण

रूप गोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती आदि ने भक्ति को स्वतन्त्र रस कहा है। भक्ति रस के समर्थक भक्ति रस में ही नवरसो की स्थिति निरुपित करते हैं। 'भागवत' में यह भक्ति रस भागवत रस के नाम से दिया गया है—

"निगमकल्पतरोर्गलित फल शुकमुखादमृतद्रवसयुतम्
पिवत् भागवत रसमालय मुहुरहो रसिका भुवि भावुका"

उज्ज्वल नीलमणि में भक्ति को उज्ज्वल रस तथा रसगगाधर में इसे भाव

---

१ 'स्फुट चमत्कारितया वत्सल च रस विदु' —साहित्यदर्पण

भयानक से वीभत्स और शान्त रसो को वे दोनो पक्षो में मानते हैं। शृङ्गार रस की प्रधानता को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

"तीनि मुख्य नव ही रसनि, द्वै द्वै प्रथमनि लीन,
प्रथम मुख्य तिनहून में, दोऊ तेहि आधीन।
हास, भाव, सिंगार रस, रुद्र, करुन रस वीर,
अद्‌भुत और वीभत्स सग, सातौ वरनत धीर॥"

—शब्दरसायन तृ० प्रकाश, पृ० ३१

इन पक्तियों में देव कवि ने तीन-तीन रसो को एक साथ रस मानकर प्रथम दो का तीसरे में लीन होना वताया है। इस प्रकार हास और भाव शृङ्गार में, रौद्र और करुण वीर में तथा अद्‌भुत और वीभत्स शान्त रस में लीन होते है। अत देव ने शृङ्गार, वीर और शान्त यह तीन प्रमुख रस कहे हैं। इन तीनो में भी वे शृङ्गार को मुख्य और अन्य दो को उसके अधीन मानते हैं।

'भवानी विलास' में भी देव कवि ने शृङ्गार को ही सव रसो का मूल मानते हुए लिखा है—

"भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल शृङ्गार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर सांत सचार॥" (१।१०)

देव कवि के समान रीतिकाल के अधिकाश कवियो ने शृगार रस को ही महत्त्व दिया है। मतिराम कवि की 'रसराज' नामक पुस्तक इसी उद्देश्य के हेतु रची गई है। आचार्य केशवदास ने भी अपनी 'रसिक प्रिया' में लिखा है—

"नव हू रस को भाव वह तिनको भिन्न विचार।
सवको केशवदास कहि, नायक है सिंगार॥"

इनके अतिरिक्त सुखदेव मिश्र, कवीन्द्र, दास, तोप, वेनी, पद्माकर आदि कवियो ने भी शृ गार रस को सर्वाधिक महत्त्व दिया है—

'स्याम वरण व्रजराज पति, थाई है रतिभाव।
ताहि कहत सिंगार है, सकल रसन को राव॥"

—वेनीप्रवीन, नवरसतरग

कवि पद्माकर 'जगद्विनोद' में लिखते हैं—

"नवरस में सिंगार रस, सिरे कहत सव कोइ"

शृगार का रसराजत्व—शृ गार रस को अधिकांश आचार्यों ने रसराजत्व की उपाधि दी है। इसका सर्वप्रमुख कारण है शृ गार-भावना की व्यापकता। शृगार का स्थायी भाव रति है। रति प्रत्येक प्राणी की शाश्वत भावना है। आचार्य रुद्रट ने एक स्थल पर लिखा है—

"अनुसरति रसाना रस्यतास्य नान्य सकलमिदमनेन व्याप्तवातवृद्धम्
तदिति विरचनीय सम्यगेव प्रयत्नात् भवति विरसमेवानेन हीनहि काव्यम्"

—काव्यालकार

अर्थात् शृगार रस की स्थिति आवाल-वृद्ध में रहती है। इसके समान सरस रस

अन्य कोई नही है। काव्य में इस रस का सम्यक् निरूपण होना चाहिए क्योकि रहित काव्य नीरस हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने भी अपनी 'अभिनवभारती' में 'तत्र कामस्य सकल जाति सुलभतया ...' इत्यादि शब्दो में शृगार भावना को जाति सुलभ सामान्य भाव कहा है। यह प्रत्येक काल और जाति में नित्य रूप से विद्यमान रहा है इसीलिए इसे आदि रस भी कहा गया है। काव्य मानव-भावनाओ का वर्णमय चित्र होता है अत मानव की प्रधान भावना को भी शृगार रस के नाम से प्रधान रूप दिया गया है।

शृगार रस की सरसता और कमनीयता ने भी उसे आकर्षत्व प्रदान किया है। यही कारण है कि साहित्य के किसी भी युग के लेखक और कवि अपनी रचना में शृगार रस का त्याग नही कर सके हैं। शृगार रस-प्रधान ग्रन्थो की सख्या अन्य रसो की अपेक्षा अधिक है। अन्य किसी रस को जहां कही प्रधानता भी दी गई है वहां भी लेखक शृगार की उपेक्षा नही कर सके। देवराज गुरु, दाम्पत्य और वात्सल्य में से किसी-न-किसी रूप में रति-भावना का विस्तार देखा जाता है।

शृगार रस के भेदो और उसके भाव, अनुभाव और सचारी आदि का जितना विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन लक्षण ग्रन्थो में किया गया है उतना अन्य किसी रस का नहीं किया गया। इसका कारण भी यही है कि शृगार रस में जितना लेखकों का मन रमा है उतना अन्य रसो में नही। अन्य रसो को तो अधिकाश विद्वानों ने शृगार के अधीन कहकर एक मात्र शृगार रस ही माना है। कवि कर्णपूर ने 'अलकार कौस्तुभ' में कहा है—

"उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमखण्डरसत्वत
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरगा इववारिधौ।"

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र में तरगें उन्मीलित होती हैं उसी प्रकार प्रेम में अन्य सभी रसो का उन्मीलन होता है।

शृगार के अन्तर्गत सभी सचारी भावो का निदर्शन हो जाता है। अन्य रसो में सभी सचारियो का प्रयोग नही किया जा सकता। आलस्य, जुगुप्सा, मरण आदि जो सचारी भाव सयोग शृगार में वर्जित है वे वियोग शृगार में वर्णित किए जा सकते हैं। देव कवि ने शृगार को रूप अनन्त कहा है। पक्षी जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं पा सकते उसी प्रकार अन्य रस भी उसकी अनन्तता तक नही पहुँच सकते—

"विमल सुद्ध सिंगार-रस, देव अकास अनन्त।
उडि उड़ि खग ज्यों और रस बिबस न पावत अन्त॥"

हिन्दी के रीतिकालीन कवि बेनी प्रवीन ने शृगार की रसराजता का एक दूसरा ही कारण कल्पित किया है। शृगार का रग श्याम वर्ण का माना गया है। यही वर्ण उनके काव्यालम्बन रसिक कृष्ण का भी है। रति जैसा मधुर भाव इसका स्थायी भाव है इसीलिए वे शृगार को प्रधानता देते हुए लिखते हैं—

"स्याम बरण ब्रजराजपति, थाई है रतिभाव।
ताहि कहत सिंगार है, सकल रसन को राज॥" —नवरसतरग

शृङ्गार का शास्त्रीय रूप

आचार्यों ने शृंगार का श्याम वर्ण माना है। विष्णु इसके देवता हैं—'श्याम-वर्णो विष्णुदैवतोऽयं शृङ्गार'

स्थायी भाव—शृंगार का स्थायी भाव रति है। साहित्य-दर्पण में रति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनस प्रवणायितम्' अर्थात् मनोऽनुकूल-वस्तु के प्रति प्रमाद होने को रति कहते हैं।

आलम्बन विभाव—(नायिका और नायक) इस रस की नायिका प्रौढा और प्रेम-शून्य वेश्या के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की हो सकती हैं। नायिका के निम्नलिखित भेद रसतरङ्गिणी में दिए हुए हैं—
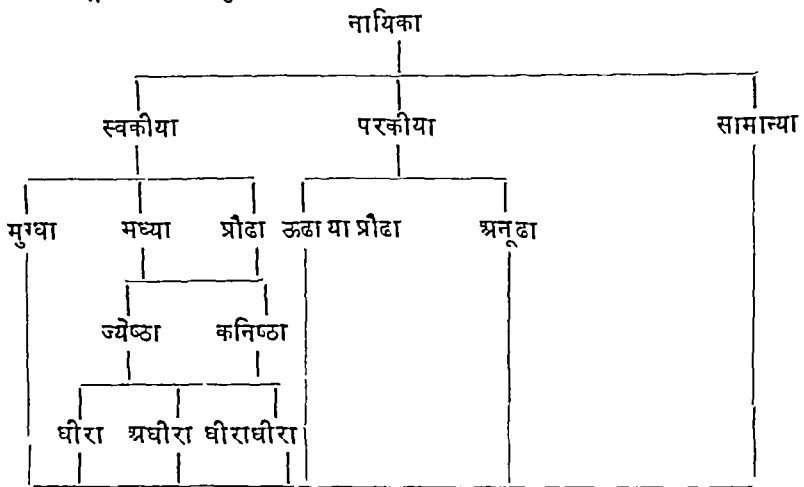
स्वकीया (पतिव्रता) नायिका तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रौढा। अकुरित यौवना नायिका को मुग्धा कहा गया है। मध्या में लज्जा और काम का सम्मिश्रण रहता है। प्रौढा नायिका में लज्जा नहीं रहती वह अन्यासक्त नायक को कठोर वाक्य कहती है। मध्या और प्रौढा नायिकाएँ दो प्रकार की होती हैं। ज्येष्ठा—जिसके प्रति पति का प्रेम अधिक होता है, दूसरी कनिष्ठा—इस पर प्रेम कम होता है। मध्या ज्येष्ठा और कनिष्ठा तथा प्रौढा ज्येष्ठा और कनिष्ठा तीन-तीन प्रकार की होती हैं। धीरा, अधीरा और धीराधीरा। मध्या धीरा नायिका अन्यासक्त नायक पर परिहास के व्याज से रोष करती है, किन्तु अधीरा नायिका रुदन द्वारा और धीराधीरा

वक्रोक्ति द्वारा नायक को दुखित कर कोप करती है। प्रौढा धीरा नायिका ऐसे नायक का वहिरूप से तो आदर करती है किन्तु अन्दर से कुपित रहती है। अधीरा प्रौढा अन्यासक्त नायक का ताडन करती है और धीराधीरा वक्रोक्ति द्वारा उसे लज्जित करती है। परकीया (प्रेमिका) नायिका दो प्रकार की होती है। ऊढा (प्रौढा) और अनूढा। ऊढा वह है जो अन्य पुरुष से विवाहित होती है। अनूढा अविवाहित होती है। सामान्या प्रेमयुक्त वेश्या होती है।

अवस्थानुसार किया गया नायिका-भेद इस प्रकार है—

१ प्रोपित पतिका—जिसका नायक परदेश चला गया हो।
२ खण्डिता—परासक्त नायक को देख ईर्ष्या मे युक्त।
३ कलहान्तरिता—नायक से कलह कर पश्चात्ताप करनेवाली।
४ विप्रलब्धा—सकेत स्थान पर नायक के न आने से अपमानित।
५ उत्का—नायक के न आने से चिन्तित।
६ वासकसज्जा—नायक के आने से पूर्व शृङ्गार करनेवाली।
७ स्वाधीनपतिका—अपने गुणो से नायक को अधीन करनेवाली।
८ अभिसारिका—सकेत स्थल पर जानेवाली नायिका।

प्रकृति के अनुसार नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—

उत्तमा—अन्यासक्त नायक का भी हित चाहनेवाली।
मध्यमा—नायक के अनुसार हित-अहित करनेवाली।
अधमा—नायक द्वारा हित करने पर भी उसका अहित करनेवाली।

स्वभावानुसार नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—

अन्य सम्भोगदुखिता—नायक के साथ प्रेम करनेवाली अन्य नायिका को देख दुखित होनेवाली।
वक्रोक्तिगर्विता—स्वरूप और नायक के प्रेम पर गर्व करनेवाली।
मानवती—अन्यासक्त नायक पर कोप करनेवाली।

मुग्धा अवस्थानुसार चार प्रकार की होती हैं—

ज्ञातयौवना।
अज्ञातयौवना।
नवोढा।
विश्रब्ध नवोढा।

प्रौढा नायिका के क्रियानुसार दो भेद हैं—

रतिप्रिया।
आनन्दसम्मोहिता।

परकीया के क्रियानुसार छ भेद हैं—

गुप्ता—अपने प्रेम को छिपानेवाली।
विदग्धा—चातुरी से नायक को सकेत करनेवाली।
लक्षिता—जिसका प्रेम सखियो पर प्रगट हो गया हो।

अनुशयाना—संकेत स्थान पर जानेवाली।
कुलटा—कई पुरुषों से प्रेम करनेवाली।
मुदिता—इच्छित बातों पर मुग्ध होनेवाली।

अनुशयाना परकीया तीन प्रकार की होती है—
संकेत विघट्टना—संकेत स्थान के नष्ट होने से दुखित।
भावीसंकेत विघट्टना—भावी स्थान की चिन्ता करनेवाली।
रमणगना—संकेत स्थल पर कारणवश न पहुँचनेवाली।

नायक के भेद—नायक तीन प्रकार के होते हैं—
पति—
उपपति—अन्यासक्त नायक।
वैशेषिक—व्यभिचारी नायक।

पति चार प्रकार के होते हैं—
अनुकूल—पत्नी पर अनुरक्त।
दक्षिण—कई नायिकाओं पर समान रूप से अनुरक्त।
धृष्ट—अपराधी और तिरस्कृत होने पर भी विनय करनेवाला।
शठ—अपराधी चतुर नायक।

उद्दीपन विभाव—शृङ्गार के उद्दीपन विभाव नायिका की सखी नायक के सखा और दूती, देश-काल आदि हैं। सखी की शिक्षा, परिहास, उपालम्भ आदि से रति-भावना उद्दीप्त होती है। सखा चार प्रकार के होते हैं—

पीठमर्द, विट, चेट, विदूषक। दूती भी चार प्रकार की होती है—उत्तमा, मध्यमा, अधमा और स्वयंदूतिका।

इनके अतिरिक्त वन, उपवन, ऋतु, पुष्प, भ्रमर, कोकिल आदि देश-काल सम्बन्धी वस्तुएँ भी उद्दीपन रूप में प्रयुक्त होती हैं।

अनुभाव—नायक नायिका की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ प्रतिक्रियाएँ और अवस्थाएँ शृङ्गार रस के अनुभाव होते हैं। जैसे भ्रूभंग, भुजाक्षेप, पारस्परिक अवलोकन, स्वेद, रोमाञ्च आदि। अनुभाव असंख्य होते हैं। स्त्रियों के २८ अलंकार भी अनुभाव ही हैं।

व्यभिचारी या संचारी भाव—जुगुप्सा, उग्रता, मरण को छोड़कर हर्ष, मोह, चिन्ता, लज्जा, उत्सुकता आदि सभी संचारी शृङ्गार रस के अन्तर्गत होते हैं। संयोग शृङ्गार में आनन्दोत्पादक संचारी का प्राचुर्य रहता है और वियोग शृङ्गार में करुणोत्पादक संचारियों की अधिकता रहती है।

शृङ्गार रस के भेद—शृङ्गार रस के प्रमुख दो भेद किए गए हैं—संयोग और वियोग।

'शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ। सम्भोगो विप्रलम्भश्च।'

—ध्वन्यालोक

संयोग और वियोग के भी अनेक अवान्तर विभेद हैं।

सम्भोग शृङ्गार

किसी कवि के सम्भोग शृगार का वर्णन करते समय किसी आलोचक को कौन-कौन सी बातो पर विचार करना चाहिए इस विषय पर प्राच्य या पाश्चात्य किसी आचार्य ने विशेष कुछ नहीं लिखा है। वास्तव में सम्भोग शृगार कामशास्त्र का विषय है। शृगारी कवियो ने प्राय. सम्भोग-शृगार का वर्णन करते समय कामशास्त्र के ग्रन्थों का ही अनुकरण किया है। अतएव यहाँ पर हम कामसूत्र के प्रकाश में ही शृगार की बातो पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

सम्भोग और कलाएँ—

हमारे यहाँ कामशास्त्र में काम-कलाओ का विस्तार से उल्लेख किया गया है। यह काम-कलाएँ चार प्रकार की होती है—

१ कर्माश्रित—नृत्य, सगीत, वाद्य, चित्रकला आदि २४ कलाएँ कर्माश्रित होती हैं।

२. द्यूताश्रित—कुछ कलाएँ ऐसी होती है जिनका सम्बन्ध द्यूत-क्रीडा से होता है। जैसे अक्षविद्या, नयज्ञान रूप, सख्या आदि। यह सख्या में २० है।

३ शयनोपचारिक—भावग्रहण, प्रत्यङ्गदान आदि १५ कलाएँ शयनोपचारिक नाम से अभिहित की जाती हैं।

४ उत्तर कलाएँ—इनके अन्तर्गत शापदान, तिरस्कार, शपथ करना, प्रस्थितानुगमन इत्यादि।

कलाओ के इन भेदो से स्पष्ट पता चलता है कि सयोगावस्था में नायक और नायिका कुछ निश्चित परिपाटियो का पालन करते थे। किसी कवि के संयोग, शृगार की आलोचना करते समय आलोचक को उस कवि की कृतियों में इन कलाओ की स्थिति का निर्देश करना चाहिए।

सयोग शृगार का आवश्यक वर्णनीय अग नायक और नायिका का सौन्दर्य-चित्रण भी होता है। अधिकतर नायिका के सौन्दर्य-वर्णन को ही महत्त्व दिया जाता है। नायिका के सौन्दर्य-वर्णन से साहित्य भरा पडा है। ज्योतिषशास्त्र और कामशास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ नायिका में निम्नलिखित स्थूल शारीरिक सौन्दर्य सवधी बत्तीस लक्षण होते हैं—१ नख—रक्त-वर्ण २ पादपृष्ठ—कछुए की पीठ जैसा ३ गुल्फ—गोलाकार ४ पैर की उंगली—अविरल ५ तलवा—लाल और शुभचिन्ह युक्त ६. जघा—गोल चढाव—उतारदार ७ जानु—सुडौल ८ उरू—अविरल ९ भग—पीपल पत्र जैसी १०. भग का मध्य भाग—गुप्त ११ पेढू—कूर्म पृष्ठवत् १२ नितम्ब—मासल १३ नाभि—गम्भीर १४ नाभि का ऊपरी भाग—त्रिवली युक्त १५ स्तन—गोल और कठोर १६ पेट मृदु—लोमरहित १७. ग्रीवा—कम्बुवत् १८ ओष्ठ—लाल १९ दाँत—कुदवत् २०. वाणी—मधुर २१ नासिका—सीधी २२ नेत्र—कजवत् २३ भौंह—धनुषवत् २४ ललाट—अर्धचन्द्रवत् २५ कर्ण—कोमल २६ केश—नीले सटकारे सुकुमार २७ शीश—सुडौल २८ कलाई—गोल कोमल २९ बाँह—सुडौल ३० मणिबध—नीचे को दबा हुआ ३१. हथेली—रक्तवर्ण ३२ हाथ की उंगली—पतली सुडौल। सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित ३२ लक्षण इन से भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं—१ छाता २ कमल ३. धनुष ४ रथ ५ वज्र ६ कछुआ

७. अकुश ८ वावली ९ स्वस्तिक १०. तोरण ११ वाण १२ सिंह १३ चक्र १४ शङ्ख १५ हाथी १६ समुद्र १७ कलश १८ मदिर १९ मछली २० यव २१ जुवा २२ स्तूप २३ कमडल २४ पर्वत २५ पर्वत २६ चमर २७ दर्पण २८ वृप २९ पताका ३० लक्ष्मी ३१ पुष्पमाला ३२ मोर।

इन वत्तीस लक्षणो के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र में नायिकाओ के अट्ठाईस अलकार भी गिनाए गए हैं। उनमें से तीन अगज, सात अयत्नज और अठारह स्वभावज होते हैं। इन्हें हम सूक्ष्म शारीरिक सौन्दर्य सम्बन्धी उपादान कह सकते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार है—

अजग—१ भाव—पवित्र हृदय में प्रथम बार काम-विकार को भाव कहते हैं। २ हाव—नेत्र भृुटी आदि से सभोग की अभिलाषा को प्रकट करनेवाले विकार हाव कहलाते हैं। ३ हेला—हावो का अत्यन्त स्फुट रूप को हेला कहते है।

अयत्नज—१ शोभा—रूप यौवनादि के उन्मेष से उदित हुआ सौन्दर्य। २ काति—विलासोद्‌भुत एक अनिवर्चनीय छवि। ३ दीप्ति—कान्ति का स्फुटतम रूप। ४ माधुर्य—सब प्रकार से मधुर लगने वाली रूप सवधी विशेषता। ५ प्रगल्भता—रूप-यौवनजनित निर्भयता। ६ औदार्य—रूप यौवनाद्‌भुत विनय-भाव। ७ धैर्य—आत्मविश्वासजनित गम्भीरता।

स्वभावज—१ स्नेहाधिक्य से प्रियतम की वेशभूषा प्रेमालाप आदि का अनुकरण करना। २ विलास—प्रियतम को देखकर सहसा उत्पन्न होने वाली आकृष्टकारक कामोद्दीपक विशेषता। ३ विच्छित्ति—रूप को वढाने वाला हलका शृ गार। ४ विव्वोक—रूप यौवनजनित गर्व के कारण प्रिय का अनादर करने का भाव। ५ किलकिंचित्—अतिप्रिय व्यक्ति के सहसा मिलन से उद्‌भूत हर्ष-विषाद-त्रास आदि से मिश्रित एक विचित्र भाव। ६ मोट्टायित—प्रियतम की कथा सुन उत्पन्न होनेवाला प्रेम लज्जा और उपेक्षा मिश्रित एक विचित्र भाव। ७ कुट्टमित—प्रियतम द्वारा केश, स्तन, आँचल आदि पकडने पर आन्तरिक हर्ष और घवराहट मिश्रित एक विचित्र भाव का उदय। ८ विभ्रम—प्रियतम के आगमन से प्रसन्न होकर तथा घवडाकर आभूपणो को उलट फेर करके पहन लेना विभ्रम कहलाता है। ९ ललित—अगो को सुकुमारता से सचालित करना। १० मद—सौभाग्य रूप यौवनादिजनित गर्व से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का काममय अनुभाव। ११ विहृत—लज्जा के कारण कहने के समय भी कुछ न कह सकना। १२ तपन—प्रियतम के वियोग में कामजनित सतापपूर्ण अनुभूति। १३ मौग्ध्य—जानी हुई वात को भी अनजाने की भाँति पूछना। १४ विक्षेप—प्रियसामीप्य से उद्‌भूत हर्ष और घवराहट के भावो से प्रेरित होकर इधर-उधर देखना तथा कुछ रहस्यमय वातें करना। १५ कुतूहल—चित्ताकर्षक वस्तु या व्यक्ति को देखने के लिए आतुर होना। १६ हसित—यौवनजनित अकारण हास्य। १७ चकित—प्रिय के आगे अकारण डरना या घवराना। १८ केलि—प्रियतम की कामिनी से काम-क्रीडा।

सौन्दर्य के इन लक्षणो के होते हुए भी नायिका के लिए शृगार करना आवश्यक

होता है। शृंगार सोलह माने गए हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

उवटन, वस्त्र, ललाट पर बिंदी, बाल की चोटी, कान में कुण्डल, नाक में मोती की नथिया, हार, केसर का अनुलेपन, अँगिया, पान, कमर में करधनी, हाथ में कंगन या चूडी, अन्य रत्नजटित आभूषण आदि।

कामसूत्र में विलासी नागरिक की दिनचर्या का विस्तार से उल्लेख किया गया है। यह दिनचर्या भी संयोग शृंगार में वर्णनीय होती है। आलोचक को चाहिए कि शृंगार रस के आलम्बन रूप नायक और नायिका की दिनचर्या का विश्लेषण करे। बहुत से कवियों ने विशेष करके रीतिकालीन कवियों ने नायक और नायिका की दिनचर्या पर लम्बे-चौडे ग्रन्थ लिखे हैं।

संयोग शृंगार का वर्णन करते समय हमें नायिका-भेद पर भी विचार करना पडता है। साहित्यशास्त्र में नायिका भेद के अतिरिक्त कवियों ने कामशास्त्र में वर्णित नायिका-भेद का भी अनुसरण किया है। कामशास्त्र में चार प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख है—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखनी और हस्तिनी। साहित्य में कवियों ने अधिकतर पद्मिनी नारी का ही उल्लेख किया है। रति-रहस्य में पद्मिनी के निम्नलिखित लक्षण दिए हैं—

"भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्र रन्ध्रा
अविरल कुच युग्मा दीर्घ केशी कृशाङ्गी
मृदु वचन सुशीला नृत्य गीतानुरक्ता
सकल सुतनुवेशा पद्मिनी पद्मगधा।"

अर्थात् पद्मगंधवाली पद्मिनी के नेत्र कमल सदृश, नासिका-छिद्र छोटे, युगल-कुच अविरल, केश दीर्घ और शेष अंग दुबला होता है। वह सुशीला नायिका मधुर वचन बोलने वाली नृत्य-गीतादि में अनुरक्त और सुडौल शरीर वाली होती है। कामशास्त्र में भी लगभग इसी प्रकार का वर्णन मिलता है—

"पद्मिनी नारी कमनीय वदन वाली नवनीत या कमलदल के समान कोमल होती है। इसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर और नेत्र हरिणी के शावक के समान चपल होते हैं। इसके शरीर से पद्मपराग की सुगन्ध आती है। नेत्रों के कोरों में लालिमा छाई रहती है। उन्नत कुच विल्वफल के समान मनोहर और आकर्षक होते हैं। नासिका तिल के पुष्प के समान मृदु और सुघर होती है। वह धार्मिक वार्तों में रुचि रखती है। इसका शरीर चम्पा के समान गौर वर्ण होता है। राजहंसिनी की तरह इसकी गति होती है। हंसिनी के सदृश मधुर वाणी बोलती है। यह लज्जाशीला और मानिनी भी होती है। पति का आदर करती है और लक्ष्मी रूपा होती है।

पद्मिनी के बाद चित्रिणी जाति की नारी श्रेष्ठ होती है। वह तन्वंगी, गज-गामिनी, चपल दृग, संगीत शिल्पान्विता होती है। वह आकार में न बहुत छोटी होती है न बडी। उसकी कटि क्षीण होती है। मयूर के सदृश उसकी बोली होती है। श्रेणी और पयोधर पीन होते हैं। बिम्बाफल के सदृश होठ होते हैं। चित्र, वस्त्र, माला, भूषण आदि शृंगार के बनाने में सदैव लगी रहती है। प्रणयोपचारों की अनुरागिनी होती है इत्यादि।

शखिनी जाति की स्त्री इन दोनो का अपेक्षा हेय होती है। वह मोटी या पतली होती है। बाँहे लम्वी, सिर छोटा, पैर वडे होते है। छोटे स्तन होते हैं। लाल पुष्पो के समान वस्त्रो की इच्छा रखती है। पित्त प्रकृति की होती है। कर्कश स्वर बोलती है। इसकी नासिका कुछ उन्नत होती है। यह व्यभिचार में मन रखती है।

हस्तिनी नायिका इन सब में निकृष्ट होती है। वह बुरे ढग से चलने वाली होती है। पैर मोटी-मोटी उँगलियो से समन्वित होते हैं। आकार में गोलमटोल होते हैं। उसके शरीर से हाथी के मद के सदृश दुर्गन्ध आती है। ओठ चचल और बडे होते हैं। आँखें पिंगल वर्ण की होती हैं। विलास और व्यभिचार में अनुराग रखती है।

सयोग मे प्रणय-लीला

सयोग शृगार में प्रणय-लीला को विशेष महत्त्व दिया गया है। अगरेजी में इस प्रणय-लीला को कोर्टशिप (Courtship) कहते हैं। कामशास्त्र में भी तथा भरत मुनि ने भी आठ प्रणयोपचार वतलाए हैं—

"आश्लेषचुम्बननखक्षत ताडनानिस मर्दन प्रासरण खलु शिक्षितानि
जिह्वाप्रवेशरसनाग्रहणतुनाभी क्षोभं रत वदति वाह्यरतानि तज्ज्ञ ॥"

अर्थात् आलिगन, चुम्वन, नखक्षत, प्रहणन, मर्दन, प्रसरण, जिह्वा-प्रवेश, रसना-ग्रहण एव नाभि का क्षोभ करना वाह्य रतोपचार कहे गए हैं।

वात्स्यायन ने दस प्रकार के रतोपचार माने हैं। वे भरतमुनि से थोडे भिन्न हैं। वे क्रमश इस प्रकार हैं—आलिगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तदशन, आसन, प्रहणन, सीत्कार, पुरुपायित, उपरिष्ठक, उपसृप्तक। इनके भी अनेक भेदोपभेद बताए गए हैं। शृगारी कवियो ने स्थान-स्थान पर इन विविध प्रकार के रतोपचारो और विविध काम-कलाओ का अपनी रचना में समावेश किया है। आलोचक को चाहिए कि आलोचना करते समय उन सब पर प्रकाश डालें। इन शारीरिक रतोपचारो के अतिरिक्त प्रणय-लीला के अन्तर्गत कुछ वाह्य उपचार भी आते हैं। इनका उल्लेख कामसूत्र में गान्धर्व-विवाह शीर्षक पराग में किया गया है। आलोचक को चाहिए कि वह इन सबका अध्ययन कर शृगारी कवि के सयोग शृगार का विश्लेपण करते समय उनका सकेत करे। यहाँ पर विस्तार-भय से उन तमाम वातो का उल्लेख नही किया जा रहा हैं। प्रणयोपचारो के सहायक भूत पात्र दूत और दूती होते हैं। सयोग शृगार के अन्तर्गत इन दूत-दूतियो पर भी विचार करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमारी समझ में किसी कवि के सयोग शृगार की आलोचना करते समय आलोचक को निम्नलिखित वातो पर प्रकाश डालना चाहिए—

१. नायक और नायिका का रति स्वरूप।

२ नायक और नायिका का सौन्दर्य-चित्रण—(इसी के अन्तर्गत नायिका के २८ अलकार, ३२ लक्षण और १६ शृगार आएँगे तथा नायक के १० रूपक और नाट्यशास्त्र में वर्णित १० लक्षण आएँगे।)

३ नायक और नायिका का शास्त्रीय रूप (इसके अन्तर्गत नायिका के साहित्यिक और कामशास्त्रीय दोनो रूपो का सकेत किया जाएगा।

४ मानसिक प्रणयोपचार ।

५ कर्माश्रित प्रणयोपचार (इनके अन्तर्गत कर्माश्रित २४ कलाओ का प्रणय के सहारे जो विकास होता है उसका निर्देश किया जायगा)।

६ सामाजिक प्रणयोपचार (इसके अन्तर्गत कामशास्त्र में वर्णित द्यूताश्रित कलाएँ आयेंगी)।

७ शाब्दिक प्रणयोपचार (इसके अन्तर्गत नायक और नायिका के मधुर सलाप और वाग्वैदग्वय आदि आयेंगे)।

८ आगिक रतोपचार (इसके अन्तर्गत कामशास्त्र में वर्णित शयनोपचारिक कलायें आयेंगी तथा भरत मुनि द्वारा निर्देशित आठ प्रणयोपचार या वात्स्यायन वाले दस प्रणयोपचार इसी के अन्तर्गत आयेंगे)।

९ सयोग वृत्ति के उद्दीपन में प्रकृति का हाथ ।

१० सयोग में मान और मानमूलक विरह ।

विरह-पक्ष—शृगार का विरह-पक्ष अत्यधिक मार्मिक होता है। आलोचक का कर्तव्य है कि वह किसी भी कवि-कृत विरह की सहृदयता से उद्घाटन करे। इसके लिए उसे निम्नलिखित बातों पर विचार करना होगा।

विरह-वर्णन के स्थल—प्राय देखा जाता है कि एक ही कवि एक ही रचना में कई पात्रो का कई प्रकार से कई स्थलो पर विरह-वर्णन प्रस्तुत करता है। आलोचक को चाहिए कि उन सबका अध्ययन कर उनका पात्रानुकूल वर्गीकरण कर, आवश्यकतानुसार उस पर विचार करे। ऐसा करने से एक ओर तो विवेचन की वैज्ञानिकता बनी रहेगी और दूसरी ओर दो पात्रो का विरह-वर्णन एक में नही मिलने पावेगा।

विरह-वर्णन पर पडे हुए प्रभाव—प्रत्येक कवि का विरह-वर्णन अपनी कुछ अलग विशेषताएँ रखता है। वे विशेषताएँ प्रभावो के अनुरूप हुआ करती है। उदाहरण के लिए हम जायसी को ले सकते हैं। जायसी पर सूफी-साधना का पर्याप्त प्रभाव था। उसके विरह-वर्णन की आत्मा सूफी-साधना के प्रकाश में ही प्रकाशित हो सकती है। अत आलोचक के कवि पर पडे हुए प्रभावो पर विशेष ध्यान रखना पडेगा।

विरह-वर्णन का शास्त्रीय पक्ष—विरह की मार्मिकता का उद्घाटन करते समय विरह के शास्त्रीय पक्ष का स्पष्टीकरण नितान्त आवश्यक होता है। शास्त्र में विरह पाँच प्रकार का माना गया है—

१ अभिलाषामूलक ।

२ विरहमूलक ।

३ ईर्ष्यामूलक ।

४ प्रवासमूलक ।

५ शापमूलक ।

आलोचक का कर्तव्य है कि विवेच्य विरह की प्रकृति ढूँढ निकाले और उसके उपयुक्त शास्त्रीय बधन में बाँधकर प्रस्तुत करे। शास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत विरही नायक और नायिका के शास्त्रीय प्रकारो का भी उल्लेख करना होगा। भारतीय साहित्यशास्त्र में

अधिकतर नायिका ही विरहमयी चित्रित की जाती है। इसीलिए विरह की दृष्टि के प्रोषित पतिका, प्रवत्स्य पतिका आदि विभाग किए गए हैं। आलोचक को चाहिए कि वह विरही नायिका के रूप और प्रकार को ढूँढ निकाले।

विरह का शारीरिक पक्ष – विरह का शारीरिक प्रभाव शरीर पर भी बहुत बुरा पडता है। किन्तु भारतीय काव्य शास्त्र में विरह के शारीरिक पक्ष पर विशेष बल नही दिया गया है। उसका कारण यह है कि यहाँ की नायिका मर्यादा और लज्जा के कारण अपने विरह के शारीरिक पक्ष को व्यक्त नही होने देती है। किन्तु मुसलमानी साहित्य के प्रभाव से मध्यकालीन नायिकाओ में विरह के शारीरिक पक्ष का चित्रण भी किया गया है। विरह के शारीरिक पक्ष की अभिव्यक्ति कई रूपो में होती देखी जाती है—

१ सात्विको के रूप में।

२ अन्य अनुभावो के रूप में।

३ शारीरिक दुर्बलताओ आदि के रूप में।

सात्विक भाव आठ होते है। वे क्रमश इस प्रकार हैं—

"स्तम्भप्रलयरोमाञ्चास्वेदो वैवर्ण्य वेपथु।
अश्रु वैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता।
प्रलयो नष्ट सज्ञत्व शेषा सुव्यक्तलक्षणा।"

अर्थात् स्तम्भ, प्रलय, रोमाच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा वैस्वर्य आदि यह आठ सात्विक भाव होते हैं। स्तम्भ शरीर के क्रियाशून्य हो जाने को कहते हैं। प्रलय सज्ञाशून्यता को कहते हैं। शेष के लक्षण स्पष्ट ही हैं। इनमें से कुछ सात्विक की अभिव्यक्ति सयोग में भी हो सकती है, किन्तु अधिकतर इनका विधान वियोग में ही किया गया है

विरह में शरीर की दशा कुदशा हो जाती है। शरीर सूख जाता है, रग पीला पड जाता है। ठडी आहे आती हैं। आलोचक को चाहिये कि कवि-कृत विरह में पात्र के विरह के शारीरिक पक्ष का खोजपूर्ण उद्घाटन करे।

मानसिक पक्ष—भारतीय काव्य शास्त्र में विरह के मानसिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया गया है। विरह की दस दशाएँ अधिकतर मानसिक ही हैं। दशरूपककार ने उनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुणमयन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) सज्वर, (९) जडता, और (१०) मरण।

फारसी काव्यशास्त्र में भी विरह की अवस्थाओ का सकेत किया गया है, किन्तु वे दस न होकर केवल नौ ही हैं। उनमें तीन शारीरिक पक्ष से सम्बन्धित हैं, तीन मानसिक और तीन व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। वे नवो इस प्रकार हैं—

(१) ठडी सांसें लेना (आहे सर्दो)।

(२) रग का पीला पड जाना (रगे जर्दो)।

(३) आँसुओ का बहना (चश्मेतर)।
(४) प्रतीक्षा करना (इन्तिजारी)।
(५) व्याकुल होना (बेकरारी)।
(६) अशान्त और धैर्यहीन होना (बेसबर)।
(७) अल्पाहारी होना (कमखुर्दनो)।
(८) बहुत कम बोलना (कम गुफ्तगो)।
(९) नीद न आना (नींदे हराम)।

विरह का व्यावहारिक पक्ष—विरह-वर्णन में कवि लोग जीवन के व्यवहार पक्ष की अस्तव्यस्तता भी व्यजित करते रहे हैं। नायिका जीवन की तो सभी करती है, किन्तु उसका रूप ही कुछ और होता है और उनके करने की मानसिक स्थिति ही कुछ और होती है। साकेत की उर्मिला बेचारी भोजन बनाती है किन्तु वह सब उसे व्यर्थ मालूम होते हैं—

"सखि मुझे यही है रोना
किसे खिलाऊँ अलोना सलोना।"

कहने का अभिप्राय यह है कि कवि का कर्तव्य है कि विरही की चर्चा का भी निरीक्षण करे।

विरह और प्रकृति—प्रकृति मानव-जीवन की चिरसगिनी है। फिर भला विरह में वह मानव का साथ कैसे छोड सकती है। अत विरह-वर्णन में आलोचक के प्रकृति-पक्ष का उद्घाटन भी करना चाहिए। विरह में प्रकृति का चित्रण प्राय तीन प्रकार का होता है—

१. आलम्बन रूप में।
२ उद्दीपन रूप में।
३ पृष्ठभूमि के रूप में।

सदेश पक्ष—सदेश पक्ष विरह का बडा ही मार्मिक पक्ष होता है। यही कारण है कि केवल इसी पक्ष को लेकर कवियो ने सुन्दरतम काव्यों की रचना की है। 'मेघदूत', 'पवनदूत' आदि इसी का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्राय सभी कही कवियो ने किसी-न-किसी रूप में विरह-वर्णन में सदेश अवश्य भेजा है। आलोचकों को उस सदेश की मार्मिकता का उद्घाटन करना चाहिए।

वर्णनकर्त्ता—विरह का वर्णन काव्यों में कवि लोग या तो स्वय करते हैं या किसी पात्र द्वारा कराते हैं। पात्र द्वारा विरह-वर्णन कराना अपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्कर होता है। इसमे शैली में अभिनयात्मकता आ जाती है।

विरह और देश-काल—विरह की अवस्था में देश-काल में परिवर्तन आ जाते हैं। कवि लोग उनका भी वर्णन करते हैं। जो देश सयोग में अमरावती-सा लगता है, विरह में वही किस प्रकार मरुभूमि में बदल जाता है। जो तीज, त्यौहार हर्ष-समुद्र उँडेलते थे वे अब विरह-विष बरसाते हैं। बारहमासा भी इसी के अन्तर्गत है। हिन्दी साहित्य में बारहमासा का विधान बडा ही महत्त्वपूर्ण है। कवि विरह की बारहो महीनो की मार्मिकता का वर्णन कर वेदना की अनिर्वचनीयता व्यजित करता दिखा है।

आलोचक का कर्तव्य है कि विरह बारहमासा वर्णन के रहस्य और उसकी मार्मिकता का विवेचन अवश्य करे।

विरह-वर्णन की शैलियाँ—कवि लोग विरह-वर्णन प्राय दो प्रकार की शैलियो में करते हैं—

(१) ऊहात्मक।

(२) सवेदनात्मक।

आचार्य शुक्ल ने ऊहात्मक शैली के भी तीन रूप बतलाए हैं—

(१) ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि प्रौढोक्ति सिद्ध।

(२) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वत सम्भवी। और किसी प्रकार की कल्पना नही की गई है।

(३) ऊहा की आधारभूत वस्तु तो सत्य हो किन्तु उसके हेतु की कल्पना की गई है।

सवेदनात्मक शैली भी दो प्रकार की हो सकती है—

(१) वस्तु रूप में

(२) अलकार रूप में

वस्तु रूप में कवि लोग विरह का वर्णन सहानुभूति का पुट देकर इस प्रकार करते हैं कि विरह की मार्मिकता प्रकट हो जाती है। अलकार रूप में प्राय उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग किया जाता है जिससे ऊहा की असत्यता नष्ट हो जाती है और वह सवेदना की सीमा तक पहुँच जाती है।

अन्त में समस्त विरह-वर्णन की व्याख्या करना उसकी प्रमुख विशेषताओ पर प्रकाश डालना चाहिए। प्रत्येक प्रकार का विरह वर्णन कुछ अपनी मौलिक विशेषताएँ रखता है। उनकी खोज कर उनका निर्देश किया जाना चाहिए।

करुण रस

शास्त्रीय रूप—प्रिय-वियोग, बन्धु-विनाश, निराशा, धर्माघात-द्रव्य, नाश आदि अनिष्टो से करुण रस उत्पन्न होता है। आचार्यों ने यमराज को इसका देवता माना है और वर्ण कपोत के समान बताया है (अय कपोतवर्णो यमदैवतश्च)।

आलम्बन—नायक नायिका, पराभव, वियोग आदि।

उद्दीपन—प्रिय-वियोग तथा उसके गुण का स्मरण, चित्र-दर्शन आदि।

अनुभाव—रोदन, उच्छ्वास, प्रलाप, भूमि-पतन, मूर्च्छा, वैवर्ण, कम्प, दैव-निन्दा आदि।

सचारी भाव—निर्वेद, ग्लानि, मोह, स्मृति, चिन्ता, विषाद, उन्माद, दैन्य, व्याधि आदि।

स्थायी भाव—शोक 'इष्टनाशाभिलतोवैक्लव्येव्य शोकशब्दभाक्'।

करुण के भेद—करुणा कई प्रकार की होती है। प्रिय-विनाशजनित, प्रिय-वियोगजनित, धननाशजनित और पराभवजनित आदि करुणा के भेद हैं।

मात्रा के अनुसार भी करुणा के भेद किए गए हैं—

"करुण अतिकरुन औ' महाकरुन लघुकरुन हेतु ।
एक कहत हैं पांच यों दुख में सुखहि सचेतु ॥"

अर्थात् करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण यह करुणा के पांच भेद हैं।

करुण रस का महत्त्व—संस्कृत के श्रेष्ठतम कवि भवभूति ने 'करुण एंव एको रस' कहकर करुण रस को प्रधान रस कहा है। इसके विपरीत रुद्रट, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने शृंगार को 'जाति सुलभ' रस होने के कारण 'रसराज' के पद से विभूषित किया है। निस्सन्देह शृंगार इस दृष्टि से व्यापक और मधुर रस है किन्तु करुणा की व्यापकता ने शृंगार के क्षेत्र को भी आवृत्त कर लिया है। काव्य के प्रधानभूत नव रसों के शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अनुशीलन से करुण रस की महत्ता का दिग्दर्शन किया जा सकता है।

काव्यगत सभी रसो में करुण रस किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है। शृंगार रस के वियोग पक्ष में करुणा कवि की लेखनी का आधार पाकर साकार हो उठती है। हास्य रस में भी उपहासास्पद व्यक्ति के साथ पाठक या दर्शक की सहानुभूति जाग्रत हो जाती है। अन्य रस तो करुण चित्रो को चित्रित किए बिना विकसित ही नही होते। सासारिक द्वन्दो से निर्लिप्त करने वाले शान्त रस का पूर्ण परिपाक भी कारुणिक दृश्यों के चित्रण से किया जाता है। ससार से विरक्ति उत्पन्न करने के लिए शान्त रस प्रधान काव्य में वीभत्स रस का नियोजन आवश्यक माना गया है। करुणा के इस व्यापक प्रसार के कारण ही महाकवि भवभूति ने करुण रस को प्रकृति रस कहा है। अन्य सभी रसो को करुण रस के विवर्त्त रूप में कल्पित किया है। उनकी निम्नलिखित पक्तियां दृष्टव्य हैं—

"एको रस करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्न पृथग्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्
आवर्त बुद्बुद्-तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्"

अर्थात् करुण ही सर्वप्रमुख रस है।

करुण रस के संचारी भी अन्य रसो के सचारियो से अधिक व्यापक हैं। अनुभावो के अन्तर्गत आने वाले सभी सात्विक भाव इसके सचारी भाव हैं।

रसो के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा भी करुण रस सर्वाधिक व्यापक रस सिद्ध होता है। करुण रस में भाव-तादात्म्य की शक्ति अन्य रसो की अपेक्षा अधिक होती है। काव्य की सफलता की पूर्ण पराकाष्ठा भाव-तादात्म्य पर आधारित है। भाव-तादात्म्य की पराकाष्ठा ही साधारणीकरण की स्थिति है। साधारणीकरण को स्पष्ट करनेवाले प्रधान आचार्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों में थोडा अन्तर अवश्य है, किन्तु दोनो ने ही अहमन्यता और ममत्व के नष्ट होने या पाठक और कवि की भावधाराओ का एक ही मधुमती भूमिका में आ जाना साधारणीकरण माना है। भावनाओ की यही समभूमि रस का प्राणभूत तत्त्व है। साधारणीकरण रति-भावना ने उतना तीव्र रूप नही धारण

करता क्योकि उसमें अह भावना का पूर्ण लोप नही हो पाता। करुण रस के सचार से पाठकगण एक दूसरे में पूर्णत' लीन हो जाते हैं और व्यक्ति-भेद की सीमा नही रह जाती। पाश्चात्य विद्वान् 'बूचर' ने भी कारुणिक दृश्यो ही पूर्ण भाव-तादात्म्य (Empathy) सम्भव माना है—वे लिखते हैं—"The spectator is lifted out of himself He becomes one with the tragic sufferer and through him with humanity at large"

करुण रस में पाठक की चित्तवृत्तियो के तन्मय हो जाने के अनेक मनोवैज्ञानिक कारण हैं। प्रत्येक मनुष्य की अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ और रुचि होती हैं। कोमल और भावुक हृदय शृगारप्रधान काव्य की ओर आकृष्ट होते हैं। वीरोचित उत्साह और स्फूर्ति से युक्त व्यक्ति वीर रस प्रधान काव्य में आनन्दानुभव करते हैं। किन्तु करुण रस ऐसा विश्वव्यापी रस है जिसमें किसी भी सहृदय को आकृष्ट कर लेने की अपूर्व क्षमता है। मुनि और महात्माओ के विरक्त हृदय भी करुणा के प्रभाव से वचित नही रहते। इसके प्रमाण में महर्षि वाल्मीकि की क्रौंच पक्षी वाली घटना उद्धृत की जा सकती है। वे क्रौञ्च पक्षी के सयोग शृगार से प्रभावित नही हुए बल्कि उसके वियोग-जनित शोक को देखकर द्रवीभूत हो उठे और उनकी सरस वाक्धारा सहसा ही प्रसारित हो गई—

"क्रौञ्च द्वन्द वियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत."

—ध्वन्यालोक

वाल्मीकि आदि-कवि हैं और यह क्रौच व्यथा ही उनके आदि-काव्य रामायण की जननी है। अत करुण रस ही काव्य का विधायक रस है। करुणा की अतिरेकता से स्वत उमडी हुई भावधारा जिस स्वाभाविक और रमणीय काव्य की सृष्टि कर सकती है वह सुखातिरेक में सम्भव नही हो सकती। करुणा में सहृदय मानव का हृदय अत्यधिक सवेदनशील हो उठता है। मानव-जीवन की करुण विभीपिका ने ही राजपुत्र सिद्धार्थ को अपने अतुल वैभव और ऐश्वर्य से विरक्त कर प्रबुद्ध होने की प्रेरणा प्रदान की थी। सुख के क्षणो में यह सवेदनशीलता साधारण मानव में ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती है। दुख और सुख का यह मनोवैज्ञानिक सत्य काव्य जगत में भी इसी रूप में वर्तमान रहता है। काव्य जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन में द्वेषात्मक क्षणो का आधिक्य मानव को अत्यधिक सवेदनशील बना देता है। और काव्य के करुण पक्ष का वे अधिक सरलता से अनुभव करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि करुण रस में अन्य रसो की अपेक्षा अधिक तन्मय कर देने की शक्ति है।

करुण रस की शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक व्यापकता पर विचार करने के पश्चात् उसके आध्यात्मिक स्वरूप पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। करुण की व्यापकता उसके आध्यात्मिक स्वरूप पर भी निर्भर है। काव्यगत रस अलौकिक वस्तु है। अलौकिक आनन्द का विधान करने के कारण ही रस तत्त्व ब्रह्म के समकक्ष माना गया है। जीवन की प्रत्यक्ष करुणा भी काव्य जगत में प्रवेश करके आनन्द प्रदान करती है। साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

"करुणादावपि रसे जायते यत्पर सुखम्
सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ।"

अर्थात् करुणा से भी अलौकिक आनन्दजन्य रस की उत्पत्ति होती है। सहृदयो का अनुभव ही इसका प्रमाण है।

करुणा से उद्भूत इस आनन्द का प्रभाव भी अन्य रसो से अधिक व्यापक है। दुख का अतिरेक दुर्गुणों का दमन कर सद्गुणो और आदर्श की ओर प्रवृत्त करता है। साहित्य का लक्ष्य भी आदर्शात्मक होता है। यही कारण है कि भवभूति आदि आचार्यों ने करुण रस को प्रधान रस कहा है। सत् साहित्य में इसीलिए नायक और सत् पात्रों का जीवन सघर्षमय चित्रित किया जाता है। पाश्चात्य साहित्य में तो दु खान्त नाटक श्रेष्ठ समझा जाता है। विषादान्त नाटक का प्रभाव सुखान्त नाटक की अपेक्षा अधिक समय तक बना रहता है। इससे मानवी वृत्तियो का परिष्करण होता है और मानव महान् पथ की ओर अग्रसर होता है। हिन्दी के महान् कलाकारो ने भी जीवन में करुणा की महत्ता का बडा मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। 'चिन्ता' का विश्लेषण करते हुए महान् कवि 'प्रसाद' उसे 'मधुमय अभिशाप' कहकर सम्बोधित करते हैं। महाकवि पत की 'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान' वाली पक्तियाँ करुण काव्य को सरस और वास्तविक काव्य होने की ओर सकेत करती हैं।

अद्भुत रस

शास्त्रीय रूप—वस्तु-वैचित्र्य को देखकर आश्चर्य के सचार से अद्भुत रस का उदय होता है।

इस रस के देवता गधर्व हैं और वर्ण पीत है। (विस्मय स्थायी यस्य सोऽय पीतवर्णो गन्धर्वदैवतोऽद्भुतरसो भवति)।

आलम्बन—अलौकिक, विचित्र दृश्य या वस्तु आदि।

उद्दीपन—इन्द्रजाल आलम्बन के विस्मयकारी वर्णन दृश्य या आदि।

अनुभाव—नेत्र-विस्फारण, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद होना, सम्भ्रम, उत्फुल्लता आदि।

सचारी भाव—भ्रान्ति, तर्क, आवेग, जडता, दैन्य, शका, हर्ष, चपलता, औत्सुक्य आदि।

स्थायी भाव—विस्मय 'विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृत ।'

—साहित्यदर्पण ३।१८०

शृङ्गार, करुण, शान्त आदि अन्य रसो के समान अद्भुत रस को भी कुछ आचार्यों ने रसराज कहा है। साहित्यदर्पण में कविराज विश्वनाथ ने आचार्य धर्मदत्त के मत को उद्धृत किया है। धर्मदत्त ने चमत्कार को सब रसो का आधार मानकर अद्भुत को ही प्रधान रस कहा है—

"रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस ॥"

अर्थात् चमत्कार रस का सार है सर्वत्र चमत्कार ही दिखाई पडता है। अद्भुत चमत्कार का सार है। अत सर्वत्र अद्भुत रस ही है।

नारायण पण्डित ने भी चमत्कार को रस का सार कहा है। चमत्कार में विलक्षणता होने से आकर्षण और जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसी से अन्य रसो का सचार होता है।

हास्य रस

शास्त्रीय रूप—रूप, आकार, वाणी, वेश और कार्य आदि के विकृत हो जाने से हास्य रस की उत्पत्ति होती है।

"वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते।"—साहित्यदर्पण

हास्य की सीमा वही तक रहती है जहाँ तक इस विकृति से कोई अनिष्ट न हो, अनिष्ट होने पर करुण रस हो जाएगा। हास्य दो प्रकार से उत्पन्न होता है—एक तो हास्य के विषय को स्वय देखकर, यह आत्मस्थ कहलाता है, दूसरा वह जो दूसरे को हँसता देखकर उत्पन्न होता है, यह परस्थ कहलाता है। 'रस गगाधर' में आत्मस्थ और परस्थ हास्य का उल्लेख है—

"आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावे क्षणमात्रत।
हसतमपर दृष्ट्वा विभावाश्चोपजायते।
योऽसौ हास्यरस्तज्ज्ञै परस्थ. परिकीर्तित ॥"

हास्य रस के देवता प्रमथ (शिव के गण) और रग श्वेत माना गया है (हास्यरसस्य श्वेतो वर्ण प्रमथो देवश्च) भरत मुनि ने हास्य की उत्पत्ति शृङ्गार से मानी है, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्य।'

आलम्वन—विकृत रूपाकार, व्यग्य, मूर्खता के कार्य, निर्लज्जता आदि।

उद्दीपन—हास्यजनक वस्तु या व्यक्ति की चेष्टाएँ।

अनुभाव—व्यग्य वाक्य कहना, ओठ, नासिका और कपोल का स्फुरित होना, नेत्र वन्द होना, मुख पर प्रसन्नताजनक दीप्ति आदि।

सचारी—अवहित्था, अश्रु, रोमाच, कम्प, हर्प, स्वेद, चचलता, आलस्य, निद्रा आदि।

स्थायी भाव—हास।

हास्य के भेद—हास्य छ प्रकार का होता है—

स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित। साहित्यदर्पण में इनका निर्देश इस प्रकार किया गया है—

"ज्येष्ठानाम् स्मित हसिते, मध्याना विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसित तथातिहसित तदेष षड्भेद ॥"

रौद्र रस

शास्त्रीय रूप—शत्रु की अपमानजनित चेष्टाओ से तथा गुरु-निन्दा, देश-धर्म या अपकार और अपमान होने पर रौद्र रस का उदय होता है। इस रस का देवता रुद्र

ग्रौर वर्ण रक्त के समान है (रक्तवर्णो रुद्राधिदैवत्यो रौद्रो रसो भवति)।

आलम्बन—शत्रु या अनुचित बात कहने वाला व्यक्ति।

उद्दीपन—विरोधी दल द्वारा किए गए अनुचित कार्य या कठोर वचन आदि।

अनुभाव—मुख और नेत्र का लाल होना, दाँत पीसना, ओठ चबाना, भ्रूभग, शस्त्र ग्रहण करना, आत्म-प्रशसा, वेग गर्जन, कठोरता से देखना, कम्प, रोमाञ्च तथा, प्रस्वेद आदि।

सचारी—रुक्षता, उग्रता, अमर्ष, मद, स्मृति, उद्वेग, असूया आदि।

स्थायी भाव—क्रोध—'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोध. क्रोध इष्यते।'

—साहित्यदर्पण ३।१७७

रौद्र और वीर रसो में आलम्बन विभाव एक-से ही होते हैं किन्तु दोनो ही के स्थायी भावो में अन्तर है। रौद्र का स्थायी भाव क्रोध और वीर का उत्साह है।

वीर रस

शास्त्रीय रूप—युद्ध, दया और दान आदि कार्यों के अत्यधिक उत्साह के साथ किए जाने पर वीर रस की उत्पत्ति होती है। इसके देवता इन्द्र और वर्ण स्वर्ण के समान माना गया है—

" · महेन्द्र देवतो हेमवर्णो वीररसो भवति।"—चन्द्रालोक

आलम्बन विभाव—नायक, शत्रु, याचक, दीन, तीर्थ-स्थान आदि।

उद्दीपन विभाव—शत्रु का प्रभाव, शक्ति, अहकार, याचक या दीन की दशा तथा उनके द्वारा की गई प्रशसा आदि।

अनुभाव—स्थैर्य, रोमाच, सत्कार आदि।

सचारी भाव—गर्व, धृति, तर्क, स्मृति, हर्ष, दया, असूया, आवेग आदि।

स्थायी भाव—उत्साह। साहित्यदर्पण में उत्साह का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"कार्यारम्भेषु सरम्भ स्थेयानुत्साह उच्यते।" (३।१७८)

अर्थात् कार्य के आरम्भ से अन्त तक विद्यमान अत्यधिक सलग्नता को उत्साह कहते है। शास्त्रीय दृष्टि से उत्साह का प्रदर्शन केवल युद्ध में ही नहीं बल्कि दान, दया, धर्म आदि कार्यों में भी होता है। इन सभी कार्यों में वीर रस का सचार भी होता है। इस दृष्टि से वीर रस के निम्नलिखित भेद किए गए है—

१ युद्धवीर।
२ दानवीर।
३ धर्मवीर।
४ दयावीर।

भयानक रस

शास्त्रीय रूप—भयदायक अनिष्टकारी दृश्य को देखने, सुनने या स्मरण करने से भयानक रस सचरित होता है। इस रस के देवता भूतपिशाच और रग कृष्ण माना गया है—"भूताधिदैवत स्त्रीनीचप्रकृति कृष्णवर्णो भयानकरसो भवति।"

अपने दूसरे ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में भी इन्होंने भक्ति रस का स्वरूप निरू-पित किया है। वे लिखते हैं—

"वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यता मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुरा- ख्यो मनीषिभिः।"

भक्ति रस को स्वतन्त्र रस मानने के लिए निम्नलिखित आधारों का उल्लेख किया जा सकता है—

भरत मुनि ने भक्ति को शान्त रस का ही विषय कह कर ज्ञान और भक्ति दोनो का सम्मिश्रण कर दिया है। किन्तु ज्ञान विरागप्रधान और भक्ति रागप्रधान होती है अतः दोनो का समुचित सम्मिश्रण करना कठिन है इसलिए इसे स्वतन्त्र रस ही मानना चाहिए।

'साहित्यदर्पण' में रति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।"

अर्थात् मन के अनुकूल वस्तु से मन का प्रेमार्द्र होना रति है।

भक्ति का स्थायी भाव भी देवादिविषयक रति है। भक्त के हृदय में स्थित इस रति में भी उतनी ही तन्मयता और कोमलता रहती है जितनी कि रसोत्कर्ष के लिए अपेक्षित होती है। रति की उपर्युक्त परिभाषा में रति को व्यापक दृष्टिकोण द्वारा स्पष्ट किया गया है। कुछ आचार्यों ने इसी के आधार पर देव-रति और पुत्र-रति को भी शृंगार के अन्तर्गत माना है। किन्तु वास्तव में ये दोनो शृंगार के अन्तर्गत नही आने चाहिएँ। दोनो के स्थायी भाव रति होते हुए भी उनके स्वरूप और भाव में अन्तर है। शृंगार शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करने पर यह भेद स्पष्ट हो जाएगा। आचार्य मम्मट ने शृंगार की परिभाषा देते हुए कहा है—

"शृङ्गं हि मन्मथोद्रेकस्तदागमनहेतुकः।" अर्थात् शृंग (कामदेव) के आगमन का हेतु ही शृंगार कहलाता है।

यहाँ मम्मट ने शृंगार के अन्तर्गत केवल दाम्पत्य-रति को ही स्थान दिया है। देवता, गुरु, पुत्र आदि की रति को वे भाव की संज्ञा देते हैं। अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी आदि ने रस को प्रेय अलंकार का विषय कहा है। इन आचार्यों के विरोध में यह कहा जा सकता है कि यह किसी भी रस की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर अलंकार में ही रसो की स्थिति मानते थे।

भक्ति में आलम्बन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि रस के सभी अंग-प्रत्यंगो का समुचित योग होता है—इसका स्थायी भाव देव-रति, अनुभाव अनन्यासक्तिजनित अश्रु, रोमाञ्च आदि और व्यभिचारी हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, चपलता, दैन्य, स्मरण आदि हैं। भक्ति के आलम्बन पूर्णावतार कृष्ण या राम आदि हैं। भक्त के हृदय में अपने आराध्य के प्रति उठती हुई भावनाओ का चरम उत्कर्ष होता है और वे रस दशा को पहुँच जाती हैं। जीवन के द्वेषात्मक भाव, क्रोध, शोक, भय, वीभत्स आदि की रौद्र, करुण, भया-नक और वीभत्स रसो में प्रतिष्ठा की गई है। भगवद्विषयक रति इन भावो से अधिक

आलम्वन—स्त्री, नीच मनुष्य, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु, वाल, श्मशान आदि निर्जन स्थान, अत्याचारी शत्रु, भूत-प्रेत आदि।

उद्दीपन—आलम्बन की भयानक चेष्टाएँ और व्यवहार, भयानक निर्जनता आदि।

अनुभाव—कम्प, वैवर्ण्य, कारुणिक रुदन, रोमाच आदि।

सचारी भाव—त्रास, जुगुप्सा, शका, चिता, मूर्च्छा, आवेग, दैन्य, मोह आदि

स्थायी भाव—भय। साहित्यदर्पण में भय का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"रौद्रं शक्त्या तु जनित चित्तवैक्लव्यज भयम्।" (३।१७८)

भक्ति रस

शास्त्रीय रूप—रुधिर, मास, नैतिक पतन आदि घृणित वस्तुओ को देखकर या सुनकर उत्पन्न हुई घृणा या जुगुप्सा से वीभत्स रस प्रवाहित होता है। इसका नीलवर्ण है और महाकाल देवता है (स नीलवर्णो महाकाल देवतो वीभत्सो रस कथ्यते) वीभत्स दृश्यो को देखने से ससार की असारता और असत्यता का आभास मिलता है। दर्शक गणो के हृदय में उस समय ससार से विरक्ति हो जाती है। विरक्ति की ओर अग्रसर करने के कारण वीभत्स रस शान्त रस का सहायक रस माना गया है।

आलम्वन—घृणोत्पादक प्राणी या पदार्थ, रक्त, मास, श्मशान आदि।

उद्दीपन—कीडे-मकोडे, दुर्गन्ध, कुत्सित रूप, मास-भक्षण और उसके लिए युद्ध आहत जीवो का चीत्कार आदि।

अनुभाव—आँखें बन्द करना, नाक सिकोडना, थूकना आदि।

सचारी—निर्वेद, ग्लानि, आवेग, जडता, व्याधि, अपस्मार, वैवर्ण्य, चिन्ता, मोह आदि।

स्थायी भाव—घृणा या जुगुप्सा। साहित्यदर्पण में जुगुप्सा का लक्षण देते हुए लिखा है—

"दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा।" (३।१७९)

वीभत्स रस का वर्णन अधिकतर अन्य रसो के सहायक के रूप में ही किया जाता है।

वीभत्स रस

भक्ति रस स्वतन्त्र रस है या नही इस विषय में विद्वानो में मतभेद हैं। आचार्य मम्मट के समय तक के प्रमुख साहित्याचार्यों ने भक्ति रस की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही किया है। पडितराज जगन्नाथ ने एक स्थल पर भक्ति की स्वतन्त्र महत्ता की ओर सकेत मात्र करके परम्परानुगत नव रसो का ही उल्लेख किया है। चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तो और आचार्यों ने सर्वप्रथम इस विषय में विरोध प्रगट किया वैष्णवाचार्य रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती आदि ने भक्ति को भी स्वतन्त्र रस कहा है। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृत सिन्धु' में भक्ति रस को उज्ज्वल रस कहा है-

"शान्तप्रीतिप्रेयो वत्सलोज्ज्वलनामस्।"

अपने दूसरे ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में भी इन्होने भक्ति रस का स्वरूप निरू-पित किया है। वे लिखते हैं—

"वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यं स्वाद्यता मधुरा रति·।
नीता भक्तिरस प्रोक्तो मधुरा- ख्यो मनीषिभि.।"

भक्ति रस को स्वतन्त्र रस मानने के लिए निम्नलिखित आधारो का उल्लेख किया जा सकता है—

भरत मुनि ने भक्ति को शान्त रस का ही विषय कह कर ज्ञान और भक्ति दोनो का सम्मिश्रण कर दिया है। किन्तु ज्ञान विरागप्रधान और भक्ति रागप्रधान होती है अत दोनो का समुचित सम्मिश्रण करना कठिन है इसलिए इसे स्वतन्त्र रस ही मानना चाहिए।

'साहित्यदर्पण' में रति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनस· प्रवणायितम्।"

अर्थात् मन के अनुकूल वस्तु से मन का प्रेमार्द्र होना रति है।

भक्ति का स्थायी भाव भी देवादिविषयक रति है। भक्त के हृदय में स्थित इस रति में भी उतनी ही तन्मयता और कोमलता रहती है जितनी कि रसोत्कर्ष के लिए अपेक्षित होती है। रति की उपर्युक्त परिभाषा में रति को व्यापक दृष्टिकोण द्वारा स्पष्ट किया गया है। कुछ आचार्यों ने इसी के आधार पर देव-रति और पुत्र-रति को भी शृगार के अन्तर्गत माना है। किन्तु वास्तव में ये दोनो शृगार के अन्तर्गत नही आने चाहिएँ। दोनो के स्थायी भाव रति होते हुए भी उनके स्वरूप और भाव में अन्तर है। शृगार शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करने पर यह भेद स्पष्ट हो जाएगा। आचार्य मम्मट ने शृगार की परिभाषा देते हुए कहा है—

"शृङ्गं हि मन्मथोद्रेकस्तदागमनहेतुक।" अर्थात् शृग (कामदेव) के आगमन का हेतु ही शृगार कहलाता है।

यहाँ मम्मट ने शृगार के अन्तर्गत केवल दाम्पत्य-रति को ही स्थान दिया है। देवता, गुरु, पुत्र आदि की रति को वे भाव की सज्ञा देते हैं। अलकारवादी आचार्य भामह और दण्डी आदि ने रस को प्रेय अलकार का विषय कहा है। इन आचार्यों के विरोध में यह कहा जा सकता है कि यह किसी भी रस की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर अलकार में ही रसो की स्थिति मानते थे।

भक्ति में आलम्बन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि रस के सभी अग-प्रत्यगो का समुचित योग होता है—इसका स्थायी भाव देव-रति, अनुभाव अनन्यासक्तिजनित अश्रु, रोमाञ्च आदि और व्यभिचारी हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, चपलता, दैन्य, स्मरण आदि हैं। भक्ति के आलम्बन पूर्णावतार कृष्ण या राम आदि हैं। भक्त के हृदय में अपने आराध्य के प्रति उठती हुई भावनाओ का चरम उत्कर्ष होता है और वे रस दशा को पहुँच जाती हैं। जीवन के द्वेषात्मक भाव, क्रोध, शोक, भय, वीभत्स आदि की रौद्र, करुण, भया-नक और वीभत्स रसो में प्रतिष्ठा की गई है। भगवद्विषयक रति इन भावो से अधिक

श्रेष्ठ और आनन्ददायक है। अत इसे भी स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

वैष्णवाचार्य भक्ति रस को केवल स्वतन्त्र रस ही नही मानते वल्कि इसे सर्वरसो में श्रेष्ठ प्रधान रस भी कहते हैं। इतना ही नही वे भक्ति रस के अन्तर्गत ही अन्य रसो को निरूपित भी करते हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार को भक्ति रस के प्रमुख भेद माने हैं, और हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स गौण भेद किए हैं।

रूपगोस्वामी ने भक्ति रस को रसराज शृंगार से श्रेष्ठ बताया है।[1] महामहोपाध्याय पी० वी० काने ने 'हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोइटिक्स' पृष्ठ ३०० पर लिखा है—

"रूपगोस्वामी Says that what is called illicit and secret love and is ordinarily condemned is the highest pinnacle of srringara and that the condemnation applies only to ordinary mortals and not to a completely perfect avatara (krsna) who took to an incarnation to give a taste of mystic love to his devotees"

शृंगार रस के आलम्वन इस लोक के ही होते हैं किन्तु भक्ति रस के आलम्वन अवतारी कृष्ण या राम आदि देव श्रेणी के होते हैं। इस दृष्टि से भी भक्ति रस शृंगार रस से श्रेष्ठ है।

अद्वैतवादी आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस को समाधिजन्य आनन्द के समान कहा है—

"समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतत्रपुरुषार्थत्वात् ··
भक्तियोग. पुरुषार्थं परमानन्दरूपत्वात्वादिति निर्विवादम् ॥"

—भक्तिरसायन प्रथम उल्लास, पृ० ६

श्रीमद्भागवत में तो भक्ति रसानन्द ब्रह्मानन्द से भी अधिक मुग्धकारी कहा गया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि भक्ति रसजनित सुख के समान अन्य कोई सुख नही है—

"या व्यापारवती रसान्रसयितु काचित्कवीना नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिश निर्वर्णयन्तो वयम्,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन् त्वद्भक्तितुल्य सुखम् ॥"

—ध्वन्यालोक, पृ० २२७

वात्सल्य रस

प्राचीन आचार्यो ने वात्सल्य रस का वर्णन नही किया है। वात्सल्य रस की

---

१. "अत्रैव परमोत्कर्ष शृंगारस्य प्रतिष्ठित। तया च मुनि। वहु वार्यते यत खलु यत्र प्रच्छन्नकामुत्व च। या च मियो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रति। लघुत्वमत्र यत्प्रोक्त तन्नु प्राकृतनायके। न कृष्णे रसनिर्यास्वादार्थमवतारिणि।"

—उज्ज्वल नीलमणि

मान्यता बालकृष्ण के उपासको में उदित हुई। बाद में सूरदास तुलसीदास जैसे प्रतिभाशाली कवियो के हाथो इसका सुन्दर परिपाक हुआ। इसका स्थायी वात्सल्य-पूर्ण स्नेह माना जाता है। पुत्र-पुत्री आदि इसके आलम्बन होते हैं। बालक की चेष्टाएँ उनकी बाल-क्रीडाएँ उद्दीपन के अन्तर्गत आवेंगी। हर्ष, गर्व, आवेश आदि इसके सचारी होते हैं। माता और पिता तथा अन्य गुरुजन इसके आश्रय हुआ करते हैं। वात्सल्य का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

"कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूँ रिसिआई कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेश के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरैं॥"

शान्त रस

साहित्यशास्त्र में शान्त रस की मान्यता सातवी शताब्दी में हुई। इससे पूर्व के ग्रन्थो में केवल आठ ही रसो का उल्लेख है और शान्त को सचारी भाव कहा गया है। भरत मुनि ने यद्यपि सब रसो का अवसान शान्त में होना कहा है पर शान्त रस को नाटक में स्थान नही दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस विषय में कहा है—

"शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसभवात्
अष्टावेव रसा नाट्ये शान्तस्तत्र न युज्यते।"

—रसगगाधर, पृ० २६

अर्थात् नट अपनी चचलता के कारण शान्त के स्थायी भाव शम की मुद्रा धारण नही कर सकता इसलिए नाटक में आठ ही रस होते हैं। शान्त रस की योजना नही हो सकती।

किन्तु 'सगीत रत्नाकर' में 'कञ्चिन्न रस स्वदते नट' कहकर नट का रस से निर्लिप्त रहना बताया गया है। वह जिस प्रकार रौद्र, करुण आदि का अभिनय कर सकता है, उसी प्रकार शान्त का भी कर सकता है।

दशरूपक और भाव प्रकाश में कहा गया है कि शान्त रस काव्य का विषय हो सकता है नाटक का नही क्योंकि नट के साथ-साथ सभी सामाजिक भी शान्त रस का आस्वाद नही कर सकते—'सामाजिकाना मनसि रस शान्तो न जायते' (भावप्रकाशन, पृ० ४७)। इसके विपरीत कुछ आचार्यों का मत है कि नाटक में भी शान्त रस वर्तमान रहता है। ध्वन्यालोककार ने 'नागानन्द' नामक नाटक में शृगार और शान्त दोनो रसो की स्थिति मानी है। उन्होने नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित शब्दो को उद्धृत किया है—"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्। क्वचिद्धर्म क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थ्य क्वचिच्छम" अर्थात् लोक के भावो का अनुकीर्तन नाटक में रहता है उसमें कभी धर्म, कभी क्रीडा, कभी अर्थ और कभी काम का निदर्शन होता है।

इस प्रकार शम की स्थिति भी नाटक में रहती है यह बात दूसरी है कि सब लोग उसके रस का आस्वाद न करते हो।

'भावप्रकाश' में शान्त रस के आदि-प्रवर्तक आचार्य वासुकि माने गए हैं। अभिनवगुप्त ने शान्त रस को सर्वश्रेष्ठ रस कहा है क्योकि इसका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होता है और मोक्ष जीवन-साधना का अन्तिम और चरम लक्ष्य कहा गया है। काव्य का उद्देश्य भी इसी प्रकार रसास्वादन माना गया है, जो ब्रह्मानन्द के समकक्ष है। अत. काव्य में शान्त रस का समावेश भी अपेक्षित माना है—वे अपनी अभिनव-भारती में लिखते हैं—

"सर्वरसानाम् शान्तप्रायएवास्वाद"

—भा० १, पृ० ३४०

शान्त रस का स्थायी भाव शम है—

"शमो निरीहावस्थाया स्वात्मविश्रामजं सुखम्"

——साहित्यदर्पण ३।१८०

साहित्यदर्पण में शान्त रस का लक्षण इस प्रकार दिया है। भावो के समत्व को अर्थात् जहाँ दु ख, सुख, चिन्ता, राग, द्वेष कुछ भी नही है उसे मुनियों ने शान्त कहा है——

"न यत्र दुख न सुख न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा
रस सशान्त कथितो मुनीन्द्रै सर्वेषु भावेषु सम प्रमाण"

अभिनवगुप्त और धनञ्जय में भी शम को शान्त का स्थायी भाव कहा है। मम्मट और 'सगीत रत्नाकर' के रचयिता निर्वेद को और कुछ अन्य आचार्यों ने जुगुप्सा और उत्साह को इसका स्थायी भाव कहा है। ध्वन्यालोककार ने तृष्णाक्षयसुख को इसका स्थायी भाव कहा है। इस सुख का आस्वादन सब नही कर सकते। उनके मतानुसार केवल इसी आधार पर शान्त को रस न कहना भूल करना है।

वैराग्य और ससार-भीरुता इसके विभाव, मोक्षशास्त्र-चिन्ता अनुभाव और निर्वेद, मति, धृति, स्मृति इसके व्यभिचारी भाव है।

ध्वनि सम्प्रदाय

सस्कृत साहित्य में ध्वनि पर बडे विस्तार से विचार किया गया है। बडे-बडे आचार्यो ने अकाट्य तर्कों के आधार पर साहित्य मे ध्वनि का प्रस्थापन किया है। यद्यपि ध्वनि का विवेचन नाट्यशास्त्रादि प्राचीन ग्रन्थो में विस्तार से नही मिलता है, तो भी केवल इसी कारण हम यह नही कह सकते कि ध्वनि सिद्धान्त प्राचीन नही है। हमारी अपनी धारणा है कि प्राचीन काल में भी विद्वान् लोग ध्वनि के महत्त्व से परिचित थे। यह भी सम्भव है कि उसके प्रतिपादन के हेतु सुन्दर ग्रन्थ भी लिखे गए हो जो कराल काल के द्वारा कवलित किए जाने के कारण आज अनुपलब्ध हैं। ध्वन्यालोककार ने "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधै संमाम्नात् पूर्वै" लिखकर इसी बात का समर्थन किया है। यहाँ पर इसी ध्वनि और ध्वनि के अनुयायियो के सिद्धान्तो का विवेचन करेंगे।

ध्वनि और उसके विविध अर्थ—सस्कृत साहित्य में ध्वनि शब्द का प्रयोग

लगभग पाँच अर्थों में किया गया है। डा० के० सी० पाण्डेय ने अपनी थीसिस 'इण्डियन एस्थैटिक्स' में उनका सकेत किया है। सक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१ 'ध्वनति य स व्यञ्जक शब्द ध्वनि'—जो ध्वनित करे या कराए वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

२ 'ध्वनति ध्वनयति वा य स व्यञ्जकेऽर्थो ध्वनि'—जो ध्वनि करे या ध्वनित करवाए वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

३ 'ध्वन्यते इति ध्वनि'—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। इसमें रस, अलकार और वस्तु व्यग्य अर्थ के यह तीनों रूप आ जाते हैं।

४ 'ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि'—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है।

५ 'ध्वन्यते अस्मिन्निति ध्वनि'—जिसमें वस्तु, अलकार और रसादि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

अब थोडा ध्वनि के स्वरूप पर भी विचार कर लेना चाहिए। ध्वनि की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने लिखा है—

"यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुदसर्जनी कृतस्वार्थो
व्यक्त काव्य विशेष. स ध्वनिरिति सूरिभि· कथित"

अर्थात् जहाँ अर्थ स्वय को शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते है उस काव्य विशेष को विद्वानो ने ध्वनि कहा है। उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने इस प्रकार लिखा है—

"यत्रार्थो वाच्य विशेषो शब्दोवातमर्थम्
व्यक्त स. काव्य विशेष· ध्वनिरिति"

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाच्य रूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द उस अर्थ को प्रकट करते है तब उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते है। यहाँ पर 'तमर्थ' शब्द को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उक्ति ध्यान में रखनी पडेगी—

"प्रतीयमानम् पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
एतद् प्रसिद्धावयभाति रिक्तममाति लावण्यमिवाङ्गनासु"

अर्थात् प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो रमणियो के प्रसिद्ध अवयवो से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियो में भासित होता है। इस दूसरे श्लोक में भी यही बात दूसरे ढग से प्रगट की गई है—

"सरस्वती स्वादुनदर्थवस्तु निष्यन्दमानामहताम् कवीनाम्
आलोक सामान्यमानमभिव्यक्ति परिस्फुरन्तम् प्रतिभा विशेषम्"

अर्थात् उस स्वादु अर्थ को बिखेरती हुई बडे-बडे कवियो की सरस्वती अलौकिक तथा प्रतिभा विशेष को व्यक्त करती है।

इस पर लोचनकार की टिप्पणी भी विचारणीय है—

"सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वनन व्यापार' स (काव्यविशेष) इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनीति शब्दोऽप्येव व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यते इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव

वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् ।"

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनो का ध्वनन व्यापार होता है। वह 'काव्य-विशेप' का अर्थ है, अर्थ शब्द वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी। इस प्रकार व्यग्य अर्थ भी ध्वनन करता है। इस प्रकार कारिका के अनुसार ध्वनि, शब्दगत और अर्थगत दोनो है।

ध्वनि सिद्धान्त की आधार भूमि—विद्वानो की धारणा है कि ध्वनिकार को अपने ध्वनि सिद्धान्तो के लिए वैयाकरणो के स्फोट से प्रेरणा मिली थी। यह बात 'सूरिभि कथित' वाक्याश से प्रगट होती है। लोचनकार ने वैयाकरणो के स्फोट सिद्धान्त का आलकारिको के ध्वनि सिद्धान्त से अच्छा सामञ्जस्य स्थापित किया है। ध्वनि के पाँचो रूपो—व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा व्यग्य काव्य, सभी के लिए व्याकरणशास्त्र में निश्चित एव स्पष्ट सकेत मिलते है। यहाँ पर लोचनकार की टिप्पणी का हिन्दी रूपान्तर दे देना अनुचित न होगा। वह इस प्रकार है—

"जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता उस उच्चरित शब्द को नही सुनता। मान लीजिए कि मैं आपसे दस गज की दूरी पर खडा हूँ और आपने किसी शब्द का उच्चारण किया तो मैं उस शब्द को नही सुन सकूँगा जो आपने उच्चरित किया है। आपके द्वारा उच्चरित शब्द मुख के पास दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, इत्यादि इस प्रकार क्रम चलता रहता है। इस प्रकार हम सन्तान रूप में आये हुए शब्दज शब्द को ही सुन पाते है। यहाँ शब्दज शब्द ही ध्वनि कहलाते हैं। महाराज भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में लिखा है—

"य सयोगवियोगाभ्याम् कारणैरुपजन्यते।'
स स्फोट शब्दज शब्दो ध्वनिरिति उच्यते बुधै ॥"

अर्थात् शब्द यत्र के सयोग और वियोग से जो स्फोट उत्पन्न होता है, वही शब्द विद्वानो द्वारा ध्वनि कहलाता है।

वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दो से उत्पन्न शब्द हमारे मस्तिष्क में नित्य स्फोट को जन्म देते है यही वैयाकरणो की ध्वनि है। इसी प्रकार आलकारिको के अनुसार भी घटा, नाद, अनुकरण रूप शब्द से उत्पन्न अर्थ व्यग्य रूप ध्वनि कहलाता है। वैयाकरणो के अनुसार गऊ शब्द का उच्चारण होने पर हमें 'ग और औ+विसर्ग' की अलग-अलग प्रतीति होती है। उनके मतानुसार इनकी एक साथ स्थिति तो हो ही नही सकती। यदि ऐसा हो तो पौर्वापर्य का अवकाश ही नही रहेगा। तीन भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ हो ही नही सकते। गौ शब्द के सुनने पर हमारे मस्तिष्क में नित्य वर्तमान स्फोट रूप गौ की प्रतीति होनी है किन्तु इसके पहिले केवल ग शब्द के सुनते ही ऐसा प्रतीत होता है—यह क्यो? वैयाकरणो का कहना है कि शब्द दो प्रकार का होता है, एक तो स्फोट रूप में वर्तमान प्राकृत शब्द, दूसरा विकृत शब्द। हम जिन शब्दो का प्रयोग करते हैं वे उस स्फोट रूप प्राकृत शब्द की अनुकृति मात्र होता है। उसकी अनुकृतियो में विभिन्नता हो सकती है। विकृत शब्दो का उच्चारण रूप यह विभिन्न

व्यापार भी वैयाकरणो के अनुसार ध्वनि है। आलकारिको के अनुसार भी प्रसिद्ध शब्द व्यापारो से भिन्न व्यञ्जकत्व नाम का शब्द व्यवहार ध्वनि है। इस प्रकार व्यग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यञ्जकत्व व्यापार यह चार प्रकार की ध्वनि हुई, इन चारो के एक साथ रहने पर समुदाय रूप में काव्य की ध्वनि है। इस प्रकार लोचन टीकाकार ने वैयाकरणो का अनुसरण कर पाँचो में ध्वनित्व सिद्ध कर लिया है।

प्रतीति के साथ स्फोट रूप गौ की अस्पष्ट प्रतीति भी होती है। जो 'औ' और 'अ' के आ जाने तक पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। इसकी आचार्य मम्मट की व्याख्या के आधार पर इस प्रकार समझा जाता है—'गौ' शब्द में 'ग+औ+अ' यह तीन वर्ण हैं। इन तीन वर्णों में से 'गौ' का अर्थ वोध किसके द्वारा होता है। यदि यह कहे कि प्रत्येक के उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा। शेष दो व्यर्थ हैं और यदि यह कहे कि तीनो वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो यह असम्भाव्य है क्योकि कोई भी वर्ण-ध्वनि दो क्षण से अधिक नही ठहर सकती अर्थात् विसर्ग तक आते-आते ग की ध्वनि का लोप हो जाता है। जिसके कारण तीनो वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त वैयाकरणो ने निश्चित किया कि अर्थबोध शब्द के स्फोट द्वारा होता है अर्थात् पूर्व वर्णों के उच्चारण के साथ सयुक्त होकर शब्द का अर्थवोध कराते हैं। भर्तृहरि ने भी यही कहा है—

"प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानु ग्रहैस्तथ ॥
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥"

अर्थात् ग्रहण के अनुकूल शब्दो में व्यक्त न किए जाने वाले योग्य प्रत्ययो द्वारा ध्वनि रूप में प्रकाशित शब्द स्फोट कहलाता है। वैयाकरणो के अनुसार नाद कहलाने वाले अन्त्य वुद्धि से ग्राह्य स्फोट व्यञ्जक वर्ण ध्वनि कहलाते हैं। इसके अनुसार व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि कहलाते हैं। यह आलकारिको का मत है।

हम एक श्लोक को कई प्रकार से—कभी धीरे-धीरे, कभी वहुत शीघ्र, कभी मध्य लय से, कभी गाते हुए तो कभी सीधे पढ सकते हैं। सभी समय पर यद्यपि हम भिन्न-भिन्न ध्वनि का प्रयोग करते हैं किन्तु अर्थ केवल एक ही रहता है।

ध्वनि सम्प्रदाय का सक्षिप्त इतिहास

यो तो ध्वन्यालोककार के 'काव्यस्यात्माध्वनिरिति वुधैसन्मानात् पूर्वं' लिखकर यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि ध्वनि सिद्धान्त की परम्परा उनसे पहले भी वर्तमान थी, किन्तु उसके लिखित और पुष्ट प्रमाण न मिलने के कारण हम ध्वनिकार या आनन्दवर्धन को ही ध्वनि सिद्धान्त का प्रथम आचार्य मानते हैं। डा० पाण्डेय ने ध्वनि सिद्धान्त का "उदय और विकास आठवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी के मध्य में निश्चित किया है। इनके मतानुसार आठवी शताब्दी में होने वाले उद्भट प्रथम आचार्य थे, जिन्होने ध्वनि की खोज की थी (पृ० २१५, I A)। ग्यारहवी शताब्दी में उन्होने महिम भट्ट से ध्वनि-सिद्धान्त का ह्रास युग का उदय होना वताया है।

ध्वनि सिद्धान्त के पूर्व की शब्द शक्तियाँ

ध्वनि सिद्धान्त के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके पूर्वकाल में प्रचलित शब्द शक्तियों को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं—(१) अभिधा शक्ति—अभिधा-शक्ति का कार्य दर्शक के मन पटल पर उस वस्तु का चित्र उपस्थित करना होता था जिसमे उसका परम्परागत सम्बन्ध रहता है। इस बात को हम और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। जीवन की व्यावहारिकता के लिए प्रत्येक वस्तु का नाम निर्देश आवश्यक होता है। आदि-मानव ने इसी व्यावहारिकता से प्रेरित होकर बहुत सी वस्तुओ के लिए उनके बोधक शब्द बनाए होगे। इन बोधक शब्दो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है।

वैयाकरणो का मत—वैयाकरणो का कहना है कि अर्थ का ज्ञान कराने वाली शब्द की शक्ति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई विशेष वस्तु नही है। वे लोग इस शब्द की शक्ति की गति अपरिमित मानते है। वस्तु के न होने पर भी वह अपनी सत्ता स्थापित कर लेती है। जैसे रसगुल्ले न होने पर भी उनके स्वाद से लार टपकने लगती है। इस प्रकार इस शक्ति की महिमा अपार है।

अर्थबोध कराने वाली शब्द की यह शक्ति वास्तव में शब्द और अर्थ का एक विलक्षण सम्बन्धमात्र है। परम्परागत लोक-व्यवहार से सकेत होने पर इस सम्बन्ध की अनुभूति हो जाती है। यह सम्बन्ध वाच्य वाचक भाव का माना जाता है। इसी को सकेत कहते है। इसी सकेत के बल पर शब्द का अर्थ प्रकट होता है। इसी सकेत शक्ति को साहित्य में अभिधा शक्ति कहा गया है। यह बात मजूषा के निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होती है—

"पदपदार्थयो सम्बन्धान्तरमेव शक्ति वाच्यवाचक भावापरपर्याया। तत्राह-फन्वेतरेतराध्यासमूल तादात्म्यम्। तच्च सकेतरूपम्।" (मजूषा नागेशभट्ट)

नैय्यायिकों का मत—नैय्यायिको ने अभिधामूलक अर्थ की उत्पत्ति सकेत से न मानकर ईश्वरेच्छा से मानी है। कारिकावली में लिखा है 'अस्मात्पदात् अयऽर्थो बोधव्य इति ईश्वरेच्छा शक्ति' अर्थात् इस पद से इस प्रकार का अर्थ लेना चाहिए यह ज्ञान ईश्वरेच्छा से ही होता है। दूसरे शब्दो में यो कहा जा सकता है कि शब्दो का जो अर्थ लगाया जाता है वह ईश्वरेच्छानुरूप लगाया जाता है। यदि हम धार्मिक दृष्टिकोण से बात करें तब तो यह मत मान्य हो सकता है क्योकि गीता में लिखा है—

"ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशे तिष्ठन्ति अर्जुन" इत्यादि।

जब ईश्वर सबके हृदय में वर्तमान रहता है तो शब्द का अर्थ निकालने के लिए भी वही प्रेरित करता होगा, किन्तु यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो वैयाकरणो की बात अधिक सारपूर्ण प्रतीत होती है।

वैयाकरणो और नैय्यायिको में मतभेद का कारण—दोनो के मतो में जो अन्तर हमें दिखाई पडता है उसका प्रमुख कारण यह है कि नैय्यायिक शब्द को अनित्य मानते हैं और वैयाकरण नित्य। वैयाकरण शब्द के साथ-साथ अर्थ को भी नित्य मानते है। यही कारण है कि एक शब्द चाहे वह कितने भी रूपो में अपभ्रष्ट हकोर प्रयुक्त

हो, किन्तु फिर भी अपने अर्थ को नही वदलता। उस शब्द और उस अर्थ में सदैव वाच्य-वाचक सम्बन्ध वना रहता है। यह सम्बन्ध ही वास्तव में शक्ति है। इस सम्बन्ध-रूपी शक्ति के अभाव में शब्द अर्थहीन हो जाता है। यही कारण है कि लोकेच्छा के परिवर्तित होने पर शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है जैसे सलोना और नमकीन शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं किन्तु लोकेच्छा ने सलोने को सुन्दर का अर्थ दे दिया है। लोकेच्छा से ही कुछ शब्द अपने अर्थ को हीन भी वना देते हैं, महाराज शब्द ऐसा ही है। इसी प्रकार लोकेच्छा से शब्द के अर्थ पारस्परिक सम्बन्ध के ह्रास और वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं।

अभिधा के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल का मत—अभिधा का विवेचन करते समय हम शुक्ल जी के मत का भी सकेत कर देना चाहते हैं। शुक्ल जी का कहना है—'विम्वानुभूति या दृश्य ग्रहण अभिधा के द्वारा ही होता है।' शुक्ल जी ने प्राचीन आचार्यों से वढकर कुछ वात कही है। प्राचीन आचार्यों ने सकेत ग्रह के जाति गुण क्रिया और यदिच्छा यह चार विषय माने है। किन्तु सकेत ग्रह के रूपो पर उन्होने कोई विचार नही किया था। शुक्ल जी ने इस सम्बन्ध में सवसे पहले विचार प्रकट किए हैं। इनके मतानुसार अभिधा शक्ति से दो प्रकार का ग्रहण होता है—

१ विम्वग्रहण।

२ अर्थग्रहण।

उदाहरण देते हुए उन्होने लिखा है कि यदि कमल शब्द का उच्चारण किया जाय तो पहले उसका रूप या विम्व मस्तिष्क में आएगा फिर वाद में पद का अर्थ स्पष्ट होगा। इनका कहना है ऐसा भी हो सकता है कि मस्तिष्क पर विम्व चित्रण न भी हो केवल अर्थमात्र प्रगट हो जाए। शुक्ल जी के इस मत की आलोचना कुछ आलोचको ने की है किन्तु वास्तव में वात यही है कि सकेत ग्रह की दो प्रक्रियाएँ ही होती हैं। पहले वस्तु का विम्व वनता है उसके वाद उसी विम्व के सहारे उसका अर्थ स्पष्ट होता है। यह वात दूसरी है कि शीघ्रता या अन्य कारणो से पाठक को विम्वानुभूति न होकर केवल अर्थानुभूतिमात्र होकर रह जाए।

वाचक शब्द—अभिधा के साथ ही साथ वाचक शब्द का भी स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। 'काव्यप्रकाश' में लिखा है—

"साक्षात्सकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।"

अर्थात् वाचक शब्द उसे कहते हैं जिससे साक्षात् सकेतित शब्द का वोध हो। वाचक शब्दों का अर्थ दोनो के निश्चित सम्बन्ध ज्ञान या अभिधा-शक्ति से ही प्रकट होता है। यह सम्बन्ध ज्ञान सकेत के सहारे ग्राह्य होता है। दूसरे शब्दो में यो कह सकते हैं कि शब्द सकेत के सहारे ही अपना अर्थ प्रकट करता है। यह सकेत ग्रहण आठ प्रकार का माना गया है—व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्यशेष, विवृत्ति। इनके क्रमश उदाहरण इस प्रकार होगे—व्याकरण से हम लोहारिन शब्द का अर्थ लोहार की स्त्री लेते हैं। उपमान के सहारे हम जई का अर्थ जौ के सदृश अन्न लेते हैं। कोष के सहारे हम निर्जर शब्द का अर्थ देवता लेते हैं। आप्त-

वाक्य के सहारे हम रेडियो जैसे शब्द का अर्थ किसी देहाती को बतला सकते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रकार के सकेत ग्रह होते है। न्यायमुक्तावली में तथा अन्य साहित्यशास्त्र के ग्रन्थो में इनका विस्तृत उल्लेख किया गया है।

वाचक शब्द के भी चार भेद माने गए है—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक, द्रव्यवाचक।

अभिधा शक्ति का महत्त्व—साहित्य में अभिधा शक्ति का बडा महत्त्व माना गया है। साहित्यदर्पणकार ने इसीलिए सम्भवत इसे अग्रिमा शक्ति कहा है। बहुत से साहित्यशास्त्रियो ने अभिधा से लक्षणा को भिन्न नही माना है। नैय्यायिक लोग तो वाच्यार्थ के सम्बन्ध को ही लक्षणा मानते हैं। इनका तर्क है कि लक्ष्यार्थ केवल पद पर ही आधारित नही होता, बल्कि पद के वाच्य अर्थ से भी सम्बन्धित रहता है। अभिधा वृत्ति मात्रिका के लेखक मुकुल भट्ट ने तो अभिधा और लक्षणा के तादात्म्य को सिद्ध करने के लिए अपनी सारी शक्ति ही लगा दी थी। अभिधा से वास्तव में लक्षणा ही नही सम्बन्धित है व्यञ्जना भी सम्बन्धित है। ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट लिखा है कि व्यग्यार्थ जानने के लिए उसके जनक अभिधेयार्थ को जानना परमापेक्षित होता है। एक प्राचीन आचार्य ने तो बाण के दृष्टान्त से अभिधा शक्ति की असीम व्यापकता सिद्ध करने की चेष्टा की है। काव्यप्रकाशकार ने इनके मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार यत्पर शब्द स शब्दार्थइति"

—काव्यप्रकाश

अर्थात् जिस प्रकार बाण का कार्य उत्तरोत्तर विद्ध करते जाना है उसी तरह अभिधा का कार्य भी उत्तरोत्तर अर्थ की अभिव्यक्ति करते जाना है। ध्वनिकार तथा काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस मत का अपने ग्रन्थो में खडन किया है। उसका उल्लेख आगे किया जाएगा। यहाँ यही दिखाना अभिप्रेत था कि ध्वनि से पहले ध्वनि का कार्य अभिधा से ही लिया जाता था। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य शुक्ल ने भी अभिधा के महत्त्व को निम्नलिखित शब्दो में प्रकट किया है।

यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ भी योग्यता या उपपन्नता को पहुँचा हुआ समझ में आने योग्य रूप में अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा ही अर्थबोधक बन जाता है।

लक्षणा शक्ति—अभिधा शक्ति और तात्पर्याशक्ति स्वीकार कर लेने पर भी साहित्य में बहुत से ऐसे अर्थ प्रयोग में आते हैं जिनका अर्थ इन दोनो से नही निकल सकता। ऐसे प्रयोगो में से एक 'गगायाम् घोष' है। इसका अर्थ दोनो शक्तियो से भी स्पष्ट नही हो पाता। अभिधा शक्ति से केवल पदो का 'गगा में घोषो की बस्ती' इतना ही अर्थ निकलता है। गगायाम् घोष का वास्तविक भाव इन दोनो से इस प्रकार प्रगट नही होता इसलिए लक्षणा शक्ति की कल्पना करनी पडी। यहाँ पर लक्षणा शक्ति के स्वरूप भेदोपभेदो पर हम विचार नही करना चाहते क्योकि इस पर पहले विचार किया जा चुका है। यहाँ पर इतना ही कहना है कि बहुत से लक्षणावादियो ने लक्षणा के महत्त्व को इतना ऊपर उठाने की चेष्टा की कि उन्होने व्यञ्जना शक्ति को उनके आगे

विशेष आवश्यकता ही नही समझी। ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार ने विस्तृत विवेचन के पश्चात् यह सिद्ध कर दिया है कि ध्वनि की प्राप्ति केवल लक्षणा से नही हो सकती। वास्तव में इसी आवश्यकता से ही ध्वनि प्रस्थापकों को व्यञ्जना जैसी चतुर्थ शक्ति की कल्पना करनी पडी। साथ ही साथ उन्हें अपने विरोधी मतवादियो का खडन भी करना पडा। आगे के विवेचन से यह वात स्पष्ट हो जाएगी।

तात्पर्यावृत्ति—भाट्ट मतावलम्बी मीमासको ने एक नवीन तात्पर्यावृत्ति की कल्पना की थी। इनके मतानुसार यह अभिधा और लक्षणा दोनो से भिन्न होती है। इनका कहना है कि वाक्य में प्रयुक्त पद, आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि आदि के कारण पदो से भिन्न वाक्य का एक अलग अर्थ देते हैं। पदो से भिन्न वाक्य के इस अलग अर्थ की उपलब्धि तात्पर्यावृत्ति से मानी है। इस मत के मानने वालो को सस्कृत साहित्य में अभिहितान्वयवादी कहते हैं।

तात्पर्यावृत्ति के समर्थकों में धनिक भी आते हैं। इनका कहना है कि तात्पर्या-वृत्ति के द्वारा ही वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ का वोध हो सकता है। तात्पर्य कोई तराजू पर तुला हुआ पदार्थ नही है जो न्यूनाधिक न हो सके। तात्पर्य का प्रसार कही तक हो सकता है। इसलिए नवीन व्यञ्जना वृत्ति का स्वीकार करना तर्कसगत नही है। तात्पर्यावृत्ति वालो के मत का खडन ध्वन्यालोककार और काव्यप्रकाशकार दोनो ने किया है। आगे हम उस पर विचार करेंगे।

व्यञ्जना-वृत्ति और ध्वनि-विवेचन

धनिक के रहस्य को समझने के लिए हमें व्यजना के स्वरूप को समझना पडेगा। आचार्य मम्मट ने व्यजना-वृत्ति का सकेत करते हुए लिखा है—

"यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैक गम्यतेऽत्रव्यजनान्नापरा क्रिया॥" २।१४, १५

अर्थात् जिस प्रयोजन या फल की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, उस फल का ज्ञान केवल शब्द के द्वारा ही होता है। उस फल की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार व्यजना के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। उप-र्युक्त कथन के प्रकाश में हम व्यजना की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं—

"अभिधा और लक्षणा नामक शब्द शक्तियो की सीमा समाप्त हो जाने पर जिस शब्द-शक्ति द्वारा अभिधामूलक और लक्षणामूलक अर्थ के अतिरिक्त एक नए अर्थ की प्रतीति होती है उसे व्यजना-वृत्ति कहते हैं, तथा जिस शब्द का व्यजना-वृत्ति द्वारा वाच्यार्थ और लक्षणार्थ से भिन्न अर्थ का भान होता है उसे व्यजक शब्द और उस अर्थ को व्यग्यार्थ कहते है। ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ और प्रतीयमानार्थ आदि सव शब्द व्यग्यार्थ के ही पर्यायवाची है। एक वात और ध्यान देने की है। अभिधा और लक्षणा का क्रिया-व्यापार केवल शब्द से ही सम्वन्धित होता है, किन्तु व्यजना का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनो से माना जाता है।

व्यजना के भेद

स्थूल रूप से व्यजना के शब्द और अर्थ के आधार पर दो ही भेद माने गए हैं।

(१) शाब्दी व्यजना ।

(२) आर्थी व्यजना ।

शाब्दी व्यजना के दो स्थूल भेद किए जाते हैं—

(१) अभिधामूलक शाब्दी व्यजना ।

(२) लक्षणामूलक शाब्दी व्यजना ।

अभिधामूला शाब्दी व्यजना—जब अनेकार्थ शब्दो के किसी एक अर्थ का आधान क्रमश सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि के अनुसार किया जाता है, तब उस अर्थ विशेष का आधान करनेवाली शक्ति को अभिधामूला शाब्दी व्यजना कहते हैं।

लक्षणामूला शाब्दी व्यजना—प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शक्ति को लक्षणामूला व्यजना कहते हैं। जैसे वह गगा पर रहता है। यहाँ पर तट का भाव प्रयोजन के कारण लक्षणा के सहारे लिया जाता है। किन्तु शैत्य और पावनत्व रूपी प्रयोजन की प्रतीति व्यजना से ही होती है। जिस व्यजना के सहारे प्रयोजन के अर्थ का आधान होता है उसी को लक्षणामूला शाब्दी व्यजना कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्षणा में जो प्रयोजन होता है, वह व्यग्यार्थ ही होता है।

आर्थी व्यजना—वक्ता, वोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा आदि के अनुकूल अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को आर्थी व्यजना कहते है। विस्तार-भय से प्रत्येक अवस्था के उदाहरण नही दिए जा सकते केवल वाक्य-वैशिष्ट्य का उदाहरण ही पर्याप्त होगा। यहाँ पर मैं अपना उदाहरण न देकर कन्हैयालाल पोद्दार की 'रसमजरी' को ही उद्धृत कर रहा हूँ—

"मम कपोल तजि अनत सब दृगन कियो किवो गौन।
मै हूँ वही कपोल वह, पिय, अब वह न चितौन ॥"

अपने प्रच्छन्न कामुक नायक के प्रति यह नायिका की उक्ति है। "तब (जब मेरे समीप बैठी हुई तुम्हारी प्रेमिका का प्रतिविम्ब, मेरी कपोल-स्थली पर पड रहा था) मेरे कपोलो को छोडकर तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र कही भी नही जाती थी, किन्तु अब (जबकि प्रेमिका यहाँ से चली गई है और उसका प्रतिविम्ब मेरी कपोल-स्थली पर नही रहा है) यद्यपि मैं वही हूँ और मेरे कपोल भी वही हैं किन्तु आपकी दृष्टि वह नही है—मेरे कपोल पर नही आती।" इस सारे वाक्य की विशेपता से यह व्यग्यार्थ सूचित होता है कि आपका प्रेम मुझ पर नही, उसी युवती पर है जो अभी यहाँ बैठी हुई थी। अत यह वाक्य-वैशिष्ट्य है।

ध्वनि और उसके भेद

व्यजना व्यापार से प्राप्त अर्थ को ध्वनि कहते हैं। आचार्यों ने ध्वनि के बहुत

भेद किए हैं। स्थूल रूप से ध्वनि दो प्रकार की होती है—

(१) अभिधामूला ध्वनि।

(२) लक्षणामूला ध्वनि।

अभिधामूला ध्वनि—इसे विवक्षित अन्य पर वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि इसमें वाच्यार्थ व्यग्यार्थ का सहायक होता है। इसके भी दो भेद किए जाते हैं—

(क) असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि।

(ख) सलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि।

असंलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि—जब वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम प्रतीत नही होता तब उसे असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि कहते हैं। इसके आठ भेद माने जाते हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

असलक्ष्य क्रम व्यग्य के आठ भेद

(१) रस

(२) रसाभास

(३) भाव

(४) भावाभास

(५) भावशान्ति

(६) भावोदय

(७) भावसन्धि

(८) भावशवलता

(१) रस की विवेचना रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत हो चुकी है।

(२) रसाभास—जब रस-निष्पत्ति में या तत् विधायक विभावादि में किसी भी प्रकार का अनौचित्य दोष आ जाता है। तब उसे रसाभास कहते हैं। उदाहरण के रूप में हम केशव का यह दोहा ले सकते हैं—

"केशव केसनि अस करी जस अरिहू न कराहि।
चन्द्र वदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जांय ॥"

यहाँ पर वयोवृद्ध महाकवि केशव की चन्द्रवदनी बालाओ के प्रति अनुराग-वृत्ति की व्यजना अनौचित्यपूर्ण होने के कारण रसाभास उत्पन्न कर रही है—

(३) भाव—'प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि, सचारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र रति आदि स्थायी भावो को भाव कहते हैं।"—साहित्यदर्पण।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार भाव के केवल तीन भेद हुए—

(क) प्रधान रूप से प्रकट होने वाले सचारी आदि।

(ख) देवादि विषयक रति।

(ग) केवल उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव।

व्यंजना के भेद

स्थूल रूप से व्यजना के शब्द और अर्थ के आधार पर दो ही भेद माने गए है।

(१) शाब्दी व्यजना।

(२) आर्थी व्यजना।

शाब्दी व्यजना के दो स्थूल भेद किए जाते हैं—

(१) अभिधामूलक शाब्दी व्यजना।

(२) लक्षरणामूलक शाब्दी व्यजना।

अभिधामूला शाब्दी व्यजना—जब अनेकार्थ शब्दो के किसी एक अर्थ का आधान क्रमश सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि के अनुसार किया जाता है, तब उस अर्थ विशेष का आधान करनेवाली शक्ति को अभिधामूला शाब्दी व्यजना कहते हैं।

लक्षरणामूला शाब्दी व्यजना—प्रयोजनवती लक्षरणा में प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शक्ति को लक्षरणामूला व्यजना कहते हैं। जैसे वह गगा पर रहता है। यहाँ पर तट का भाव प्रयोजन के कारण लक्षरणा के सहारे लिया जाता है। किन्तु शैत्य और पावनत्व रूपी प्रयोजन की प्रतीति व्यजना से ही होती है। जिस व्यजना के सहारे प्रयोजन के अर्थ का आधान होता है उसी को लक्षरणामूला शाब्दी व्यजना कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्षरणा में जो प्रयोजन होता है, वह व्यग्यार्थ ही होता है।

आर्थी व्यजना—वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा आदि के अनुकूल अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को आर्थी व्यजना कहते हैं। विस्तार-भय से प्रत्येक अवस्था के उदाहरण नही दिए जा सकते केवल वाक्य वैशिष्ट्य का उदाहरण ही पर्याप्त होगा। यहाँ पर मैं अपना उदाहरण न देकर कन्हैयालाल पोद्दार की 'रसमजरी' को ही उद्धृत कर रहा हूँ—

"मम कपोल तजि अनत सब दृगन कियो किवो गौन।
मैं हूँ वही कपोल यह, पिय, अब वह न चितौन॥"

अपने प्रच्छन्न कामुक नायक के प्रति यह नायिका की उक्ति है। "तब (जब मेरे समीप बैठी हुई तुम्हारी प्रेमिका का प्रतिविम्ब, मेरी कपोल-स्थली पर पड रहा था) मेरे कपोलों को छोडकर तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र कही भी नही जाती थी, किन्तु अब (जबकि प्रेमिका यहाँ से चली गई है और उसका प्रतिविम्ब मेरी कपोल-स्थली पर नही रहा है) यद्यपि मैं वही हूँ और मेरे कपोल भी वही हैं किन्तु आपकी दृष्टि वह नही है—मेरे कपोल पर नही आती।" इस सारे वाक्य की विशेषता से यह व्यग्यार्थ सूचित होता है कि आपका प्रेम मुझ पर नही, उसी युवती पर है जो अभी यहाँ बैठी हुई थी। अत यह वाक्य-वैशिष्ट्य है।

ध्वनि और उसके भेद

व्यजना व्यापार से प्राप्त अर्थ को ध्वनि कहते हैं। आचार्यों ने ध्वनि के बहुत

भेद किए हैं। स्थूल रूप से ध्वनि दो प्रकार की होती है—

(१) अभिधामूला ध्वनि।

(२) लक्षणामूला ध्वनि।

अभिधामूला ध्वनि—इसे विवक्षित अन्य पर वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि इसमें वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का सहायक होता है। इसके भी दो भेद किए जाते हैं—

(क) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

(ख) सलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

असलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम प्रतीत नहीं होता तब उसे असलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं। इसके आठ भेद माने जाते हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

असलक्ष्य क्रम व्यंग्य के आठ भेद

(१) रस

(२) रसाभास

(३) भाव

(४) भावाभास

(५) भावशान्ति

(६) भावोदय

(७) भावसन्धि

(८) भावशवलता

(१) रस की विवेचना रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत हो चुकी है।

(२) रसाभास—जब रस-निष्पत्ति में या तत् विधायक विभावादि में किसी भी प्रकार का अनौचित्य दोष आ जाता है। तब उसे रसाभास कहते हैं। उदाहरण के रूप में हम केशव का यह दोहा ले सकते हैं—

"केशव केसनि अस करी जस अरिहू न कराँहि।
चन्द्र वदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जांय॥"

यहाँ पर वयोवृद्ध महाकवि केशव की चन्द्रवदनी बालाओं के प्रति अनुराग-वृत्ति की व्यंजना अनौचित्यपूर्ण होने के कारण रसाभास उत्पन्न कर रही है—

(३) भाव—'प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि, सचारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र रति आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं।"—साहित्यदर्पण।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार भाव के केवल तीन भेद हुए—

(क) प्रधान रूप से प्रकट होने वाले सचारी आदि।

(ख) देवादि विषयक रति।

(ग) केवल उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव।

(क) प्रधान रूप से प्रगट होने वाले सचारी के उदाहरण के रूप में हम सूर का निम्नलिखित पद ले सकते हैं। यहाँ पर शका नाम के सचारी की प्रधानता व्यजित की गई है—

"मधुकर! देखि श्याम तन तेरो
हरिमुख की सुन मीठी बातें डरपत है मन मेरो॥"

(ख) देवादिविषयक रति के उदाहरण में हम सूर का निम्नलिखित पद ले सकते है—

"चरण कमल बन्दौं हरि राई।"

(ग) उद्‌बुद्ध मात्र स्थायी के रूप में तुलसी की ये पक्तियाँ ली जा सकती है—

"जो राउर अनुशासन पाऊँ, कदुक इव ब्रह्माड उठाऊँ।
काँचे घट ज्यो डारौं फोरी, सकौं मरु मूलक इव तोरी॥"

भावाभास—भाव-व्यजना के किसी पक्ष में जब अनौचित्य दोष आ जाता है तब वहाँ भावाभास असलक्ष्यक्रम व्यग्य नामक ध्वनि मानी जाती है—

"दरपन में निज छाँह सग लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की ल्याई अँखियन माँहि॥" —काव्यदर्पण

भावशान्ति—जब एक प्रवेग से उदय होते हुए भाव की कारण विशेष शान्ति दिखाई जाय तब भावशान्ति नामक असलक्ष्यक्रम व्यग ध्वनि होती है। उदाहरण रूप में प्रियप्रवास का यह छद दृष्टव्य है—

"अतीव उत्कठित ग्वाल वाल हों
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे
न देखते थे जब वे मुकन्द को॥"

भावोदय—जहाँ एक भाव के शान्त होते ही किसी दूसरे भाव का चमत्कार-पूर्ण उदय दिखाया जाय, वहाँ भावोदय का होना माना जाता है। भावशान्ति के प्रसग में उद्‌धृत छद की अतिम पक्ति में भावोदय की स्थिति भी दिखाई पडती है।

भाव सन्धि—जहाँ पर समान चमत्कार विधायक दो भावों का एक साथ उदय दिखाया जाय, वहाँ भाव सन्धि का होना बताया जाता है। सूर के इस पद में प्रेम भाव के अन्तर्गत झुँझलाहट का भाव देखिए—और सन्धि भी देखिए—

"तब तू मारबोई करत।
रिसनि आगे कहे जो आवत अब लै भाडें भरति।"

भावशबलता—जहाँ एक ही क्रम से दो से अधिक चमत्कारकारक समान भावों का उदय हो वहाँ भावशबलता होती है। इसके उदाहरण रूप में हम सूर का निम्नलिखित उदाहरण ले सकते हैं—

"नद ब्रज लीजे ठोक वजाय
देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी गोकुलराय।"

यहाँ पर उत्सुकता, अधीरता, विरक्ति और खिझलाहट आदि कई भावो का एक साथ मिश्रण किया गया है।

सलक्ष्यक्रम व्यग्य-ध्वनि

"जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम सलक्ष्य होता है उसे सलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि कहते हैं। इसकी प्रतीति कही शब्दशक्ति द्वारा और कही उभय-शक्ति द्वारा होता है। इसी आधार पर इसके तीन भाग माने गए हैं—

(१) शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

(२) अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

(३) उभयशक्ति उद्भव अनुरणनि ध्वनि।

शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उसी शब्द से, न कि उसके पर्यायवाची शब्द से व्यग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि होती है। इसके भी दो भेद होते हैं—

(१) वस्तु ध्वनि।

(२) अलकार ध्वनि।

जिस ध्वनि में कोई अलकार न होगा, वहाँ तो वस्तु ध्वनि होगी और जिस ध्वनि में कोई अलकार होगा उसे अलकार ध्वनि कहेगे। रसमजरी में वस्तु-ध्वनि का उदाहरण इस प्रकार दिया हुआ है—

"पत्थर थल है पथिक! इत पत्थर कहुँ न लखाय
उठे पयोधर देख जो रह्यो चहत, रहि जाय।"

यह उक्ति स्वय दूतिका नायिका की है। इसका वाच्यार्थ है—हे पथिक, यह पहाडी देश है। यहाँ विछौने आदि नही हैं। यदि उठे हुए बादलो को देखकर आपकी इच्छा आगे न जाकर यहाँ ठहरने की हो, ठहर जाइए। व्यग्यार्थ शृगारिक है। नायिका ध्वनित करती है यदि मेरे उठे हुए पयोधर आपको आकृष्ट करते हो तो रात यही सुख से बिताइए। इस देश में हे पथिक शास्त्र-नियमों को कोई नहीं मानता। व्यग्यार्थ में कोई अलकार न होने के कारण ही इसे वस्तु-ध्वनि का उदाहरण माना गया है।

अलकार ध्वनि—इसका उदाहरण रसमजरी में इस प्रकार मिलता है—

"उपादान सभार विनु जगत चित्र विनु भीत,
कलाकार हर ने रच्यो वन्दों उन्हे विनीत।"

इसका अभिधामूलक अर्थ सरल और स्पष्ट है। इसमें भगवान शकर की अलौकिक चित्रकला-नैपुण्य व्यजित किया गया है। इसमें व्यजना के सहारे सामान्य चित्रकार की अपेक्षा भगवान् शकर की अतिरेकता व्यजित की गई है। इसमें व्यतिरेक अलकार का समावेश हो गया है, इसीलिए यहाँ अलकार-ध्वनि मानी गई है।

अर्थ-शक्ति उद्भव अनुरणन-ध्वनि—जहाँ किसी रचना में किसी शब्द विशेष के पर्यायवाची शब्द के प्रयोग होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में कोई अन्तर नही

पडता वहाँ अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि होती है।

व्यजक अर्थ के आधार में भी तीन भेद होते हैं—

(१) स्वत सम्भवी।

(२) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध।

(३) कवि निवद्ध पात्र की प्रौढोक्ति मात्र से सिद्ध।

इनके भी क्रमश भेदोपभेद होते हैं। विस्तार भय से इन सवका विवेचन नही कर रहे हैं।

शब्द और अर्थ उभयशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—'जहाँ कुछ पदो का परिवर्तन न होने पर कुछ पदो का परिवर्तन होने पर व्यग्य सूचित हो वहाँ शब्दार्थ उभयशक्तिमूलक अनुरणन ध्वनि होती है। इसका उदाहरण रसमजरी में इस प्रकार दिया है—

"अनुपम चन्द्राभरन जुत मनमथ प्रवल वढातु,
तरल तारका कलित यह, श्याम ललित सुहातु।"

श्लेप के वल पर इसके दो वस्तुगत वाच्यार्थ निकलते हैं—एक रात्रि-परक है, और दूसरा रमणीपरक। रात्रिपरक अर्थ इस प्रकार है—चन्द्रमा से विभूषित तारको से युक्त काम को उद्दीप्त करनेवाली रात्रि शोभित हो रही है। रमणीपरक अर्थ लेने पर श्यामा का अर्थ रमणी लिया जाय तो इस प्रकार होगा—चन्द्राभूषण से अलकृत चपल तारको वाली रमणी काम-भावना उद्दीप्त करती हुई शोभायमान हो रही है। यदि 'चन्द्रतरल' और 'श्यामा' शब्दो के लिए पर्यायवाची शब्द रख दिए जायें तो उपर्युक्त दो अर्थ नही लग सकते। इस दृष्टि से तो यहाँ शब्दशक्ति मूलकता है। किन्तु 'आभरण' और 'वढात' शब्द के पर्यायवाची रख देने पर भी उपर्युक्त दोनो अर्थों में अतर नही पड सकता। यह अर्थशक्ति मूलकता हुई। इसीलिए उसे उभयशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि का उदाहरण माना गया है। इस प्रकार ध्वनि में १८ भेद हुए। इनके भी क्रमश पदगत, वाक्यगत, प्रवधगत, पदाशगत, वर्णगत और रचनागत आदि भेद मिलाकर ५१ प्रकार की ध्वनियाँ हो जाती हैं। फिर इनके सकर और ससृष्टि से सैकडो भेदोपभेद होते जाते हैं। प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि के १०,४५५ भेद वतलाए हैं। उन सवका उल्लेख करने से एक विशाल ग्रथ वन सकता है।
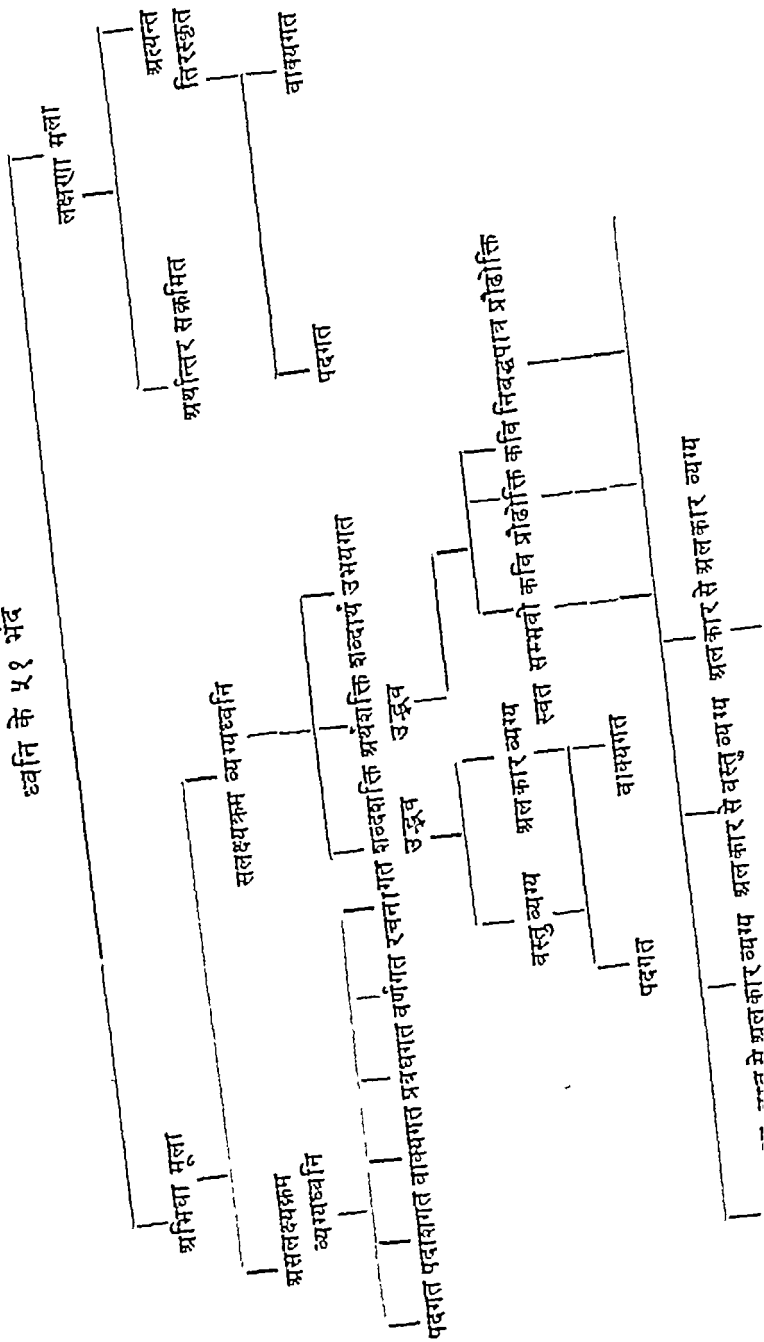
ध्वनि के ५१ भेद
लक्षणा मूला
अर्थान्तर संक्रमित
अत्यन्त तिरस्कृत
पदगत
वाक्यगत
अभिधा मूला
सलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि
असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि
पदगत पदांशगत वाक्यगत प्रबंधगत वर्णगत रचनागत
शब्दशक्ति उद्भव
अर्थशक्ति उद्भव
शब्दार्थ उभयगत
वस्तु व्यंग्य
अलंकार व्यंग्य
पदगत
वाक्यगत
स्वत सम्भवी
कवि प्रौढोक्ति
कवि निबद्धपात्र प्रौढोक्ति
अलंकार से वस्तु व्यंग्य
अलंकार से अलंकार व्यंग्य

अलंकार सम्प्रदाय

भारतीय साहित्यशास्त्र में अलकार अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व रखते हैं। साहित्य को सुसज्जित करने वाले उपादान के रूप में तो अलकारो का विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता आया है। पर कुछ आचार्यों ने इन्हे काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करके अलकार सम्प्रदाय की स्थापना की है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और अनुवर्ती आचार्यों का अलकार विवेचन विवादास्पद होते हुए भी रोचक है।

अलकार शब्द की व्युत्पत्ति, व्याख्या और स्वरूप-निरूपण—अलकार सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक 'वामन' ने 'सौन्दर्यमलकार' कहकर अलकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची माना है। 'भामह' से पूर्व अलकार शब्द काव्य के वाह्य और आन्तरिक दोनो रूपो को अलकृत करने वाले सभी उपादानो के लिए प्रयुक्त होता था। अत साहित्यशास्त्र के स्थान पर भी अलकारशास्त्र शब्द प्रचलित था। किन्तु बाद में काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में आचार्यो में मतभेद होने पर अनेक सम्प्रदायो का उदय हुआ। अलकारशास्त्र के स्थान पर साहित्यशास्त्र शब्द प्रयुक्त किया गया। अलकार के व्यापक अर्थ का तिरोभाव हो गया। वह अपने सकुचित अर्थ में काव्य के अनित्य धर्म के रूप में ग्रहण किया गया। किन्तु अलकारवादी आचार्यों ने काव्य में इनके महत्त्व को स्थिर करते हुए इनका स्वरूप निरूपण किया है। कुछ प्रमुखाचार्यों द्वारा दी गई अलकार की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

भामह—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलकृति ।
अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलकार है।
दण्डी—'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।'
अर्थात् अलकार काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने वाले धर्म हैं।
वामन—'काव्य ग्राह्यमलङ्कारात् सौन्दर्यमलङ्कार ।'
अर्थात् अलकार द्वारा ही काव्य ग्राह्य होता है और सौन्दर्य ही अलकार है।
रुद्रट—'अभिधानप्रकारविशेषा एव चालकारा ।'

ये सभी विद्वान् अलकारवादी थे। अत अलकार से इनका तात्पर्य काव्य के वाह्य रूप को अलकृत करने वाले तत्त्व से ही नही है बल्कि रस, गुण आदि काव्य की अन्तरात्मा को पुष्ट करने वाले सभी तथ्यो का विकास इन्होने अलकार के द्वारा ही मानकर काव्य में अलकार का समवाय सम्बन्ध स्थिर किया है। इसे वे काव्य का स्थिर धर्म मानते हैं। किन्तु ध्वनिवादी आचार्यो ने अलकार को रस भाव आदि के सहायक उपादान के रूप में काव्य का अस्थिर धर्म माना है। वे अलकार का कार्य काव्य को सुसज्जित करना मात्र मानते हैं। रसवादी विश्वनाथ की परिभाषा इस प्रकार है—

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥" —साहित्यदर्पण

अर्थात् अलकार काव्य-शोभा को बढाने वाले, रस, भाव आदि के उत्कर्ष में सहायक शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। अगद आदि आभूषणो के समान ही यह अस्थिर धर्म भी काव्य के आभूषण या अलकार कहलाते हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् शुक्ल जी भी रसवादी ही थे। उन्होंने भी अलकार की परिभाषा रसवादी आचार्यों के समान ही दी है। यह परिभाषा इस प्रकार है—

"भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव करने में कभी-कभी सहायक होने-वाली युक्ति अलकार है।"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों के समान शुक्ल जी भी अलकारो को काव्य के अस्थिर धर्म मानते हैं। परिभाषा में 'कभी-कभी' शब्द का प्रयोग इसी ओर सकेत कर रहा है।

काव्य में अलकारों का स्थान और महत्त्व—अलकार की उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि काव्य में अलकार प्रमुख दो रूपो में दृष्टिगोचर होते हैं—

१ 'भामह' आदि अलकारवादी आचार्यों के अनुसार काव्य-शोभा के सृष्टिकारक स्थायी धर्म के रूप में।

२ काव्य-शोभा के सृष्टिकारक नही, वलिक वृद्धिकारक अस्थायी धर्म के रूप में। अलकार को इस रूप में ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने ग्रहण किया है।

उपर्युक्त दोनो रूपो में अलकार शब्द सौन्दर्य विधान करने के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। काव्य में अलकार शब्द सार्थक है। इसकी व्युत्पत्ति अलम् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है आभूषण। अत भूषित करने वाले उपादान ही अलकार हैं। अलकार साहित्य सृष्टि के सभी कालो में किसी न किसी रूप में अवश्य प्रयुक्त हुए हैं। यह शब्द में, अर्थ में, या शब्द और अर्थ दोनो में ही होते हैं प्रायः चमत्कारवादी लेखक शब्दालकारो को ही महत्त्व देते हैं। राजा भोज ने अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में शब्दालकारो की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलकर्तुमिहक्षमा
शब्दालङ्कारसज्ञास्ते।"

जो शब्दो के वैचित्र्य द्वारा काव्य को अलकृत करते हैं वे शब्दालकार कहलाते है। किन्तु जो शब्द अर्थ-गाम्भीर्य के प्रदर्शक होते हैं वे अर्थालकार कहलाते है।

"अलमर्थमलंकर्तु यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादय प्राज्ञै स्तेऽर्थालङ्कारसज्ञया॥"

वास्तव में अर्थगत उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करने में सहायक होता है। 'अग्निपुराण' में यद्यपि 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्' कहकर रस को महत्ता दी गई है, किन्तु साथ ही साथ अर्थालकार की महत्ता को भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"अर्थालङ्काररहिता विधवेव भारती।"

भामह आदि अलकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो अलकारो को ही काव्य का सर्वस्व माना है। रस का उद्भव भी वे रसवत् नामक अलकार से ही मानते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यो की अलकार की परिभाषाएँ ऊपर दी जा चुकी हैं। उनसे काव्य में उनके अलकार सम्बन्धी मत की पुष्टि हो जाती है। इन आचार्यों के मत का विवेचन करते हुए रुय्यक ने 'अलकारसर्वस्व' में यह निष्कर्ष दिया है—

"अलकारा एव काव्ये प्रधानमितिप्राच्याना मतम् ।"

अर्थात् प्राच्य साहित्याचार्यों ने काव्य में अलङ्कार को ही प्रधानता दी है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने अलकारो को अग रूप में स्वीकार किया है। ध्वनिकार ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा है—

"अगाश्रितास्त्वलकारा मन्तव्या कटकादिवत् ।"

अर्थात् काव्य में अलकारो की स्थिति अग रूप में कटक आदि आभूपणों के समान होती है। ध्वनि के पोपक आचार्यों ने व्यग्यार्थ को काव्य का प्रधान अग कहा है। किन्तु वे गुणीभूत व्यग्य जिसमें ध्वन्यार्थ और वाच्यार्थ दोनो समान रहते है और केवल वाच्यार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते है। इस प्रकार के काव्य में कवि अपनी प्रतिभा द्वारा अलकारादि के समावेश से काव्यत्व प्रदान करते हैं—

"ध्वनेरित्थ गुणीभूतव्यग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदिस्यात्प्रतिभागुण ॥"

अर्थात् यदि कवि प्रतिभाशाली है तो ध्वनिरहित गुणीभूतव्यग्य और वाच्यार्थ मात्र युक्त काव्य में भी काव्यत्व का अभाव नही हो सकता। ध्वनिकाव्यो में अलकार का समावेश कवि की प्रतिभा की सहज प्रवृत्ति द्वारा ही हो जाता है। उसके लिए वे न चिन्ता ही करते हैं और न प्रयास ही। 'ध्वन्यालोक' की यह पक्तियाँ देखिए—

"अलकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतस ।
प्रतिभानवत कवे अहपूर्विकया परापतन्ति ॥"

अर्थात् काव्य में रस की ओर दृष्टि रखने वाले प्रतिभावान कवियो को निरूप्यमाण की कठिनाई होने पर भी अलकार की चिन्ता नही करनी पडती। अलंकार स्वत ही प्रथम स्थान ग्रहण करने के लिए एक के बाद एक समाविष्ट होते जाते हैं।

किन्तु रस रहित काव्य को अलकार भी अलकृत नही कर सकते—

"तथाहि अचेतन शवशरीर कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति,
अलकार्यस्याभावात् ।' —ध्वन्यालोकलोचन

अर्थात् जिस प्रकार प्राणरहित शव में कुण्डल आदि शोभा नहीं देते उसी प्रकार काव्य में अलकार्य या रस के अभाव में अलकार भी निरर्थक हैं।

अत. ध्वनिवादी आचार्यों ने रस-भाव आदि के उत्कर्ष के लिए अलकारो को काव्य में महत्ता दी है। आचार्य मम्मट ने भी ध्वनिवादी आचार्यों के समान व्यग्यार्थ को काव्य में महत्त्व दिया है किन्तु व्यग्य-रहित अलकारयुक्त रचना में भी काव्यत्व की स्थिति मानी है। मम्मट ने अलकारो का काव्य में स्थान निर्धारित करते हुए उनका सामान्य लक्षण इस प्रकार दिया है—

"उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥" —काव्यप्रकाश ८।६७

मम्मट ने अलकारो को रस का नित्य धर्म नहीं कहा है बल्कि नीरस काव्य में भी अलकारों का प्रयुक्त किया जाना कहा है। अपनी काव्य-परिभाषा में मम्मट ने 'अनलकृती पुन क्वापि' कहकर काव्य में सदा अलकार की स्थिति

आवश्यक भी नही मानी है। 'चन्द्रालोक' के प्रणेता जयदेव ने मम्मट के उस मत का खण्डन करते हुए काव्य में सदा ही अलकारों की उपस्थिति को महत्त्व देते हुए लिखा है—

"अगी करोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती"—चन्द्रालोक १।८

अर्थात् जो शब्दार्थ विशिष्ट काव्य को अलङ्काररहित मानते हैं वे फिर अग्नि को अग्नित्व से रहित भी मान सकते हैं।

जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि अलकार सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे इन्होने ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में एक वार फिर अलकार की महत्ता को काव्य में स्थिर करने का प्रयत्न किया था किन्तु ध्वनि और रस सिद्धान्तो के सम्मुख इनका मत अधिक मान्य न हो सका। हिन्दी में केशवदास अलकारवादी आचार्य थे।

इस प्रकार अलकार सदैव ही काव्य में किसी न किसी रूप में मान्य रहे हैं। काव्य में अधिकतर रस और गुण के पश्चात् अलकार का स्थान निर्धारित किया जाता है।

अलंकार और अलकार्य का भेद—अलकार और अलकार्य दोनो काव्य के प्रमुख पक्षो के सहायक तत्त्व हैं। काव्य के भाव और कला दो पक्ष हैं। अलकार्य जिसके अन्तर्गत रस वस्तु आदि आते हैं, भाव पक्ष से सम्बन्धित है। अलकार का सम्बन्ध उसके कला-पक्ष से है। अत भाव-पक्ष और कला-पक्ष में जो सम्बन्ध और विभेद है वही अलकार और अलकार्य में भी हो सकता है। डा० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष के सम्बन्ध की नित्यता की ओर सकेत करते हुए कहा है—

"दोनो का नित्य सम्बन्ध है, जो सदा अक्षुण्ण वना रहता है। जहाँ एक का दूसरे से विछोह हुआ वहाँ काव्य की अन्तरात्मा को अपने को प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती।"

—रस और शैली, पृ० ३०२

काव्य की अन्तरात्मा है रस। रस को क्रियाशील बनाने वाला कला-पक्ष ही होता है। कला-पक्ष के अन्तर्गत शैली सम्बन्धी सभी तत्त्व आ जाते हैं। अलकार शैली का एक ही तत्त्व और विशेषता है। कुशल कलाकार की शैली में यह नित्य रूप से वर्तमान रहते हैं। उनकी वाणी विना प्रयास के ही सुन्दरतम अलकारो की सृष्टि करती चलती है। हिन्दी साहित्य के भक्ति युग की रचनाओं में अलकारो की योजना इसी रूप में मिलती है। काव्य में अलकार जहाँ इस रूप में प्रयुक्त हुए हैं वहाँ वे रस के उत्कर्ष के आवश्यक उपादान सिद्ध हुए हैं। इसके विपरीत जब अलकारो का प्रयोग चमत्कारवाद की प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है तो रस से उनका यह सहज सम्बन्ध विच्छिन्न-सा होता दिखाई पडता है। उसका स्वाभाविक सौन्दर्य विकृत हो जाता है और वे काव्य में क्लिष्टत्व दोष का समावेश करने लगते है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से अलकार और अलकार्य में कोई भेद नही कहा जा सकता। पाश्चात्य कलावादी और अभिव्यञ्जनावादी विद्वान् इसी दृष्टिकोण को लेकर दोनो के भेद को निराधार सिद्ध करते हैं। दार्शनिक क्रोचे की ये पंक्तियाँ देखिए—

"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression Externally? In that case it must always remain seperate Internally? In that case either it does not assist expression and mars it, or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole"

(Expression & Rhetoric Croce)

अर्थात् यह प्रश्न हो सकता है कि अलकार का समावेश अलकार्य में कैसे किया जा सकना है। यदि वाह्यात्मक रूप से किया जाय तो वह उसके साथ ऐक्य नही स्थापित कर सकता। यदि आन्तरिक रूप में किया जायगा तभी वह या तो स्वयप्रधानता ग्रहण कर भाव-व्यञ्जना में वाधक हो जायगा या भाव का मूल तत्त्व होकर अलकार रूप न रहकर भाव के साथ अभिन्न हो जायगा।'

क्रोचे के अनुसार कुशल काव्यकार की कृति में अलङ्कार अलकार्य में समाविष्ट होकर अभिन्न हो जाते हैं। किन्तु यह मत दार्शनिक गाम्भीर्य से युक्त है। व्यावहारिक रूप में अलकार और अलकार्य का स्पष्ट भेद दृष्टिगत होता है। भारत में भी इस दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार 'गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' कहकर दोनो के अभेद को स्वीकार किया गया है किन्तु व्यावहारिक रूप से हमारे सस्कृत आचार्य दोनो को पृथक् ही मानते रहे है। वक्रोक्तिवादी कुन्तल ने अलकार और अलकार्य के भेद को आवश्यक ही माना है—

"शरीरचेदलङ्कार किमलङ्कुरुतेऽपरम्
आत्मैव नात्मन स्कन्ध क्वचिदप्यधिरोहति" वक्रोक्तिजीवित (१।१४)

अर्थात् यदि शरीर को अलकार भी कहा जाय तो वह दूसरी वस्तु को अलकृत कैसे करेगा क्योंकि शरीर तो अलकार्य है। कोई स्वय ही अपने कन्धे पर नही चढ सकता।

काव्य में अलकार्य अलकारयुक्त होता है तभी सफल काव्य का निर्माण होता है। किन्तु उसमें अलकार की प्रथम स्थिति भी स्पष्ट दिखाई पडती है। जैसा कि कुन्तल की इस उक्ति में कहा गया है—

"अलकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते
तदुपायतया तत्त्व सालङ्कारस्य काव्यता" —वक्रोक्तिजीवित १।७

अलकार और गुणो में भेद—काव्य में अलकार और गुण दोनो ही अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। किन्तु दोनो के स्थान और कार्य में अन्तर है। वामन से पूर्व के सस्कृत आचार्यों ने तो गुण और अलकार में कोई भेद ही नही माना है। भामह ने 'काव्यालकार' में भाविक अलकार के लिए गुण शब्द का प्रयोग किया है—

'भाविकत्वमितिप्राहु प्रवन्धविषयगुणम् —का० ला० ३।५३

दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में कई स्थलो पर अलकार और गुण दोनो के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि वह गुण और अलकार में कोई भेद

नही मानने थे। अत· इन आचार्यों ने गुणो का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नही किया है।
'अग्निपुराण' में गुण का लक्षण निम्नांकित शब्दो में दिया गया है—

"य काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुण"

अर्थात् काव्य में अनुपम शोभा का समावेश करने वाले कारण गुण हैं।

किन्तु दण्डी ने अलकार की परिभाषा देते हुए अलकारो को ही काव्य शोभा का कारण माना है—

"काव्य शोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते"

इन परिभाषाओं से गुण और अलकार का भेद स्पष्ट नहीं होता। दोनो ही काव्य शोभा कारक धर्म कहे गए हैं।

अग्निपुराण में रस, गुण और अलकार तीनो की एक साथ स्थिति को आवश्यक बताते हुए तीनो के रूप और महत्त्व पर अलग-अलग विचार किया गया है। उसमें अलकार को स्त्री के आभूषण और गुणो को स्त्री के सौन्दर्य के समकक्ष कहा है। 'अर्थालकार रहिता विधवेव भारती' कह कर काव्य में अलकार की महत्ता प्रतिपादित की गई है किन्तु गुणो को अलकार से श्रेष्ठ स्थान देते हुए लिखा है—

"अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्य निर्गुण भवेत्
वपुष्यललिते स्त्रीणा हारो भारायते परम्" —अग्निपुराण ३४६।१

अर्थात् गुण-रहित काव्य यदि अलकारयुक्त भी हो तो भी मनोरञ्जक नही हो सकता। जिस प्रकार सौन्दर्यविहीन स्त्री पर आभूषण शोभित नही होते बल्कि भार रूप ही प्रतीत होते हैं।

अग्निपुराण के बाद गुण और अलकार के भेद की स्पष्ट व्याख्या करने वाले आचार्य वामन हैं। वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिपक्षी थे। इन्होने रीति में गुण को सर्वप्रमुख स्थान दिया है—

"विशिष्ट पद रचना रीति"

अर्थात् विशिष्ट गुणों से युक्त रचना ही रीति है। गुण को ये रस से भी श्रेष्ठ मानते हैं। 'दीप्तरसत्व कान्ति' इस सूत्र में रस को कान्ति गुण के अन्तर्गत ही स्थान दिया है। गुण और अलकार के भेद को स्पष्ट करते हुए वे लिखते है—

"काव्यशोभाया कर्त्तारोधर्मा गुणा
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा"—काव्यालकारसूत्र ३।१।१,२

अर्थात् गुण काव्य शोभाकारक धर्म है और अलकार इस शोभा को अतिशय या बढ़ाने वाले हेतु हैं।

वामन ने गुण-रहित और अलकारयुक्त रचना में काव्यत्व नही माना है। 'काव्यालकारसूत्र' में एक स्थल पर वे गुणो की उपमा युवती के सहज सौन्दर्य और शालीनता आदि सहज गुणो से देते हुए लिखते हैं—

"युवतेरिवरुपमङ्गकाव्य स्वदते शुद्धगुण तदप्यतीव,
विहितप्रणयं निरन्तराभि सदलङ्कारविकल्पनाभि ॥

यदि भवति वचश्च्युत गुणेभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनाया
अपि जनदयितानि दुर्भगत्व नियतमलकरणानि सश्रयन्ते"
—काव्यालकारसूत्र ३।१।२ वृत्ति

अर्थात् गुणो से युक्त काव्य यदि अलकाररहित भी हो तो भी आस्वादनीय है जिस प्रकार आभूषण रहित युवती-सौन्दर्य भी रसिक जनो के लिए आकर्षक होता है। गुणयुक्त काव्य यदि अलकारयुक्त भी हो तो वह और भी रोचक हो जाता है जिस प्रकार सुन्दर युवती का सौन्दर्य आभूषण धारण करने पर और भी बढ जाता है। इसके विपरीत गुणरहित पर अलकारयुक्त काव्य मनोरञ्जक नही होता वल्कि दुर्भग या अनादरणीय हो जाता है।

महाराजा भोज ने 'सरस्वतीकठाभरण' में अग्निपुराण और वामन के मत का मडन करते हुए काव्य में अलकार की स्थिति ऐच्छिक और गुण की स्थिति आवश्यक बताई है—

"अलकृतमपि श्रव्य न काव्य गुणवर्जितम्
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयो"—सरस्वती कण्ठाभरण, १।५६

आचार्य उद्भट ने स्पष्ट शब्दो में गुण और अलकार में भेद मानने वाले आचार्यों के मतो पर इन शब्दो में आक्षेप किया है।

"एव च समवायवृत्या शौर्यादय सयोगवृत्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणा भेद । ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीना चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डुलिका प्रवाहेणैवेषा भेद

अर्थात् विद्वानो ने मनुष्य के शौर्य आदि गुणो के समान काव्य में गुणो का सम्बन्ध समवाय और हार आदि आभूषणो के समान अलकारो का सम्बन्ध सयोग मात्र माना है। किन्तु यह मत गड्डुलिका प्रवाह (भेडियाधसान) मात्र है। मनुष्य के गुणो और आभूषणो में लौकिक होने के कारण भेद हो सकता है किन्तु काव्य अलौकिक वस्तु है अत. गुण और अलकार भी अलौकिक दृष्टि से नित्य और भेदहीन है।

आचार्य मम्मट का मत उद्भट और वामन के मत के विरोध में हैं। उद्भट ने अलकार और गुण को समान माना है और वामन ने गुण को ही रीति में सर्वश्रेष्ठ कहा है किन्तु मम्मट ने रस को काव्य का प्राण बताते हुए गुण को रस का उत्कर्षक नित्य धर्म कहा है—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा"—काव्यप्रकाश ८।६६

अर्थात् आत्मा के शौर्य आदि गुणो के समान काव्य-गुण रस के आश्रित धर्म, उत्कर्ष के हेतु और रस के साथ अचल या नित्य रहने वाले है।

इसके विपरीत वह अलंकार को रस के धर्म नही वलिक शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म मानते हैं। रस के साथ अलकार नित्य रूप में रहकर सदा ही उसका उत्कर्ष नही करते। अलकार का लक्षण वे इस प्रकार देते हैं—

"उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय"—काव्यप्रकाश ८।६७

मम्मट ने वामन द्वारा दी गई गुण की परिभाषा का भी विरोध किया है। उनका मत है कि गुण काव्य के शोभाकारक धर्म और अलंकार उनके उत्कर्षक नही होते। कुछ निम्न कोटि के ऐसे भी काव्य होते हैं जिनमें गुण की अप्रधानता और अलंकारो की प्रधानता होते हुए भी उसमें काव्यत्व मान लिया जाता है। विश्वनाथ आदि अन्य रसवादी आचार्यों ने भी गुण को रस का नित्य-धर्म और अलकार को अंग रूप में स्वीकार किया है। ध्वनिकार गुण को व्यग्यार्थ ही मानते हैं।

इस प्रकार गुण और अलकार के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद रहा है। काव्य में रस, गुण और अलकार तीन प्रमुख तत्त्व होते है। किसी ने रस की महत्ता स्वीकार की है, किसी ने गुण और अलकार की। विभिन्न मतो की व्याख्या करते हुए गुण और अलकार सम्बन्धी निम्नलिखित मत स्पष्ट होते हैं—

१ अलकारवादी आचार्यों का मत—ये गुण और अलकार को समकक्ष मानते हुए रस की स्थिति इन्ही के अन्तर्गत मानते है। इस मत के अनुयायी भामह, दण्डी, उद्भट आदि हैं।

२ रीतिवादी आचार्यों का मत—इस मत के प्रमुख अनुयायी वामन हैं। यह गुण को रीति का प्रधान तत्त्व और अलकार को गुण के उत्कर्ष का कारण मानते है। अत यह गुण को प्रथम और अलकार को द्वितीय स्थान देते है।

३ मम्मट आदि रसवादी आचार्यों का मत—इस मत के अनुयायी रस को काव्य का प्राण मानते है और गुण को इसका नित्य-धर्म कहकर काव्य में गुण को द्वितीय स्थान दिया है। अलंकार को वे अग रूप में स्वीकार करते हैं।

४. ध्वनिवादी आचार्य—ध्वनि को ही काव्य में प्रधानता देते हुए गुण को व्यग्यार्थ ही कहते है।

अलकारों का मनोवैज्ञानिक आधार—अलकारो का निर्माण बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है। अलकार कवि की वाणी को सौन्दर्य प्रदान करने के साधन मात्र हैं। कवि स्वभाव से ही सहृदय और कलाकार होते हैं। उनकी सहृदयता उनकी भावना को उद्दीप्त कर देती है और उनकी कलाप्रियता के कारण उद्दीप्त भावनाएँ स्वत· ही अलकृत हो जाती है। भावना की उद्दीप्ति मन के ओज पर निर्भर है अत मन के ओज को ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अलकारो के अस्तित्व का कारण माना गया है।

अलकारों के महत्त्व का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण भी है। अलकार किसी भी विषय को उक्ति-वैचित्र्य रूप में कहने का एक साधन है। कवि की यह स्वाभाविक धारणा होती है कि वह अपनी रचना को अधिक से अधिक रोचक बना सके। किसी बात को सीधे ढंग से यथातथ्य रूप में कह देने से उसका प्रभाव व्यापक नही होता। अत कवि जो कुछ अनुभव करते हैं उसे कल्पनामिश्रित अतिरञ्जित वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। कवि की इसी प्रवृत्ति के कारण दण्डी आदि सस्कृताचार्यों ने अतिशयोक्ति को ही समस्त अलकारो का मूल कहा है। इसी प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को तथा वामन ने औपम्य को अलकार का मूल माना है। अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, औपम्य चमत्कार इन सभी में रचना को अत्यधिक प्रभावात्मक बनाने की तीव्रतर कामना ही निहित है।

काव्य में अलकार रस के उत्कर्षक और सौन्दर्य का परिवर्धन करने वाले आवश्यक उपादान है। कवि की सौन्दर्यप्रियता के कारण ही विभिन्न अलकारो का अस्तित्व देखाई पडता है। अलकारो की मनोवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि अपनी-अपनी रुचि-वैशिष्टय के अनुसार अलकारो का प्रयोग करते हैं। अधिक आडम्बरप्रिय और चमत्कारप्रिय लेखको की सृष्टि में शब्दालकारो की बहुलता रहती है। सच्चे भावुक की रचना में इसके विपरीत अर्थालकारो का स्वाभाविक नियोजन मिलता है। विद्वानो ने मनोविज्ञान के आधार पर ही अलकारो का वर्गीकरण भी किया है। इनका मनोवैज्ञानिक आधार आत्मगत भावावेश और इन भावावेशो की प्रभावाभिव्यञ्जक रूप से व्यक्त करने की कामना ही कही जा सकती है। इसी मनोवृत्ति के अनुसार चमत्कार को अलकार का प्राण कहा गया है।

अलकारो का क्रम विकास—सस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ 'नाटयशास्त्र' में भरत मुनि ने केवल चार अलकारो का निर्देश किया है। इस ग्रन्थ के बाद का प्रामाणिक ग्रन्थ 'अग्निपुराण' है। इसमें अलकारो की सख्या १६ दी गई है। अग्निपुराण के बाद ईसा की छठी शताब्दी तक का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही किन्तु इस काल में भी अलकारो की सख्या का क्रमिक विकास होता रहा। इसका प्रमाण भामह और भट्टी के ग्रन्थो से मिल जाता है। भामह ने 'काव्यालकार' में ३८ अलकारो का उल्लेख किया है। ये अलकार भामह की अपनी नवीन उद्भावनाएँ नही हैं बल्कि इसमें भामह ने अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मतो को स्पष्ट किया है जिससे स्पष्ट होता है कि इन अलकारो का भामह से पूर्व ही विकास हो चुका था। ईसा की आठवी शताब्दी तक अलकारो की सख्या ५२ होगई थी। दण्डी, उद्भट, वामन आदि आचार्यों ने इनका उल्लेख किया है। ईसा की नवी शताब्दी में मम्मट, रुय्यक, रुद्रट, भोज आदि के समय में १०३ अलकारो का निर्माण हुआ। यह युग अलकार विकास का मध्य युग माना गया है। जयदेव, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक—जिनका समय ईसा की १८वी शताब्दी तक का है—यह सख्या १९१ तक परिवर्धित हो गई।

अलकारो का वर्गीकरण—अलकारो का निर्माण मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है। अतएव प्रत्येक अलकार में स्वरूप और भाव-वैचिश्य होते हुए भी उनके मूल तत्त्वो में साम्य रहता है। कुछ अलकारो के मूल तत्त्व एक ही आधार पर आधारित हैं। मूल तत्त्व की इसी एकात्मता के आधार पर अलकारो का वर्गीकरण किया गया है।

नवी शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम अलकारो का वर्गीकरण किया। उन्होंने अर्थालकारो का वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार विभागो के अन्तर्गत विभक्त किया है। यह विभाजन अलकारो की सजातीयता को दृष्टि में रखकर किया गया है किन्तु उनके मूल तत्त्वो पर गम्भीर रूप से विचार नही किया गया अत यह वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण नही हो सका। 'अलकारसर्वस्व' में रुय्यक द्वारा किया गया वर्गीकरण रुद्रट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी पुस्तक 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' (द्वितीय भाग) में रुय्यक द्वारा किए गए अर्थालकारो के वर्गीकरण का निर्देश किया है। रुय्यक ने अलकारो को सात वर्गों में विभक्त किया है—

१ सादृश्यगत या उपमागत—इस वर्ग के अन्तर्गत २८ अलकार रखे हैं। इन सभी अलंकारों का मूल सादृश्य या उपमा है। यह तीन प्रकार का होता है—

(i) भेदाभेदतुल्यप्रधान—इसमें उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण ये चार अलकार आते हैं। इसमें उपमेय और उपमान के साधर्म्य में भेद-अभेद नही रहता।

(ii) अभेदप्रधान—इसमें आठ अलकार आते हैं। इनमें उपमेय और उपमान के साधर्म्य में अभेद कहा जाता है। यह भी दो प्रकार के होते हैं—

आरोपमूल—जहाँ उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है। रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपन्हुति यह छ अलकार इसके अन्तर्गत रखे हैं।

अध्यवसायमूल—इसमें उपमेय से उपमान का अध्यवसान होता है। इसमें उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दो अलकार आते हैं।

(iii) गम्यमान औपम्य—इसमें साधर्म्य शब्द द्वारा स्पष्ट नही किया जाता वल्कि छिपा रहता है। इसके आठ प्रकार हैं और १६ अलकार इसमें आते हैं—

(१) पदार्थगतगम्य औपम्य—इसमें उपमेय और उपमान का सादृश्य एक पद में होता है—तुल्ययोगिता और दीपक।

(२) पदार्थगत गम्य औपम्य—इसमें वाक्य के अर्थ में गम्य सादृश्य रहता है—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना अलकार।

(३) भेदप्रधान—इसमें उपमेय उपमान में भेदपूर्वक गम्य साधर्म्य रहता है—व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति।

(४) विशेषण वैचित्र्य—इसमें विशेषण वैचित्र्य द्वारा गम्य सादृश्य रहता है—समासोक्ति और परिकर।

(५) विशेषण विशेष्य वैचित्र्य—श्लेष।

(६) अप्रस्तुतप्रशसा।

(७) अर्थान्तरन्यास।

(८) पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप।

२ विरोधमूल—इनका मूल तत्त्व विरोध है। इसमें १२ अलकार आते हैं—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कायकारण पौर्वापर्य्य विपर्यय), असगति और विषम।

३ शृंखलाबन्धमूल—इसमें एक पद या वाक्य का परस्पर सम्बन्ध शृखला की भाँति रहता है—कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

४. न्यायमूल—यह तर्क न्याय के आश्रित हैं—काव्यलिङ्ग और अनुमान।

५ काव्यन्यायमूल—यथासख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसख्या, समुच्चय और समाधि।

६ लोकन्यास—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण और उत्तर।

७ गूढ़ार्थ प्रतीति—इनके मूल में गूढार्थ रहता है—सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।

इन अलकारो के अतिरिक्त कुछ अलकारो को रुय्यक ने किसी भी वर्ग मे नही रक्खा है। वे अलकार निम्नलिखित हैं—

सकर और ससृष्टि (मिश्रित), स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रस, भाव सम्बन्धीय—रसवद्प्रेय, उर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता।

रसानुभूति में अलकारों का योग—कवि अपनी प्रतीयमान वाणी द्वारा जिस काव्य का निर्माण करते हैं उसमें पाठक के मन में सुप्तावस्था में स्थित भाव जाग्रत होने लगते हैं और उन्हे काव्य में व्याप्त रस की अनुभूति होने लगती है। काव्य में रस का सचार वे ही कवि कर सकते है जो अपनी भावनाओ का विम्ब ग्रहण कराने की क्षमता रखते हैं। विम्ब ग्रहण बहुत कुछ भाषा-शैली पर निर्भर है। अलकार भाषा शैली के ही एक प्रमुख अग हैं। इनके द्वारा भावो का स्पष्टीकरण अधिक सरलता से किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने एक स्थल पर कहा है—

"अलकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हो (जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुतप्रशसा, परिसख्या, व्याजस्तुति आदि में) चाहे वर्ण विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाए जाते हैं वे प्रस्तुत–भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही। मुख के वर्णन में जो कमल, चन्द्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इसीलिए जिनमें इनकी वर्ण-रुचिरता, कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग से सौन्दर्य की भावना और वढे।"

—कविता क्या है? पृ० १८१, चिन्तामणि

रसानुभूति भावनाओ के उत्तेजित होने पर ही होती है। अलकार भावना के उत्कर्षक उपादान के रूप में ही काव्य में प्रयुक्त किए जाने चाहिएँ। आचार्य मम्मट के अनुसार भी काव्य में अलकारो का प्रयोग चमत्कार शब्द-वैचित्र्य के लिए नही वल्कि अर्थ वैचित्र्य और रस के उत्कर्षक अग के रूप में किया जाना चाहिए।

काव्य में रस सचार के लिए रमणीयता का समावेश भी आवश्यक होता है शुक्ल जी ने कहा है कि स्वाभाविक रूप से की गई अलकार योजना से काव्य में रमणीयता आती है। वे अलकारो में चमत्कार के स्थान पर रमणीयता को ही आवश्यक मानते हैं, जिनमें 'शब्दकौतुक और अलकार सामग्री की विलक्षणता' नही रहती वल्कि भाव रूप क्रिया या गुण का उत्कर्ष करने की शक्ति रहती है। वे लिखते हैं—

"भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलकार की रमणीयता है।"

—अलङ्कार विधान, पृ० १४८—गोस्वामी तुलसीदास

अलङ्कारो की यह सहज रमणीयता ही काव्यरमणीयता का सृजन करती है और रसानुभूति में योग देती है।

अलङ्कार और रस का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध भी है। रसानुभूति में श्रोता या पाठक की चित्तवृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं। अलङ्कारो द्वारा काव्यगत अर्थ का सौन्दर्य भी चित्तवृत्तियो को प्रभावित कर भाव-गाम्भीर्य तक पहुँचा देना है। कवि की भावनाओं

कर्मों का यथातथ्य रूप पाठक के सम्मुख आ जाता है और रसानुभूति अधिक तीव्र हो जाती है।

अलकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य—अलकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य निम्नलिखित हैं—

भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ, अप्यय्य दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ।

भामह—भामह ने 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ में अलकार पर विस्तार से विचार किया है। भामह का यह ग्रन्थ अलकार सम्प्रदाय के उपलब्ध ग्रन्थो में सबसे प्राचीन है। भामह रक्रिल गोमिन के पुत्र थे। प्रो० नरसिंहागसर (Prof M. T. Narasinhiengar) और प्रो० पाठक आदि विद्वान् इन्हें बौद्धमतानुयायी मानते हैं।

'काव्यालकार' छ परिच्छेदो में विभक्त है। इसमें लगभग ४०० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य और कविता सम्बन्धी विषयो पर प्रकाश डाला है। द्वितीय और तृतीय परिच्छेद में गुण और अलकार की विवेचना की है। अलकारो का उल्लेख उनके क्रमिक विकास के अनुसार किया है। उसमें वर्णित अलकार निम्नलिखित हैं—

अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासख्य, उत्प्रेक्षा, प्रेयस, स्वभावोक्ति रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, सन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, ससृष्टि, भाविक, आशी। वक्रोक्ति की उसमें चर्चा नही है। चौथे और पाँचवें परिच्छेदो में काव्य दोषो पर छठे परिच्छेद में काव्य में सौशब्द्य (grammatical purity) पर प्रकाश डाला गया है। भामह और दण्डी के ग्रन्थो में बहुत सी बातें एकमतीय हैं। दोनो के समय में अधिक अन्तर नही है। दोनो ने ही मेधाविन् आदि कुछ पूर्वाचार्यों द्वारा निर्देशित अलकारो को ग्रहण किया है।

दण्डी—दण्डी ने 'काव्यादर्श' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। इसमें ६६० श्लोक और तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य और उसके भेद, सर्गबन्ध गद्य, साहित्य रीति गुण आदि की चर्चा है। द्वितीय परिच्छेद में अलकार का विवेचन ही। अलकार की परिभाषा देने के पश्चात् ३५ अलकार लक्षणोदाहरण सहित दिए गए हैं। दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म, लेश सकीर्ण अलकारो का भी उल्लेख किया है। यह अलकार भामह के अलकार ग्रन्थ में नही दिए गए हैं। तृतीय परिच्छेद में यमक अलकार का विस्तृत रूप से विवेचन करके प्रहेलिका और दोषो का स्पष्टीकरण किया गया है।

दण्डी ने अलकारो की अपेक्षा रीति और गुण पर अधिक प्रकाश डाला है। यह रीति या अलकार सम्प्रदायो में से किसी एक सम्प्रदाय विशेष के नहीं माने जा सकते।

दण्डी दक्षिण निवासी आचार्य थे। इनके जीवन से सम्बन्धित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। इनकी 'अवन्ति सुन्दरी कथा' (जिसे श्री आर० कवि ने १९२४ में प्रकाशित किया था) से इनका कुछ परिचय मिल जाता है। 'द्विसन्धान काव्य' दण्डीकृत तृतीय

ग्रन्थ है। इन ग्रन्थो की शैली भामह की अपेक्षा अधिक प्रवाहात्मक है। श्री वटुकनाथ शर्मा ने (Introductions to काव्यालकार, पृ० ४० में) दण्डी और भामह का समय 750 A. D के लगभग माना है।

उद्भट—आचार्य उद्भट ने 'अलकारसार सग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें ७९ कारिकाओ में ४१ अलकार परिभाषा और उदाहरणसहित दिए गए है। व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज ने लिखा है कि ये उदाहरण लेखक ने अपनी 'कुमारसम्भव' नामक रचना से लिये है। उद्भट ने भामह द्वारा निर्देशित अधिकाश अलकारो को ग्रहण किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि भामह के यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव अलकारो को छोड दिया है और पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, सङ्कर, काव्यालिङ्ग और दृष्टान्त यह नवीन अलकार वर्णित कर दिए है। निदर्शना को निदर्शना नाम दिया है और इसके एक ही भेद का उल्लेख किया है। उद्भट ने भामह की कुछ अलकार परिभाषाओ को ज्यो की त्यो ग्रहण कर लिया है जैसे आक्षेप अतिशयोक्ति यथासख्य, विभावना, पर्यायोक्त, अपह्नुति, अप्रस्तुतप्रशसा, सहोक्ति, सन्देह, अनन्वय आदि। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् आदि की परिभाषाएँ भिन्न होते हुए भी भामह की परिभाषाओ से बहुत मिलती है। फिर भी अलकार सम्प्रदाय के आचार्यों में उद्भट अपना विशेष महत्त्व रखते है। उद्भट ने यद्यपि भामह के मत को यत्र-तत्र ग्रहण किया है किन्तु अनेक स्थलो पर भामह से उसका मतभेद भी दिखाई पडता है। जैसे उद्भट ने भामह से भिन्न तीन वृत्तियाँ बतलाई है—परुषा, ग्राम्या और उपनागरिका। उद्भट के अलकार सम्बन्धी कुछ मौलिक सिद्धान्त है—उन्होने श्लेष को अर्थालकार के अन्तर्गत माना है और उसके शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष दो भेद किए है। आचार्य मम्मट ने इस मत की आलोचना की है। श्लेष को उद्भट ने अन्य अलकारो से श्रेष्ठ माना है। 'काव्यप्रकाश' में वर्णित उपमा के भेद भी उद्भट से ही ग्रहण किए हुए जान पडते है।

रुद्रट—रुद्रट-कृत 'काव्यालकार' १६ अध्यायो में विभक्त एक वृहद् ग्रन्थ है। इसमें काव्य सम्बन्धी सभी विषयो का उल्लेख है। रुद्रट ने पाँच शब्दालकारो का उल्लेख किया है—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। परिभाषा और उदाहरण और भेद द्वारा इन अलकारो को स्पष्ट किया है। इन्होने श्लेष के आठ भेद—वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन किए है। रुद्रट की एक नवीनता यह है कि इन्होने अर्थालकारो को—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चारो आधारो पर विभक्त किया है। वास्तव के अन्तर्गत २३ अलकार, औपम्य में २१, अतिशय में १२ और श्लेष में १४ अलकार शुद्ध श्लेष के और २ अलकार सकर के अन्तर्गत रखे है। इनके बाद अर्थ के ९ दोष और उपमा के ४ दोषो का उल्लेख किया है। रुद्रट के इन विभाजन में प्राय एक ही अलकार दो रूपो मे दो या तीन विभागो में भी रखे गए है जैसे सहोक्ति और समुच्चय अलकार वास्तव और औपम्य दोनो विभागो में मिलते है। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा भी औपम्य और अतिशय दोनो में आती है। इसके विपरीत अनेक भिन्न अलकारो का मिश्रण कर उनकी एक ही परिभाषा दी है जैसे उपमेयोपमा और अनन्वय को रुद्रट ने उपमा के ही भेद बताए है। कुछ अलंकारो के

प्रचलित नामो के स्थान पर रुद्रट ने दूसरे नाम रक्खे हैं—जैसे व्याजस्तुति के लिए व्याजश्लेप उदात्त के लिए अवसर, स्वभावोक्ति के लिए जाति और अतिशयोक्ति के चौथे भेद के लिए पूर्व नाम दिए है। रुद्रट के भाव, मत, साम्य और पिहित अलकार पूर्वाचार्यो में नही मिलते। रुद्रट ने रस सिद्धान्त की भी व्याख्या की है परन्तु अलकारो को विशेप महत्त्व देने के कारण यह अलकार सम्प्रदाय के प्रधानाचार्यों में माने गए हैं।

महाराजा भोज—महाराजा भोज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के दूसरे, तीसरे और चौथे परिच्छेदो में क्रमश शब्दालकार, अर्थालकार और शब्दार्थ उभयालकारो पर प्रकाश डाला है। अपने दूसरे ग्रन्थ 'शृंगारप्रकाश' में भी इन अलकारो का उल्लेख किया है। इन्होंने जाति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, गुम्फना, श्य्या, यमक, श्लेष, प्रहेलिका आदि २४ शब्दालकार निश्चित किए हैं। अर्थालकार भी २४ ही माने हैं—जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव। २४ अलकार इन्होंने शब्दार्थ उभयगत माने हैं वे इस प्रकार हैं—उपमा, रूपक, साम्य, सशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशसा, तुल्ययोगिता, लेश (व्याजस्तुति), सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेपोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेप, भाविक, ससृष्टि।

भोजराज की अलकार सम्बन्धी कुछ अपनी विशेपताएँ हैं। इन्होंने शब्द, अर्थ और उभय तीनो के अन्तर्गत चौबीस-चौबीस अलकार रखे हैं। 'अग्निपुराण' के आधार पर इन्होंने उपमा, आक्षेप, समासोक्ति और अपह्नुति अलकारो को शब्द और अर्थ दोनो में रक्खा है। रीति को भी शब्दालकार ही माना है।

आचार्य मम्मट—आचार्य मम्मट का 'काव्यप्रकाश' साहित्यशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मत पर आलोचनात्मक दृष्टि डालकर अपने नवीन सिद्धान्तो की स्थापना की है। अलकार क्षेत्र में भी मम्मट का कार्य प्रशसनीय है। रुद्रट के अलकार सम्बन्धी अनेक मतो को ग्रहण करते हुए भी यत्र-तत्र तीव्र आलोचना भी की है। उद्भट की श्लेप और अलकारो की परिभापाओ का भी विरोध किया है। वामन की आलोचना करते हुए गुण और अलकारो के भेद का व्याख्यात्मक दिग्दर्शन सर्वप्रथम 'काव्यप्रकाश' में ही मिलता है। शब्दालकार, अर्थालङ्कार और अलकार दोप पर भी प्रकाश डाला है। आचार्य मम्मट प्रमुख रूप से रसवादी आचार्य थे। अत इन्होंने अलकार को काव्य में प्रधान स्थान न देकर उसे रस के अग रूप में स्वीकार किया है और काव्य में अलङ्कार के स्थान की एक निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत की है।

रुय्यक—रुय्यक का 'अलकार सर्वस्व' अलकार का उल्लेखनीय ग्रन्थ है। इनका अलंकार-विवेचन मम्मट द्वारा किए गए विवेचन से अधिक स्पष्ट है। अलकारो की सख्या भी इन्होंने मम्मट से अधिक दी है जैसे परिणाम, रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशवल आदि अलकारो का उल्लेख 'काव्यप्रकाश' में नही मिलता। रुय्यक ने

विकल्प और विचित्र दो नवीन अलकार भी इस ग्रन्थ में दिए हैं। विश्वनाथ, कुवलयानन्द आदि परवर्ती आचार्यों ने रुय्यक के 'अलकार सर्वस्व' को महत्ता प्रदान करते हुए इससे बहुत सी बातें ग्रहण की हैं। रुय्यक ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' से अनेक स्थलो को उद्धृत कर उनका विरोध किया है। 'अलकार सर्वस्व' में छ शब्दालङ्कार—पुनुरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यानुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और चित्र—दिये गए हैं और ७५ अर्थालकारो का परिभाषा और उदाहरणसहित उल्लेख है। इनकी कुछ परिभाषाएँ काव्य-प्रकाश में दी गई परिभाषाओ के समान ही हैं जैसे काव्यलिङ्ग, व्याजोक्ति, उत्तर मीलित, समाधि और चित्र। अलकारो के अनेक उदाहरण भी 'काव्य-प्रकाश' से ही लिये गए हैं। रुय्यक ने 'अलकारानुसारिणी' नामक एक दूसरा अलकार ग्रन्थ भी लिखा है। 'साहित्य-मीमासा' नामक ग्रन्थ भी रुय्यक द्वारा ही रचित समझा जाता है। इसमें भी अलकार पर विचार किया गया है। इसमें सभी अर्थालकारो को वक्रोक्ति के अन्दर माना है और शब्दालकारों की सख्या दस मानी गई है। इस ग्रन्थ में लेखक का 'अलकार सर्वस्व' से कुछ मतभेद दिखाई पडता है क्योकि इस पर वक्रोक्ति जीवितकार का प्रभाव दिखाई पडता है और 'अलकार सर्वस्व' पर ध्वनि का।

जयदेव—'चन्द्रालोककार' जयदेव के समय में अलकार सम्प्रदाय की महत्ता बहुत कम हो चुकी थी। काव्य में अलकार के स्थान में भी परिवर्तन हो चुका था। आचार्य मम्मट ने अपनी काव्य-परिभाषा में 'सगुणावनलकृती पुन. क्वपि' कहकर काव्य में अलकार की स्थिति सदा आवश्यक नही मानी है। जयदेव ने मम्मट की इस उक्ति पर आक्षेप करते हुए पुन अलकार की महत्ता की ओर सकेत किया है वे लिखते हैं—

"अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती ॥"

अर्थात् जो शब्दालकारो और अर्थालकारो से रहित रचना को काव्य कहते हैं वे बिना उष्णता के अग्नि की कल्पना भी क्यो नही करते ?

जयदेव ने भामह के समान अलकार को काव्य में सर्वप्रमुख स्थान ही नही दिया है बल्कि वे अलकार-रहित रचना को काव्य ही नही मानते। 'चन्द्रलोक' में इन्होंने अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, यमक और चित्र यह चार शब्दालकार और सौ अर्थालकारो का उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट ने केवल ६१ अलकार और रुय्यक ने ७५ अलकारो के नाम दिए हैं। रुय्यक के विचित्र और विकल्प अलकारो को जयदेव ने ज्यो का त्यो ग्रहण किया है। जयदेव ने निम्नलिखित अलकार अपने पूर्वाचार्यों से अधिक दिए हैं—

अत्युक्ति, अनुगण, अर्थानुप्रास, अवज्ञा, असम्भव, उन्मीलित, उल्लास, परिकराकुर, पूर्वरूप, प्रहर्पण, प्रौढोक्ति, विकस्वर, विपादन, सम्भावना, स्फुटानुप्रास, और हृद्गति।

विश्वनाथ—विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' के दशम परिच्छेद में अलकारो पर प्रकाश डाला है। अलकार-विवेचन रुय्यक के 'अलङ्कार सर्वस्व' के आधार पर किया गया है। इसमें १२ शब्दालकार, ७० अर्थालकार और ७ रसवत् आदि की चर्चा है। विश्वनाथ ने ५ अलकार पूर्वाचार्यों से अधिक दिए हैं। इसमें से तीन—श्रुति

अनुप्रास, अन्त्यानुप्रास और भाषासम यह तीन शब्दालकार हैं और अनुकूल और निश्चय दो अर्थालकार हैं।

अप्पय दीक्षित—अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ अलकार पर ही लिखा गया है। इसमें इन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए उन पर अपना निर्णय और विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें अलकार सख्या ११८ दी हुई है। अपने 'चित्र-मीमासा' नामक ग्रन्थ में उपमा को २२ अलकारों का मूल आधार माना है। 'कुवलयानन्द' में शब्दालकारों का नाम नही दिया है। अर्थालकारो में ८४ अलकार तो पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित किए जा चुके थे। इनके अतिरिक्त १८ अलकार और दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—अनज्ञा, अल्प, गूढोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रस्तुताकुर, प्रतिषेध, मिथ्याध्यवसिति, मुद्रा, युक्ति, रत्नावली, ललित, लोकोक्ति, विधि, विवृतोक्ति, विशेषक, व्याजनिन्दा, वारक दीपक।

पण्डितराज जगन्नाथ—पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगगाधर' काव्य-शास्त्र का प्रशसनीय ग्रन्थ है। इसमें अलकार को विशेष रूप से महत्त्व दिया गया है। इस ग्रन्थ के दूसरे आनन में अलकारों का विस्तृत और आलोचनात्मक विवेचन है। पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश और अलङ्कार-सर्वस्व आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों की अनेक स्थलो पर कटु आलोचना की है। इन्होंने ७० अलकार निरूपित किए हैं। इसमें तिरस्कार नामक एक अलकार का उल्लेख अन्य आचार्यों ने नही किया है।

प्रसिद्ध अलंकारो के लक्षण और उदाहरण

अलकारो के प्रकार

अलकार तीन प्रकार के होते हैं—

(१) शब्दालकार (Figure of speech in words);

(२) अर्थालकार (Figure of speech in sense), और

(३) उभयालकार (Figure of speech in words & sense both)।

शब्दालकार—जहाँ शाब्दिक चमत्कार प्रधान होता है वहाँ शब्दालकार होता है।

अर्थालकार—जहाँ काव्य में अर्थगत चमत्कार का प्राधान्य होता है वहाँ अर्थालकार होता है।

उभयालंकार—जहाँ शब्दगत और अर्थगत दोनो ही कोटि के चमत्कार प्रधान होते हैं वहाँ उभयालकार माना जाता है।

शब्दालकार—प्रसिद्ध शब्दालङ्कार इस प्रकार हैं—

अनुप्रास (Alliteration)

जहाँ व्यजनो की समानता हो चाहे उनके स्वर मिलें या न मिलें, वहाँ अनुप्रास नामक अलकार होता है।

उदाहरण—

"चंदन चंदक चांदनी चंदसाल नवबाल
नित ही चित चाहतु चतुर ये निदाघ के काल।"

अनुप्रास के भेद—अनुप्रास के पाँच भेद माने गए हैं—

(क) छेक
(ख) वृत्ति
(ग) श्रुति
(घ) लाट
(ङ) अन्त्य

(क) छेकानुप्रास—जहाँ एक अक्षर की या अनेक अक्षरों की आवृत्ति केवल एक बार हो चाहे वह आदि में हो या अन्त में—

"कंकण किंकिण नुपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि,
मानहुँ मदन दुंदुभि दीनी, मनसा विश्व विजय कह कीन्हीं।"

(ख) वृत्यनुप्रास—जहाँ छेकानुप्रास की भाँति आदि वा अन्त में एक वर्ण अथवा अनेक वर्णवृत्तियों के अनुकूल आवृत्त किये जाते हैं वहाँ वृत्यनुप्रास होता है। वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—

(१) उपनागरिका वृत्ति—माधुर्य गुण की व्यञ्जना करने वाले वर्णों की रचना।
(२) परुषा वृत्ति—ओजगुण की व्यञ्जना करने वाले वर्णों की रचना।
(३) कोमला वृत्ति—उपर्युक्त दोनों प्रकार के वर्णों के अतिरिक्त वर्णों की रचना।

उपनागरिका वृत्ति प्रधान वृत्यनुप्रास का उदाहरण—

"लोपे कोपे इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल।
गिरधारी राखे सबै गो, गोपी गोपाल॥"

परुषावृत्तिप्रधान वृत्यलंकार का उदाहरण—

"मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन॥
भूत फिरत कर बूत भिरत सुर दूत विरत तहँ।
चंडि नँचत मन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ॥
इमि ठानि घोर घमसान अति भूषण तेज कियो अटल।
सिवराज साहि सुवसग्रावल दलि अडोल व हलोल हल॥"

कोमलावृत्तिप्रधान वृत्यलंकार का उदाहरण—

"जप माला, छापा, तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाँचे वृथा साँचे राँचे राम॥"

(ग) श्रुत्यनुप्रास—जहाँ ध्वनियन्त्र के एक स्थान से उच्चारित होने वाले वर्णों की समानता हो, वहाँ श्रुत्यनुप्रास होता है। दन्त्य-वर्णों के अनुप्रास का एक उदाहरण इस प्रकार है—

"तुलसिदास सदित निसदिन
देखत तुम्हारि निठुराई ।"

(घ) लाटानुप्रास—यह शब्द का अनुप्रास है । जब शब्द के अर्थ में कोई अन्तर न पड़े किन्तु पद का अन्वय करने से अर्थ बदल जाय तब वहाँ लाटानुप्रास माना जाता है—

"तीरथ व्रत साधन कहा जो निसदिन हरि गान ।
तीरथ व्रत साधन कहा, बिन निस दिन हरि गान ।।"

यहाँ शब्दो और अर्थों की आवृत्ति की गई है, किन्तु अन्वय से अर्थ बदल जाता है । जैसे;

"जो निसिदिन हरि गान कहा तीरथ व्रत साधन"—अर्थात् जो दिन-रात भगवान के भजन में लगे रहते हैं उन्हें तीर्थ-व्रत आदि साधनो की कोई आवश्यकता नही होती ।

दूसरा अन्वय इस प्रकार हो सकता है—

'जो तीरथ व्रत साधन निसिदिन हरिगान कहा'—अर्थात् जिन तीर्थ-व्रत और साधनो में रात-दिन हरि-गान का विधान रहता हो वे तीर्थ, व्रत और साधन निरर्थक होते हैं ।

(ङ) अन्त्यानुप्रास—छन्द की प्रत्येक पक्ति के अन्तिम वर्गान की समानता को अन्त्यानुप्रास कहते हैं । इसी को तुकान्त भी कहते हैं—

"जेहि सुमिरत सिधि होय गणनायक करिवरवदन ।
करहु अनुग्रह सोय बुद्धि राशि शुभ गुण सदन ।।"

यमक (Syllables similar in words)

जब एक ही छद में एक ही शब्द की ही भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति होती है तब वहाँ यमक अलकार होता है—

"तो पर वारौं उरवसी सुनु राधिके सुजान ।
तू मोहन के उरवसी ह्वै उरवसी समान ।।"

यहाँ पर 'उरवसी', शब्द पर यमक है । इसी प्रकार 'विदेह' पर यमक का उदाहरण देखिए—

"मूरत मधुर मनोहर देखी,
भएहु विदेह विदेह विशेषी ।"

वक्रोक्ति (The Crooked Speech)—

जब श्रोता वक्ता के द्वारा कहे गए शब्दो का वक्ता के अभीप्सित अर्थ से भिन्न कोई और ही अर्थ लेता है तब वहाँ वक्रोक्ति अलकार होता है । इस प्रकार का भिन्न अर्थ या तो श्लेष के बल पर या काकु के सहारे ही व्यक्त होता है । अत वक्रोक्ति के दो प्रधान भेद किए गए हैं—

(क) श्लेष वक्रोक्ति

(ख) काकु वक्रोक्ति

(क) श्लेष वक्रोक्ति—यह भी दो प्रकार की होती है—

(१) भग पद

(२) अभग पद

भग पद का उदाहरण—

"मान तजो गहि सुमति वर पुनि पुनि होत न देह,
मानत जोगी जोग को हम नहिं करत सनेह ॥"

यहाँ पर 'मान', 'तजो', 'गहि'—इन तीन भग पदो को श्रोता ने मिलाकर उसका अर्थ जोगी लिया है। यही इसमें चमत्कार है—

अभग पद श्लेष वक्रोक्ति—

"खोलो जू किवार तुमको हो एती वार ?
हरि नाम है हमारो वसो कानन पहार में।
हौं तो प्यारी माधव तो कोकिला के माथे भाग।
मोहन हौं प्यारी, परो मत्र अभिचार में।
रागी हौं रगीली, तौ जु जाहु काहु दाता पास
भोगी हौं छबीली जाय वरनौ जू पतार में।
नायक हौं नागरी, तौ हांको कहूँ टांडौ जाय,
हौं तौ घनश्याम वरसो जो काहू खार में।"

(ख) काकु वक्रोक्ति—

जब शब्दो के उच्चारण में कठ-ध्वनि किसी अन्य अर्थ की ओर सकेत करे तब वहाँ काकुवक्रोक्ति अलकार होता है।

"काह न पापक जरि सके, का न समुद्र समाय।
का न करे अबला प्रबल, केहि जग काल न खाय ॥"

वीप्सा अलकार (Repetition)

वीप्सा का अर्थ है आवृत्ति। जब किसी आकस्मिक भाव को प्रकट करने के लिए एक शब्द कई बार दोहराया जाता है तब वहाँ वीप्सा अलकार होता है।

उदाहरण—

"राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे।
घोर भव नीर निधि नाम निज नाव रे ॥"

पुनरुक्तिवदाभास (Similar Tanlology)—

जब दो पर्यायवाची शब्द समान अर्थवाचक से प्रतीत हो किन्तु यथार्थ में अर्थ कोई दूसरा ही द्योतित करते हों, तब वहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलकार होता है—

"पुनि फिरि राम निकट सो आई।
प्रभु लछिमन पहँ बहुरि पठाई ॥"

यहाँ पुनि और फिर में आभास है। फिर का अन्वय आई के साथ किया जाना चाहिए।

पुनरुक्ति प्रकाश (Tanlology)—

जब भाव को सुशोभित करने के लिए किसी एक शब्द की कई बार पुनरावृत्ति की जाती है तब वहाँ पुनरुक्ति प्रकाश नाम का अलकार होता है—

"बनि बनि बनि बनिता चली गनि गनि गनि डग देत।
धनि धनि धनि अँखिया सुछवि सनि सनि सनि सुख लेत॥"

चित्र (Picture)—

जब कवि द्वारा छद योजना में ऐसे वर्णों का नियोजन किया जाता है जिनके विशेष प्रकार के विन्यास से विशेष चित्र बनाए जायें। तब उस प्रकार के काव्य में वास्तव में अलकारत्व नही होता, कवि का कौशल प्रधान रहता है। इस अलकार द्वारा कवि कमल, छत्र, चक्र, चँवर, खड्ग, दण्ड, रथ, ध्वजा, हाथी, घोडा, मनुष्य, हस और दर्पण आदि के चित्र बना सकता है—

"नैन बान हन बैन मन ध्यान लीन मन कीन
चैन दैन दिन रैन तन छिन छिन उनविन छीन॥"

इस दोहे में प्रत्येक दूसरा वर्ण 'न' है, इससे कमल के अ दर्पण चक्र चष्टिकाक्षर चौकी आदि अनेक चित्र बन सकते हैं।

श्लेष (Parono masia)

छन्द में जब एक ही शब्द प्रसंग-भेद से कई अर्थों की व्यञ्जना करता है तब वहाँ श्लेष अलङ्कार माना जाता है। यह श्लेष दो प्रकार का होता है—एक शब्द श्लेष दूसरा अर्थ श्लेष। शब्द श्लेष में कवि का मुख्य तात्पर्य एक ही अर्थ से होता है। जैसे—

"रावण सिर सरोज बनचारी। चले रघुबीर शिलीमुखधारी।"

यहाँ पर शिलीमुख मुख्यतया दो अर्थों का वाचक है—बाण और भौंरा किन्तु तुलसी का अभीप्सित अर्थ बाण ही है। इसीलिए शब्द श्लेष है।

अर्थालकार

उपमा (Simile)—जब प्रत्यक्ष पृथक् प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं में समता प्रदर्शित की जाती है तब वहाँ उपमालंकार माना जाता है। यह समता आकृति, रूप, ग और गुण की होती है। उपमा के चार अग होते हैं—

(१) उपमेय—जिसकी समता की जाय।
(२) उपमान—जिससे समता की जाय।
(३) धर्म—जिस हेतु समता की जाय।
(४) वाचक—जिसके आश्रय से समता प्रकट की जाय।

"बन्दौं कोमल कमल से जग जननी के पाँय"—यहाँ पाँय शब्द उपमेय है। कमल उपमान है। कोमल धर्म है। 'से' वाचक है।

उपर्युक्त अंगो के आधार पर उपमा के दो भेद माने गए हैं—

(क) पूर्णोपमा (ख) लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा—जहाँ उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक चारों अंग प्रकट हो, वह पूर्णोपमा मानी जाती है।

उदाहरण—

(१) "राम लखन सीता सहित सोहत पर्ण निकेत।
जिमि वासव बस अमर पुर शची जयन्त समेत।"

(२) "करि कर सरिस सुभग भुजदण्डा।"

लुप्तोपमा और उसके भेद—जहाँ उपमा का कोई अंग लुप्त होता है वहाँ लुप्तोपमा होता है। उसके निम्नलिखित दस भेद माने गए हैं—

जैसे—

(१) "नील सरोरुह श्याम,
तरुण अरुण वारिज नयन।"

(२) "सरद मयंक बदन छबि सीता।"

धर्मलुप्ता—

"तुम सम पुरुष, न मो सम नारी
यह संजोग विधि रचा विचारी।"

(३) उपमान लुप्ता—

"समर धीर नहिं जाहि बखाना।
तेहि सम नहिं प्रति भट जग आना॥"

(४) उपमेय लुप्ता—

"चंचल हैं ज्यों मीन, अरुणारे पंकज सरिस।
निरख न होय अधीन, ऐसो नर नागर कवन॥"

(५) वाचक धर्मलुप्ता—

"विधुवदनी मृगशावक लोचनि।"

(६) धर्मोपमेय लुप्ता—

"आजु पुरन्दर सम कोउ नाहीं।"

(७) धर्मोपमान लुप्ता—

"त्यौंर तिरेछे किए मुनि सगहि हेरत संभु सरासन कर से,
त्यौं लछिराम वुहू कर बान कमान सी भौंहें सुब्रह्मावतार से।
सामुहे श्री मिथिलापति के डटि ठाढ़े सही रसवीर सिंगार से,
नीलभ पंचक भाल से कौन स्वयम्वर में मृग राजकुमार से॥"

यहाँ कौन शब्द से उपमेय के लोप का संकेत किया गया है। धर्म लुप्त है ही। अत 'धर्मोपमेय लुप्ता' उपमा हुई।

(८) वाचकोपमेय लुप्ता—

"चढो कदम पै कालिया विपधर देखो ग्राय ।"

(९) वाचकोपमान लुप्ता—

क. "ग्ररुण नयन उर वाहु विशाल ।"

ख "सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे ग्रटपटे ॥"

(१०) वाचकधर्म उपमान लुप्ता—

"ग्रहै ग्रनूप राम प्रभुताई ।
वुधि विवेक वल तरक न जाई ।"

मालोपमा—जहाँ एक ही उपमेय के लिए वहुत से उपमानो की योजना की जाय वहाँ मालोपमा ग्रलकार होता है । यह भी दो प्रकार का होता है—एक धर्मा एव भिन्न धर्मा ।

एक धर्मा—जहाँ सव उपमान एक ही धर्म के द्योतक होते है वहाँ एक धर्मा मालोपमा होती है ।

उदाहरण—

"इन्द्र जिमि जंभ पर वाडव सुग्रभ पर रावण सदम्भ पर रघुकुल राज हैं ।
पौन वारिवाह पर शम्भु रतिनाह पर ज्यों सहस्रवाहु पर राम द्विजराज हैं ।
दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृग झुण्ड पर, भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं ।
तेज तिमि रक पर कान्ह जिमि कस पर त्यो म्लेच्छ-वंस पर शेर शिवराज हैं ।"

भिन्न धर्मा—जहाँ ग्रनेक उपमानों के पृथक्-पृथक् धर्मो के लिए उपमा दी जाय वहाँ भिन्न धर्मा उपमा होती है । जैसे—

"वदौं खल जस सेस सरोषा । सहस वदन वरनै पर दोषा ॥
पुनु प्रणयौं पृथुराज समाना । पर ग्रघ सुनै सहस दसकाना ॥"

ग्रलकारिको ने उपमा के ग्रौर भी ग्रनेक भेदो का उल्लेख किया है, किन्तु वे महत्त्वपूर्ण नही हैं । ग्रत विस्तार-भय से उन्हे यहाँ नहीं दे रहे है ।

ग्रनन्वय—जहाँ उपमेय ग्रपना उपमान स्वय ही हो, वहाँ पर ग्रनन्वय ग्रलकार होता है । जैसे—

"स्वामि गुसाईहि सरिस गुसाईं । मोहि समान मैं स्वामि दोहाई ॥"

ग्रसम—उपमान का सर्वथा ग्रभाव द्योतित करने को ग्रसम ग्रलकार कहते हैं । जैसे—

"छवीला साँवला सुन्दर वना है नन्द का लाला,
वही व्रज में नजर ग्राया जपों जिस नाम की माला ।
ग्रजाइव रंग है खुशतर नहीं ऐसा कोई भूपर,
देउँ जिनकी उसे पटतर पिये हूँ प्रेम का प्याला ॥"

रूपक (Metapher)—जव उपमेय का उपमान में ग्रभेद रूप से ग्रारोप किया जाता है तव वहाँ रूपक ग्रलकार होता है । इस ग्रलकार में वाचक धर्म इन उपमा के ग्रगो का कथन नहीं किया जाता है । इसके दो भेद माने गए हैं—

(१) तद्रूपरूपक।
(२) अभेदरूपक।

तद्रूपरूपक—जब उपमेय पर अभेद रूप से उपमान का आरोप किया जाता है तब उसे तद्रूपरूपक कहते हैं। इसमें प्राय अपर, दूसरा, अन्य आदि शब्द वाचक होकर आते हैं। इस तद्रूपक के भी तीन भेद होते हैं—

(१) अधिक तद्रूप।
(२) हीन तद्रूप।
(३) सम तद्रूप।

अधिक तद्रूप—जहाँ उपयेय में उपमान का आरोप इस प्रकार किया जाय जिससे उपमान उपमेय की अपेक्षा अधिक गुण वाला व्यजित हो—

"मुख शशि वा शशि ते अधिक।
उदित ज्योति दिन राति॥"

हीन तद्रूप रूपक—उपमेय में उपमान से कुछ हीन गुणो की व्यजना होने पर यह अलकार होता है—

"दुई भुज के हरि रघुबर सुन्दर भेस।
एक जीभ के लछिमन दूसर सेस॥"

सम तद्रूप रूपक—इसके भी तीन भेद माने गए हैं—

(१) सावयव या साङ्ग।
(२) निरवयव या निरङ्ग।
(३) परम्परित रूपक।

सावयव—जब उपमेय में उपमान का आरोप अवयवो के सहित किया जाता है तब सावयव सम तद्रूप रूपक अलकार होता है।

जैसे— "रनित भृङ्ग घटावली झरित दान मधु नीर।
मद मद आवत चल्यो कुञ्जर कुञ्ज समीर॥"

यहाँ समीर की सामग्री भृङ्ग और मकरन्द में हाथी के घटे का आरोप किया गया है।

निरवयवरूपक अलकार

जब उपमान का उपमेय पर अवयव सहित आरोप नही किया जाता है तब निरवयव रूपक होता है—

(१) शुद्ध—एक उपमेय से एक उपमान का।
(२) मालारूप—एक उपमेय में अनेक उपमानों का अवयवरहित आरोप।

शुद्ध का उदाहरण—

"अनुराग के रगनि रूप तरगन अगनि ओप मनौ उफनी,
कहि 'देव' हियो सियरानी सबै सियरानी को देखि सुहाग सनी।
वर धामन वाम चढ़ी बरसै मुसुकानि सुधा घनसार घनी,
सखियान के आनन-इन्दुन तें अँखियानि की वदनि वारि तनी॥"

माला रूपक का उदाहरण—

"विधि के कमण्डलु की सिद्धि है प्रसिद्ध यही, हरि पद पकज प्रताप की लहर है,
कहै 'पद्माकर' गिरीश सीस मडल के मुंडन की माला तत्काल अघहर है।
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ, जह जप जोग फल फैल की फहर है,
क्षेम की छहर गंग! रावरी लहर कलिकाल को कहर जम जाल को जहर है॥"

परम्परित रूपक—जब कवि एक आरोप को दूसरे आरोप का कारण बनाता जाता है तब वहां परम्परित रूपक होता है। जैसे—

"सखि नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा तिरता तिरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता,
गड जाय न कटक भूतल के कर डाल रहा डरता डरता॥"

महाकवि ने प्रात.काल का वर्णन किया। यहां हस (सूर्य) में हस (पक्षी) का जो आरोप किया गया है वह परवर्ती आरोपो का कारण भूत है। क्योकि सूर्य को हस कहने पर ही नभ को सरोवर, तारागणो को मोती और किरणो में हाथ का आरोप हो सका है।

अभेद रूपक—उपमेय और उपमान का अभेद सूचित करने वाला रूपक अभेद रूपक कहलाता है। इसके भी तीन भेद होते हैं—

(१) अधिक अभेद।
(२) हीन अभेद।
(३) सम अभेद।

अधिक अभेद—जहां उपमेय में उपमान से कुछ हीनता व्यजित करके भी रूपक की योजना की जाय। जैसे—

"नव विधु विमल तात यश तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटहि न जग नभ दिन दिन दूना॥"

हीन अभेद रूपक—जब कवि उपमेय को उपमान से हेय बतलाकर भी रूपक की योजना करता है वहां हीन अभेद रूपक होता है—

"हे राधे तू उर बसी धरे मानुषी देह।"

सम अभेद रूपक—उपमेय और उपमान के पूर्ण साम्य स्थापन को सम अभेद रूपक कहते हैं। यथा—

"नारि कुमुदनी अवध सर रघुवर विरह दिनेश।
अस्त भए विकसित भई निरखि राम राकेश॥
सम्पति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पींजरा राखे भा भिनसार॥"

परम्परित रूपक—यह रूपक वहां होता है जहां मुख्य रूपक एक दूसरे रूपक पर जो छन्द में अन्तर्निहित रहता है। जैसे—

"सुनिय तासु गुण ग्राम जासु नाम अघ खग बधिक"

यहाँ पर राम नाम पर वधिक का आरोप इसलिए किया गया है कि अघ का आरोप खग पर किया जा चुका है।

परम्परित रूपक कभी-कभी श्लेष से भी अनुप्राणित रहता है। जैसे—

"शकर मानस राज मराला।"

यहाँ मानस में श्लेष मानने पर ही रूपक का चमत्कार प्रगट होगा अन्यथा नही। इसीलिए श्लिष्ट परम्परित रूपक है।

उपमेयोपमा—जब उपमेय के लिए केवल एक ही उपमान उपयुक्त लगे और ससार में उपमान और उपमेय के सदृश किसी अन्य तीसरी वस्तु का अभाव प्रकट हो वहाँ पर उपमेयोपमा अलकार होता है। जैसे—

(१) "सुधा सत के वैन सम, वैन सुधा समजान।
वैन खलन के विषहि से विष खल-वैन समान॥"

(२) "वे तुम सम तुम उन सम स्वामी।"

उदाहरण अलकार—जहाँ किसी साधारण रूप से कही हुई बात को ज्यो, जैसे इत्यादि वाचक शब्दो द्वारा किसी विशेष बात से समता दिखलाई जाती है, वहाँ उदाहरण अलकार होता है जैसे—

"जगत जनायो जेहि सकल सो हरि जान्यो नाय।
ज्यों आँखिन सब देखिए आँखि न देखी जाय॥"

दृष्टान्त—उपमेय, उपमान और साधारण धर्म की जहाँ बिंब-प्रतिबिंब भाव-दर्शित किया जाए और वाचक शब्द व्यक्त न हो, वहाँ दृष्टान्तालकार होता है। जैसे—

"भरतहि होइ कि राजमद विधि हरिहर पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि क्षीर सिन्धु बिनसाइ॥"

दृष्टान्त और उदाहरण अलकार का अन्तर

यह दोनो ही अलकार एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। दृष्टान्त अलकार में कवि उपमान वाक्य पर विशेष बल देता है। और उदाहरण अलकार में कवि का लक्ष्य उपमेय वाक्य पर होता है। यही दोनो में मौलिक अन्तर है। कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्यकल्पद्रुम भाग २ में इन दोनो अलकारों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"दृष्टात अलकार में उपमेय और उपमान का बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है 'इव' आदि उपमा वाचक शब्दो का प्रयोग नही होता है। किन्तु उदाहरण अलकार में सामान्य अर्थ को समझने के लिए उसका एक अश दिखाया जाता है। प्राय साहित्याचार्यों ने इवादि का प्रयोग होने के कारण उदाहरण अलकार को उपमा का एक भेद माना है। पडितराज के मतानुसार यह भिन्न अलकार है, उनका कहना है कि उदाहरण अलकार में सामान्य विशेष्य-भाव रहता है—उपमा में यह बात नही। और सामान्य-विशेष भाव वाले 'अर्थान्तरन्यास' में 'इव' आदि शब्दो का प्रयोग नही होता और 'उदाहरण' में 'इव' आदि शब्दो का प्रयोग होता है। इसलिए उदाहरण को भिन्न अलकार मानना ही युक्तिसगत है।

अर्थान्तरन्यास अलकार—जब किसी साधर्म्य या वैधर्म्य प्रदर्शित करने के लिए

जब सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है तब वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार होता है।

साधारण का विशेष से समर्थन—

"कारण ते कारज कठिन होय दोष नहिं मोर।
कुलिश, अस्थिते, उपल ते, लोह कराल कठोर॥"

इस दोहे में पूर्वार्द्ध की सामान्य बात का उत्तरार्द्ध की विशेष बात से समर्थन किया गया है।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास का अन्तर—दृष्टान्त में दो सम वाक्यो में बिंब-प्रतिबिंब भाव प्रदर्शित किया जाता है और अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य का समर्थन दूसरे वाक्य भाग से किया जाता है। दृष्टान्त में सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का समर्थन विशेष से ही होता है। किन्तु अर्थान्तरन्यास इसके विपरीत होता है। इसमें सामर्थ्य और समर्थक वाक्य में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है।

प्रतिवस्तूपमा—जहाँ उपमेय और उपमान के दो पृथक्-पृथक् वाक्यों में दो भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा एक ही समानधर्म का कथन किया जाता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलकार होता है। जैसे—

"सोहत भानु प्रताप सों, लसत सूर धनुवान।"

यहाँ पर 'लसत सूर धनुवान' उपमेय वाक्य है। 'सोहत भानुप्रसाद सो' उपमान वाक्य है। शोभित होना दोनों वाक्यो का एक धर्म है जिसका कथन उपमेय में 'लसत' शब्द से किया गया है और उपमान वाक्य में 'सोहत' शब्द से किया गया है। एक दूसरा उदाहरण देखिए—

"तिनहिं सुहात न अवध बधावा। चोरहि चाँदनी रात न भावा॥"

इसमें पहला वाक्य उपमेय रूप है और दूसरा वाक्य उपमान रूप है। दोनो के समानधर्म का कथन सुहात और न भावा इन पृथक्-पृथक् शब्दो द्वारा किया गया है।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में अन्तर—दृष्टान्त अलकार में उपमेय, उपमान और समानधर्म इन तीनो का बिंब-प्रतिबिंब भाव प्रकट किया जाता है। इसमें उपमा-वाचक शब्द प्रकट नही रहता है। प्रतिवस्तूपमा में एक ही समान धर्म भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा कहा जाता है।

तुल्ययोगिता अलकार—जहाँ किसी क्रिया द्वारा अथवा गुण द्वारा कई एक व्यक्तियो का एक ही धर्म प्रदर्शित किया जाता है वहाँ तुल्ययोगिता अलकार होता है। यह अलकार चार प्रकार का होता है—

प्रथम तुल्ययोगिता—अनेक उपमेयो में एक धर्म के कथन करने को प्रथम तुल्ययोगिता कहते हैं। जैसे—

"गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं।"

यहाँ पर गुरु, रघुपति और मुनि इन तीनों उपमेयो में प्रसन्न होने के एक ही धर्म का कथन किया गया है।

द्वितीय तुल्ययोगिता—जब अनेक उपमानो का एक ही धर्म द्वारा कथन किया

यहाँ पर राम नाम पर वधिक का आरोप इसलिए किया गया है कि अघ का आरोप खग पर किया जा चुका है।

परम्परित रूपक कभी-कभी श्लेष मे भी अनुप्राणित रहता है। जैसे—

"शकर मानस राज मराला।"

यहाँ मानस में श्लेष मानने पर ही रूपक का चमत्कार प्रगट होगा अन्यथा नही। इसीलिए श्लिष्ट परम्परित रूपक है।

उपमेयोपमा—जब उपमेय के लिए केवल एक ही उपमान उपयुक्त लगे और ससार में उपमान और उपमेय के सदृश किसी अन्य तीसरी वस्तु का अभाव प्रकट हो वहाँ पर उपमेयोपमा अलकार होता है। जैसे—

(१) "सुधा सत के बैन सम, बैन सुधा समजान।
बैन खलन के विषहि से विष खल-बैन समान॥"

(२) "वे तुम सम तुम उन सम स्वामी।"

उदाहरण अलकार—जहाँ किसी साधारण रूप से कही हुई बात को ज्यो, जैसे इत्यादि वाचक शब्दो द्वारा किसी विशेष बात से समता दिखलाई जाती है, वहाँ उदाहरण अलकार होता है जैसे—

"जगत जनायो जेहि सकल सो हरि जान्यो नाय।
ज्यों आँखिन सब देखिए आँखि न देखी जाय॥"

दृष्टान्त—उपमेय, उपमान और साधारण धर्म की जहाँ बिंब-प्रतिबिंब भाव-दर्शित किया जाए और वाचक शब्द व्यक्त न हो, वहाँ दृष्टान्तालकार होता है। जैसे—

"भरतहि होइ कि राजमद बिधि हरिहर पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि क्षीर सिन्धु बिनसाइ॥"

दृष्टान्त और उदाहरण अलकार का अन्तर

यह दोनो ही अलकार एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। दृष्टान्त अलकार में कवि उपमान वाक्य पर विशेष बल देता है। और उदाहरण अलकार में कवि का लक्ष्य उपमेय वाक्य पर होता है। यही दोनो में मौलिक अन्तर है। कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्यकल्पद्रुम भाग २ में इन दोनो अलकारो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"दृष्टात अलकार में उपमेय और उपमान का बिब-प्रतिबिंब भाव होता है 'इव' आदि उपमा वाचक शब्दो का प्रयोग नही होता है। किन्तु उदाहरण अलकार में सामान्य अर्थ को समझने के लिए उसका एक अश दिखाया जाता है। प्राय साहित्याचार्यों ने इवादि का प्रयोग होने के कारण उदाहरण अलकार को उपमा का एक भेद माना है। पडितराज के मतानुसार यह भिन्न अलकार है, उनका कहना है कि उदाहरण अलकार में सामान्य-विशेष्य-भाव रहता है—उपमा में यह बात नही। और सामान्य-विशेष भाव वाले 'अर्थान्तरन्यास' में 'इव' आदि शब्दो का प्रयोग नही होता और 'उदाहरण' में 'इव' आदि शब्दो का प्रयोग होता है। इसलिए उदाहरण को भिन्न अलकार मानना ही युक्तिसगत है।

अर्थान्तरन्यास अलकार—जब किसी साधर्म्य या वैधर्म्य प्रदर्शित करने के लिए

जब सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है तब वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार होता है।

साधारण का विशेष से समर्थन—

"कारण ते कारज कठिन होय दोष नहिं मोर।
कुलिश, अस्थिते, उपल ते, लोह कराल कठोर।।"

इस दोहे में पूर्वार्द्ध की सामान्य बात का उत्तरार्द्ध की विशेष बात से समर्थन किया गया है।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास का अन्तर—दृष्टान्त में दो सम वाक्यो में बिंब-प्रतिबिंब भाव प्रदर्शित किया जाता है और अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य का समर्थन दूसरे वाक्य भाग से किया जाता है। दृष्टान्त में सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का समर्थन विशेष से ही होता है। किन्तु अर्थान्तरन्यास इसके विपरीत होता है। इसमें सामर्थ्य और समर्थक वाक्य में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है।

प्रतिवस्तूपमा—जहाँ उपमेय और उपमान के दो पृथक्-पृथक् वाक्यो में दो भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा एक ही समानधर्म का कथन किया जाता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलकार होता है। जैसे—

"सोहत भानु प्रताप सों, लसत सूर धनुबान।"

यहाँ पर 'लखत सूर धनुवान' उपमेय वाक्य है। 'सोहत भानुप्रसाद सो' उपमान वाक्य है। शोभित होना दोनो वाक्यों का एक धर्म है जिसका कथन उपमेय में 'लसत' शब्द से किया गया है और उपमान वाक्य में 'सोहत' शब्द से किया गया है। एक दूसरा उदाहरण देखिए—

"तिनहिं सुहात न अवध बधावा। चोरहि चाँदनी रात न भावा।।"

इसमें पहला वाक्य उपमेय रूप है और दूसरा वाक्य उपमान रूप है। दोनों के समानधर्म का कथन सुहात और न भावा इन पृथक्-पृथक् शब्दो द्वारा किया गया है।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में अन्तर—दृष्टान्त अलकार में उपमेय, उपमान और समानधर्म इन तीनो का बिंब-प्रतिबिंब भाव प्रकट किया जाता है। इसमें उपमा-वाचक शब्द प्रकट नही रहता है। प्रतिवस्तूपमा में एक ही समान धर्म भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा कहा जाता है।

तुल्ययोगिता अलकार—जहाँ किसी क्रिया द्वारा अथवा गुण द्वारा कई एक व्यक्तियो का एक ही धर्म प्रदर्शित किया जाता है वहाँ तुल्ययोगिता अलकार होता है। यह अलकार चार प्रकार का होता है—

प्रथम तुल्ययोगिता—अनेक उपमेयो में एक धर्म के कथन करने को प्रथम तुल्य-योगिता कहते हैं। जैसे—

"गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं।"

यहाँ पर गुरु, रघुपति और मुनि इन तीनों उपमेयो में प्रसन्न होने के एक ही धर्म का कथन किया गया है।

द्वितीय तुल्ययोगिता—जब अनेक उपमानो का एक ही धर्म द्वारा कथन किया

जाता है तब वहाँ द्वितीय तुल्ययोगिता मानी जाती है। जैसे—

"शिवसरजा भावी भुजन भुवभरु धर्‌यो सभाग।
भूषण अब निर्हचित है शेषनाग दिगनाग॥"

तीसरी तुल्ययोगिता—इस कोटि की तुल्ययोगिता में एक को बहुतों की समता दी जाती है। जैसे—

"कामधेनु कामतरु चिन्तामनि मन मानि।
चौथो तेरो सुजसहू है मनसा के दान॥"

इस उदाहरण में किसी राजा के यश की कामधेनु, कामतरु और चितामणि की समता की गई है। तुल्यगोगिता का यह भेद उल्लेख अलकार के द्वितीय प्रकार से बहुत मिलता-जुलता है। दोनो में अन्तर यह है कि उल्लेख में एक वस्तु का बहुत प्रकार से वर्णन किया जाता है। उसमें केवल गुण वर्णन का ही भाव रहता है और तुल्य-योगिता में समता कथन का भाव रहता है।

चौथी तुल्ययोगिता—जहाँ पर हित और अनहित दोनो में एक ही धर्म का कथन किया जाता है वहाँ चौथे प्रकार की तुल्ययोगिता मानी गई है। जैसे—

"बदौं सत समान चित्तहित अनहित नहि कोइ।
अञ्जलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगध कर दोइ॥"

दीपक अलकार—जहाँ उपमेय और उपमान दोनों का एक ही धर्म दिखाया जाता है वहाँ दीपक अलकार होता है। जैसे—

(१) "सोहति भूपति दान सो फल फूलत आराम।"
(२) "सग ते जती, कुमन्त्र ते राजा। मान ते ज्ञान, पान ते लाजा॥
प्रीत प्रणय बिनु मद के गुणी। नाशहि वेग नीति ऐसी सुनी॥"

पहले उदाहरण में भूपति प्रस्तुत है और आराम अप्रस्तुत है। सोहत शब्द से दोनो का एक ही धर्म वर्णित किया गया है। किन्तु दोनो के शोभित होने के कारण भिन्नाभिन्न है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में राजा प्रस्तुत है और सब अप्रस्तुत हैं 'नाशै' क्रिया से सबका एक धर्म कहा गया है।

दीपक और तुल्ययोगिता का अन्तर—आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन चार अलकारो का उल्लेख किया है उनमें से दीपक भी एक है। इससे दीपक का महत्त्व प्रकट है। दीपक में उपमेय और उपमान के धर्म का समान रूप से कथन किया जाता है। किन्तु तुल्ययोगिता में केवल उपमेयो अथवा उपमानो के ही साधर्म्य का कथन किया जाता है। यही दोनो में अतर है।

कारक दीपक अलकार—जब बहुत सी क्रियाओ में एक ही कारक का प्रयोग किया जाए तब वहाँ कारक दीपक अलकार होता है।

"कहत, नटत, रीझत, खिझत, हिलत, मिलत, लजियात।
भरे मौन में करतु है नैनन ही सों बात॥"

माला दीपक—पहले कही हुई वस्तुओ से जब आगे कही जाने वाली वस्तुओ का समान धर्म से सबध स्थापित किया जाता है तब माला दीपक अलकार होता है। जैसे—

"रस सो काव्य रु काव्य सो सोहत वचन महान ।
वचनन सो जन रसिक अरु तिनसो सभा सुजान ॥"

आवृत्ति दीपक—जब एक ही क्रिया द्वारा अनेक पद, अर्थ और पद अर्थ प्रकाशित किए जाते हैं तब वहाँ आवृत्ति दीपक अलकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और पदार्थावृत्ति ।

पदावृत्ति—जहाँ भिन्न-भिन्न अर्थ वाले एक ही क्रियात्मक पद की आवृत्ति की जाए। जैसे—

"घन बरसैं हैं री सखी निशि बरसैं हैं देख।"

यह उक्ति एक वियोगिनी की है। वह वर्षा ऋतु की रात्रियो का वर्णन कर रही है। वह कहती है कि वर्षा ऋतु की रात वर्ष के सदृश बडी होती है। इस उदाहरण में 'बरसे हैं' क्रियात्मक पद भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं।

अर्थावृत्ति दीपक—इसमें एक ही अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्दो की आवृत्ति की जाती है जैसे—

"कूजहिं कोकिल गुंजै भौंरा।"

यहाँ कूजहिं, और गुंजै इन दो एकार्थक भिन्न-भिन्न शब्दो की आवृत्ति की गई है।

पदार्थावृत्ति दीपक—जब ऐसे पद की आवृत्ति की जाए जिसमें वही शब्द और वही अर्थ हो वहाँ पदार्थावृत्ति दीपक होता है। जैसे—

"भले भलाई पै लहैं लहहिं निचाइहि नीच।
सुधा सराइह अमरता गरल सराइह मीच॥"

यहाँ पर लहै औ सराहहि पद की आवृत्ति इस प्रकार हुई है कि न तो उनका शब्दरूप ही बदला है और न अर्थ ही।

देहरी दीपक—जब कोई एक पद प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो वाक्यो की सार्थकता प्रकट करता है तब वहाँ देहरी दीपक होता है। जैसे—

"ह्वै नरसिंह महामनुजाद हन्यो प्रहलाद को संकट भारी।
दास विभीषनै लकदई निज रक सुदामा को संपति भारी॥
द्रौपदी चीर बढायो जहान में पाडव के जस की उजियारी।
गर्विन के खनि गर्व बहावत दीनन के दुख श्री गिरधारी॥"

इस सवैये में दई, बढायो, और बहावत शब्द दोनो ही पक्षो में सार्थक लगते हैं। इसीलिए यहाँ देहरी दीपक अलकार माना गया है।

अपह्नुति अलकार—उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन करना अपह्नुति अलकार कहलाता है। इसके प्रमुख छः भेद माने गए हैं—

१—शुद्धापह्नुति।

२—हेत्वापह्नुति ।
३—पर्यस्तापह्नुति ।
४—भ्रान्त्यापह्नुति ।
५—छेकापह्नुति ।
६—कैतवापह्नुति ।

शुद्धापह्नुति—उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना करना ही शुद्धापह्नुति है ।

"मैं जु कहा रघुवीर कृपाला । बधु न होय मोर यह काला ।।"

हेत्वापह्नुति—जब उपमेय के निषेध का कारण दिखाकर उपमान का प्रस्थापन किया जाता है तब वहाँ हेत्वापह्नुति होती है । जैसे—

"रात माँझ रवि होत नहीं शशि नहीं तीव्र सुलाग ।
उठी लखन अवलोकिए वारिधि सो बडवाग ।"

यहाँ पर रामचन्द्रजी ने चन्द्रमा का जो कि उपमेय है सकारण निषेध करके वारिधि की वडवाग्नि का स्थापन किया है ।

पर्यस्तापह्नुति—जब किसी वस्तु के सच्चे धर्म का निषेध किसी दूसरी वस्तु में आरोपित करने के लिए किया जाए वहाँ पर्यस्तापह्नुति समझनी चाहिए । जैसे—

"नहीं शक्र सुरपति अहै, सुरपति नदकुमार ।
रत्नाकर सागर नहै मथुरा नगर बजार ।।"

यहाँ पर शक्र में 'सुरपति' का निषेध करके नदकुमार में उसकी स्थापना की गई है ।

भ्रान्त्यापह्नुति—सत्य बात का कथन करके किसी की भ्राति का निराकरण करना भ्रान्त्यापह्नुति अलकार कहलाता है । जैसे विद्यापति का यह पद देखिए—

"हर नहीं बला मोहि जुवति जना ।"

छेकापह्नुति—यह अलकार भ्रान्त्यापह्नुति के बिल्कुल विपरीत होता है । उसमें सत्य का कथन करके भ्राति का निराकरण किया जाता है और उसमें सत्य का गोपन करके असत्य का प्रस्थापन किया जाता है । जैसे—

"कछु न परिच्छा लीन्ह गुसाई ।
कीन्ह प्रणाम तुम्हारी नाईं ।।"

यहाँ पर परीक्षा लेने वाली सत्य बात गोपन और न परीक्षा लेने वाली असत्य बात का प्रस्थापन किया गया है ।

कैतवापह्नुति—जब मिसव्याज इत्यादि शब्दो के सहारे किसी एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का कथन किया जाता है तब वहाँ कैतवापह्नुति होती है । जैसे—

"लालिमा श्री तरवानि के तेज में शारदा लों सुखमा की निसेनी ।
नूपुर नीलमनीन जड़े जमुना जगे जौहर में सुख देनी ।।

यों लछिराम घटा नख नील तरगिनी गग प्रभा फल पैनी।
मैथिली के चरणाम्बुज व्याज लसै मिथिला मग मजु त्रिवेनी।।"

निदर्शना अलकार—जहां दो वाक्यो के अर्थ में अन्तर होते हुए भी समता भाव का सूचक ऐसा आरोप किया जाय कि दोनो एक-से प्रतीत होने लगें तव वहां निदर्शना अलकार होता है।

निदर्शना के पांच भेद प्रसिद्ध हैं, वे क्रमश. ये हैं—

प्रथम निदर्शना—जहां असम वाक्यों में जो, सो, वे, ते आदि पदो के सहारे सामजस्य स्थापित किया जाता है वहां निदर्शना अलकार होता है। जैसे—

"जो अति सुभट सरायहु रावन। सो सुग्रीव करे लघु घावन।।"

द्वितीय निदर्शना—जब उपमान के गुणो की स्थापना उपमेय में की जाती है तब वह द्वितीय निदर्शना अलकार होता है। जैसे—

"अस कहि फिर चितए तेंहि ओरा। सिय मुख शशि भए नयन चकोरा।।"

तृतीय निदर्शना—जब उपमेय के गुणो की स्थापना उपमान के अग में की जाती है तब वहां तृतीय निदर्शना होती है।

"तुव वचनन की मधुरता रही सुधामह छाय।
चारु चमक चल नयन की मीनन लई छिनाय।।"

चौथी निदर्शना—जहां पर कोई अपने सद्व्यवहार से दूसरो के लिए शिक्षा देता है वहां चौथी निदर्शना होती है। जैसे—

"उदय होत ही जगत को हरत तपनि दुख दड।
सबहीं को सुख दीजिए वढ़े वतावत चंद।।"

पांचवीं निदर्शना—जब कोई अपनी असत क्रिया से असत अर्थ की व्यजना करता है वहां पांचवी निदर्शना होती है—

"खोवत प्रान अजानु जे करत क्रूर को सग।
यही सिखावत छोड़ि तन दीपक शिखा पतग।।"

उत्प्रेक्षा—जब प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप में सभावना की जाती है तब उसे उत्प्रेक्षा अलकार कहते हैं। मनु, जनु, मानो, जानो, निश्चय, प्राय., वहुधा, इव, खलु आदि शब्द इस अलकार के वाचक होते हैं। जैसे—

"लता भवन ते प्रकट भए तेहि अवसर दो भाई।
निकसे जनु युग विमल विधु जलद पटल विलगाय।।"

उत्प्रेक्षा के चार भेद माने गए हैं—

वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, क्रियोत्प्रेक्षा।

वस्तूत्प्रेक्षा—किसी वस्तु के अनुरूप वलपूर्वक किसी उपमान की कल्पना करने को वस्तुत्प्रेक्षा अलकार कहते हैं। वस्तूत्प्रेक्षा के भी दो भेद होते हैं—

उक्तविपया और अनुक्तविपया।

उक्तविपया—इस प्रकार की वस्तूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा के विपय का पहले कथन कर दिया जाता है। वाद में उत्प्रेक्षाएं की जाती हैं। जैसे—

"सखि सोहत गोपाल के उर गु जन की माल।
वाहर लसत मनो पिए दावानल की ज्वाल॥"

यहाँ पर उत्प्रेक्षा के विपय गुंजन की माला का वर्णन पहले किया गया है और उत्प्रेक्षा वाद में दी गई है।

अनुक्तविषया—जव उत्प्रेक्षा के विपय के कथन के विना ही उत्प्रेक्षा की जाए तव उसे अनुक्त विपया उत्प्रेक्षा कहते हैं। जैसे—

"अंजन वरसत गगन 'यह मानो अथये वान।"

यहाँ सूर्यास्त के पश्चात् अंधकार का फैलना 'इस उत्प्रेक्षा के विपय का कथन नहीं किया गया है किंतु उत्प्रेक्षा की गई है। मानो गगन सूर्यास्त के पश्चात् काजल की वर्षा करता हो।

हेतूत्प्रेक्षा—जव अहेतु को हेतु मानकर उत्प्रेक्षा की जाती है तव वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है। यह हेतूत्प्रेक्षा भी दो प्रकार की होती है—

१—सिद्धास्पद—जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध हो।

२—असिद्धास्पद—जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार असिद्ध हो अर्थात् (असम्भव) हो।

सिद्धास्पद का उदाहरण—

"मनो कठिन आँगन चली ताते राते पाँव।"

यहाँ पर आँगन में चलना सिद्ध आधार है। इसलिए यहाँ पर सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा है।

असिद्धास्पद का उदाहरण—

"भुजनि भुजग सरोज नयननि वदन विधु जीत्यऊ लरनि।
बसे कुहरन सलिलनभ उपमा अपर दुरी डरन॥"

यहाँ पर राम की भुजाओं से पराजित होकर सर्प विलो में, नेत्रो से पराजित कमल पानी में, और मुख से पराजित होकर चन्द्रमा आकाश में स्थित है। इस उक्ति में उपमानों का हार जाना असिद्ध आधार है।

फलोत्प्रेक्षा—अफल में फल की उत्कट कल्पना को फलोत्प्रेक्षा कहते है। इसके भी सिद्धास्पद और असिद्धास्पद दो भेद होते हैं।

सिद्धास्पद में उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध या सम्भव होता है।

असिद्धास्पद में उत्प्रेक्षा का आधार असिद्ध या असम्भव होता है।

सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

"मधुप निकारन के लिए मानो रुके निहार।
दिनकर निजकर देत है सतदलनि उघारि॥"

यहाँ पर सूर्योदय से कमल का खिलना सिद्ध आधार है किंतु कवि ने नए फल की कल्पना की है। भौंरो का कमल के मुकुल से छूटना यह अफल है, उसे ही फल कल्पित किया गया है। इसीलिए यहाँ फलोत्प्रेक्षा है।

असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

"तो पद समता को कमल जल सेवत एक पाँय।"

कमल स्वभाव से ही जल में रहता है। वह राधिका के चरणों की समता रूपी फल की प्राप्ति के हेतु नहीं रहता है। जड कमल में समता की इच्छा का प्रदर्शन असिद्ध आधार है, इसीलिए यहाँ पर असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा मानी गई है।

अतिशयोक्ति अलकार—लोक-मर्यादा का उल्लघन करनेवाली अतिरंजनापूर्ण उक्ति को अतिशयोक्ति कहते हैं। जैसे—

"जो सुख भा सिय मातु मन देखि राम नर भेष।
सो न सकहिं कहि कल्पसत सहस शारदा, शेष॥"

अतिशयोक्ति अलकार के छ भेद होते हैं—

१ भेदकातिशयोक्ति	२ सबधातिशयोक्ति
३ चपलातिशयोक्ति	४. अक्रमातिशयोक्ति
५. रूपकातिशयोक्ति	६ अत्यन्तातिशयोक्ति

भेदकातिशयोक्ति—जब अनिर्वचनीयता का भाव व्यजित करनेवाले 'और' आदि शब्द का प्रयोग करके कवि किसी बात का वर्णन करता है वहाँ भेदकातिशयोक्ति अलकार होता है। जैसे—

"अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुणि समान।
वह चितवनि औरै कछू जेहि वस होत सुजान॥"

सबधातिशयोक्ति—जहाँ योग्य में अयोग्यता और अयोग्य में योग्यता प्रकट करके प्रस्तुत का अतिरंजनपूर्ण वर्णन किया जाता है वहाँ सबधातिशयोक्ति होती है। जैसे—

"अति सुन्दर लखि मुख सिय तेरो। आदर हम न करत शशि केरो॥"

यहाँ पर शशि को मुख की अतिशय सुन्दरता व्यजित करने के लिए अनादृत किया गया है। इसीलिए यहाँ सबधातिशयोक्ति है।

चपलातिशयोक्ति—जहाँ पर कारण के ज्ञान मात्र से कार्य का होना बतलाया जाय वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है। जैसे—

"जाऊँ कै जाऊँ न' यह सुनतहि पिय मुख बात।
ढरकि परे कर से वलय सूख गये तिय-गात॥"

अक्रमातिशयोक्ति—जहाँ पर कारण और कार्य का एक साथ होना कहा जाता है वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है। जैसे—

"सधान्यो प्रभु विशिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला॥"

रूपकातिशयोक्ति—जहाँ पर केवल उपमानो के सहारे उपमेयों का कथन किया जाता है वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है। जैसे—

"कनकलता पर चन्द्रमा धरे धनुष द्वै बाण।"

यहाँ पर कनकलता से सुन्दरी, और चन्द्रमा से मुख, धनुष से भौहें, और बाण से कटाक्षो का कथन किया गया है। एक दूसरा सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है—

"राम सीय सिर सिंदुर देही। उपमा कहि न जात कवि केही॥
रुण पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥"

अत्यन्तातिशयोक्ति—जहाँ कारण से पहले ही कार्य का होना कहा जाता है वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलकार होता है। जैसे—

"हनुमान की पूँछ में, लगन न पाई आग।
लका सिगरी जल गई, गए निशाचर भाग।।"

उल्लेख अलकार—जब किसी कारण से एक ही व्यक्ति का विविध प्रकार से वर्णन किया जाता है तब उसे उल्लेख अलकार कहते हैं। इस अलकार के दो पक्ष होते हैं—पहला, जब एक ही व्यक्ति को बहुत से भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप में देखें और वर्णन करें।

दूसरा, एक ही व्यक्ति का एक ही व्यक्ति विविध प्रकार से वर्णन करें। दोनों के क्रमश उदाहरण इस प्रकार है।

(१)"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।।
देखहिं भूप महा रणधीरा। मनहु वीर रस धरे शरीरा।।
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी।।—इत्यादि

(२)"सावुन को सुखदानि है दुर्जन गन दुख दानि।
वैरिन विक्रम हानिप्रद राम तिहारे पानि।।"

स्मरण अलकार—किसी समान वस्तु को देखकर पहले देखी गई वस्तु के स्मरण को चमत्कार अलकार कहते है। जैसे—

"सघन कुज छाया सुखद, सीतल मद समीर।
मन ह्वै जात अजहुँ वहै, वा जमुना के तीर।।"

सदेह अलकार—जहाँ पर प्रस्तुत का वर्णन इस प्रकार किया जाय कि तथ्य और अतथ्य का निश्चय न किया जा सके वहाँ सदेहालकार होता है। जैसे—

"की तुम हरिदासन में कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई।।
की तुम राम दीन अनुरागी। आए मोहि करन वडभागी।।"

भ्राति अलकार—जब भ्राति से किसी वस्तु को कोई मिलती-जुलती दूसरी वस्तु समझ लिया जाय, तो वहाँ पर भ्राति अलकार होता है। जैसे—

"कपि कर हृदय विचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तव।
जानि अशोक अगार, सीय हरषि उठ करि गह्यो।।"

यहाँ पर सीता जी ने भ्रम से स्वर्ण-मुद्रिका को अगार समझ लिया है। इसी लिए यहाँ भ्रातिमान अलकार है।

प्रतीप—यह अलकार उपमा का उल्टा होता है। उपमा में उपमेय की अपेक्षा उपमान की श्रेष्ठता व्यजित की जाती है। प्रतीप में इसके विपरीत उपमान की अपेक्षा उपमेय की उत्कृष्टता व्यजित की जाती है। जैसे—

"सिय मुख समता पाव किमि चद बापुरो रक।"

यह पाँच प्रकार का होता है—

प्रथम प्रतीप—इसमें उपमान को उपमेय रूप कल्पित किया जाता है। जैसे—

"दृग के सम नील सरोरुह थे उनको जल राशि डुवा दिया हा ।
तव आनन तुल्य प्रिये शशि को अभेद्य घटा में छिपा दिया हा ॥
गति की समता करते कलहस उन्हें अति दूर वसा दिया हा ।
विधि ने सबही तव अग समान सुदृश्य अदृश्य बना दिया हा ॥"

इसमें सरोरुह आदि प्रसिद्ध उपमानो की नेत्र आदि उपमेय के रूप में कल्पना की गई है ।

दूसरा प्रतीप—जहाँ प्रसिद्ध उपमान की उपमेय रूप से कल्पना करके उपमेय से उपमान को कुछ बढकर व्यजित किया जाता है वहाँ दूसरा अलकार होता है । जैसे—

"का घूँघट मुख मुदौं अवला नारि ।
चद सरग पै सोहति यही अनुहार ॥"

तीसरा प्रतीप—जहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान में कुछ लघुता प्रकट की जाती है वहाँ तीसरा प्रतीप होता है । जैसे—

"कुलसहि चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि ।
चित्त खगेश रघुनाथ कर समुझि परै कहु काहि ॥"

चतुर्थ प्रतीप—जहाँ पर उपमान उपमेय की तुलना में असमर्थ दिखलाया जाय । जैसे— "वहुरि विचार कीन्ह मन माँही । सीय वदन सम हिमकर नाहीं ॥"

पाँचवाँ प्रतीप—इसमें उपमान को उपमेय की तुलना में व्यर्थ कहा जाता है । जैसे—

"सिय मुख समता पाव किमि चद वापुरो रंक ।"

व्यतिरेक अलकार—जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय में सकारण कुछ उत्कृष्टता व्यजित की जाय, वहाँ यह अलकार होता है । जैसे—

"का सरवरि तेहि देहि मयकू । चाँद कलकी वह निकलकू ॥
चाँदहि पुनि सो राहू गरासा । वह नित चाँद सदा परगासा ॥"

यहाँ पर उपमान में ही हीनता दिखाई गई है । यह व्यतिरेक का एक पक्ष है । कही-कही उपमेयो में उपमान की अपेक्षा अधिक गुणों का उल्लेख किया जाता है ।

जैसे—"सन्त-हृदय नवनीत समाना । कहा कविन पै कहत न जाना ॥
निज परिताप द्रवै नवनीता । पर-दुख द्रवै सु सन्त पुनीता ॥"

प्रतीप और व्यतिरेक दोनो ही अलकार वहुत मिलते-जुलते हैं । पर दोनों में अन्तर होता है । प्रतीप में केवल उपमान की हेयता मात्र व्यजित की जाती है किंतु व्यतिरेक में उपमेय की उत्कृष्टता अथवा उपमान की हेयता के कारण की व्यजना भी मिलती है । यही दोनो में स्थूल अन्तर है ।

तद्गुण अलंकार—जहाँ पर उपमेय उपमान के रग में परिणत हो जाता है वहाँ तद्गुण अलकार होता है । जैसे—

"अधर धरत हरि के परत, ओंठ दीठ पट ज्योति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष रग होति ॥"

अतद्गुण अलंकार—यह अलकार तद्गुण का उल्टा होता है । दूसरे के साथ

रहने पर भी वस्तु का रग तद्वत नही होता इस स्थिति में अतद्गुण अलकार माना जाता है। जैसे—

"केश मुकुत सखि मरकत मणिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकता करत उदोत ॥"

मीलित अलकार—जब समान रगवाली दो वस्तुओ को एक साथ रखने पर उनका पारस्परिक भेद मिट जाता है तब वह वहाँ मीलित अलकार होता है। जैसे—

"पान पीक अधरान में सखी लखी नहि जाय।
कजरारी अँखियान में कजरारी न लखाय ॥"

उन्मीलित अलकार—जब दो समान रग वाली वस्तुओ के भेद को किसी हेतु द्वारा व्यजित किया जाय तब वहाँ उन्मीलित अलकार होता है। जैसे—

"चम्पक हरवा अङ्ग मिलि अधिक सुहाय।
जानि परै सीय हियरे जब कुम्हलाय ॥"

कारणमाला—जब कारण और कार्य की इस प्रकार शृखला बन जाय कि एक का कारण दूसरा और दूसरे का कारण तीसरा प्रकट होता जाय तब वहाँ कारण माला अलकार होता है। जैसे—

"सतसग ते वैराग है, ताते मन सतोष।
सतोषहि ते ज्ञान है, होत ज्ञान से मोष ॥"

एकावली अलकार—इस अलकार में पहले कहे गए पदार्थ के साथ बाद में आने वाले पदार्थ का कई बार स्थापन अथवा निषेध किया जाता है। जैसे—

"सो नहीं सरवँह सरसिज नाहीं।
सरसिज नहीं जेहि अलिन लुभाईं ॥
अलि नहीं जो कल गुंजन हीना।
गुंजन नहीं जो मनन हर लीना ॥"

काव्यलिग अलकार—जब किसी कथन का समर्थन ज्ञापक हेतु द्वारा किया जाता है तब वहाँ काव्यलिग अलकार होता है जैसे—

"कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय है या पाए बौराय ॥"

यहाँ पर कवि ने अपने इस कथन का कि सोने में धतूरे की अपेक्षा सौगुनी मादकता होती है समर्थन 'वा खाए बौराय है या पाए बौराय' इस ज्ञापक हेतु के द्वारा किया है।

असगति अलकार—जहाँ पर कारण तो कही और हो और उसका कार्य या फल किसी दूसरे स्थल पर दिखाया जाय वहाँ असगति अलकार होता है। जैसे—

"दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुर्जन हिये दई नई यह रीति ॥"

यहाँ पर उलझने का कारण दृग है और उलझने का कार्यरूप टूटना कुटुम्ब से दिखलाया गया है। इसी प्रकार गाँठ तो दुर्जन के हृदय में पडती है, और जुडते दो

प्रेमियो के हृदय हैं। इन असगति के कारण ही यहाँ असगति अलकार होता है।

परिकर अलंकार—जहाँ पर साभिप्राय विशेषणो का कथन किया जाता है वहाँ परिकर अलकार होता है। जैसे—

"जानो न नेकु व्यथा पर की वलिहारी तहुँपै सुजान कहावत।"

परिकराकुर अलकार—जहाँ पर साभिप्राय विशेष्य का कथन किया जाता है वहाँ परिकराकुर अलकार होता है। जैसे—

"वामा मामा कामिनी कहि वोलो प्राणेश।
प्यारी कहत लजात नहीं पावस चलत विदेश॥"

परिवृत्त अलकार—जहाँ पर एक वस्तु की विशेषता दूसरी वस्तु में स्थापित करदी जाय और दूसरे की विशेषता पहले में वहाँ परिवृत्त अलकार होता है। परिवृत्त का अर्थ है अदला-वदला। जैसे—

"लीन नितम्वन में गुरुता कटि की औ' कटि में तिनकी कृशताई।"

परिसख्या अलकार—जव किसी वस्तुधर्म, गुण तथा जाति को उन सव स्थानो से जहाँ उनकी स्वाभाविक स्थिति होती है हटाकर किसी विशेष स्थान पर स्थापित कर दिया जाता है तव वहाँ परिसख्या अलकार होता है। जैसे—

"दड जतिन कर भेद जहँ नर्त्तक नृत्य समाज।
जीत्यौ मनसिज सुनिय अरु रामचन्द्र के राज॥"

यहाँ पर राम-राज्य में दड कही नही है। वह केवल सन्यासियो के हाथ में है। इस कथन से कवि ने राजनीति मे जो उसका वास्तविक स्थान है दण्ड को हटाकर सन्यासियो के दडमात्र में स्थापित कर दिया है।

प्रत्यनीक अलकार—जहाँ पर शत्रु पक्ष वालो से वैर अथवा मित्र पक्ष वालो से प्रेम करना दिखाया जाय वहाँ प्रत्यनीक अलकार होता है। जैसे—

"सिंह न जीता लकसरि हार लीन्ह वनवास।
तेहि रिसि मानुष रकत पिय खाइ मारि कै मास॥"

व्याजस्तुति अलकार—जहाँ पर प्रत्यक्ष देखने में तो कोई कथन किसी के प्रति निंदात्मक प्रतीत हो किंतु वास्तव में वह हो स्तुति ही। जैसे—
पूरा पद विनय-पत्रिका में देखिए—वावरो रावरो नाह भवानी। इत्यादि—

"कहा कहौं कहत न वनत सुरसरि तेरी रीति।
ताके तु मूडै चढै जो आवै कर प्रीति॥"

इसमें प्रत्यक्ष तो गगाजी की निंदा प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में प्रशसा की गई है।

अप्रस्तुतप्रशसा अलकार—जहाँ पर अप्रस्तुत के वर्णन के द्वारा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराई जाती है वहाँ अप्रस्तुतप्रशसा अलकार होता है। यह अप्रस्तुतप्रशसा अलकार वहुत प्रकार का होता है। इसके पाँच भेद वहुत प्रसिद्ध हैं—

१ कार्य निवधना।

२ कारण निवधना ।
३ सामान्य निवधना ।
४ विशेप निवधना ।
५ सारूप्य निवधना ।

१ कार्य निबधना—जहाँ पर कार्य का कथन करके कारण का सकेत किया जाय । जैसे—

"मातुपितहिं जनि शोच वसि करसि महीप किशोर ।"

यहाँ पर माता-पिता का शोचवश होना कार्य के सहारे पुत्र के मारे जाने के कारण का कथन किया गया है ।

२ कारण निबधना—जहाँ कारण के द्वारा कार्य का कथन किया जाय। जैसे-

"कोऊ कह जब विधि रति मुख कीन्हा ।
सारभार शशिकर हर लीन्हा ॥
छिद्र सो प्रकट इन्द्र उर माँहीं ।
तेहि मग देखिए नभ पर छाँहीं ॥"

यहाँ रति मुख के सौन्दर्य की जो कि कार्यरूप है वर्णन न करके उसके कारण चन्द्रमा के सारभाग का कथन किया गया है । यही कारण निवधना व्याजस्तुति है ।

सामान्य निबधना—जहाँ कही सामान्य के कथन के द्वारा विशेष की व्यजना की जाती है वहाँ सामान्य निवधना होती है । यथा—

"सूपनखाँ की गति तुम देखी । तदपि हृदय नहीं लाज विशेषी ।"

यहाँ पर सूपनखाँ की दशा इस सामान्य कथन से रामचन्द्र जैसे विशेप पुरुप से वैर नही करना चाहिए इस विशेप कथन की व्यजना की गई है ।

विशेष निबधना—जहाँ कही विशेप वात कहकर सामान्य की व्यजना की जाती है वहाँ विशेष निवधना होती है । जैसे—

"धन्य शेष सिर जगत हित धारत भुवि को भार ।
बुरा बाघ अपराध बिन मृग को डारत मार ॥"

इस उदाहरण में बाघ के अप्रस्तुत वर्णन से यह सामान्य वात व्यजित की गई है कि वडा होकर सबके भार को अपने सिर पर लेना उचित है और शशक्त निरपराधो को सताना अनुचित है ।

सारूप्य निबधना—जहाँ पर प्रस्तुत का वर्णन किसी समान अप्रस्तुत बात के द्वारा किया जाता है वहाँ सारूप्य निवधना होती है । इसे अन्योक्ति अलङ्कार भी कहते हैं । जैसे—

"सुन दशमुख खद्योतप्रकाशा । कबहुँ कि नलनी करहिं विकासा"

यहाँ पर सीता जी ने कमलनी पर ढालकर रावण से अपनी बात कही है ।

समासोक्ति अलकार—जहाँ पर प्रस्तुत कथन के द्वारा किसी अप्रस्तुत बात की व्यजना होती है वहाँ समासोक्ति अलकार माना जाता है । इसकी योजना श्लिष्ट और अश्लिष्ट दोनो प्रकार के शब्दो द्वारा की जाती है । श्लिष्ट का उदाहरण देखिए । जैसे—

"तुही सांच द्विजराज है तेरी कला प्रमान।
तोपै शिव कृपा करी जानत सकल जहान॥"

यहां पर प्रस्तुत तो चन्द्रमा की प्रशसा है किंतु द्विजराज और शिव इन श्लिष्ट शब्दो के कारण भूषण कवि और शिवराज के परस्पर सम्बन्ध की व्यजना भी हो गई है।

अश्लिष्ट का उदाहरण देखिए—

"लोचन-मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।"

यहां पर प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त एक अप्रस्तुत अर्थ भी व्यजित होता है। जैसे चचल व्यक्ति को तभी वदी वनाया जा सकता है जब उसे किसी स्थान में द्वार वद करके रखा जाय।

मुद्रा अलकार—प्रस्तुत अर्थ का कथन करने वाले पदो से जब किसी दूसरे अर्थ की व्यजना होती है तब वहां मुद्रा अलकार होता है। इसमें प्राय. ऐसे शब्दो का प्रयोग मिलता है जो एक तो सामान्य अर्थ रखते है और दूसरा विशेष अर्थ रखते हैं। जैसे—साकेत की निम्नलिखित पक्तियां देखिए—

"करुणे क्यो रोती है?
'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है, जो,
उसको भवभूति क्यों कहे कोई॥"

यथासख्य अलकार अथवा क्रमालकार—जब कवि क्रमश कहे हुए अर्थों का पद में आए हुए अन्य अर्थों से क्रमिक सबध स्थापित करता है तब वहां क्रमालकार होता है। जैसे—

"अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत एक बार॥"

पर्यायोक्ति अलकार—जब कोई वात सीधे शब्दों में व्यक्त न करके घुमा-फिराकर दूसरे चमत्कारपूर्ण शब्दो में कही जाती है वहां पर्यायोक्ति अलकार होता है। यह दो प्रकार की होती है। एक तो वह जिसमें कवि सीधी-सी वात को घुमा-फिराकर वर्णन करता है और दूसरी वह जहां किसी वहाने से इच्छित कार्य का उल्लेख करता है। पहले का उदाहरण इस प्रकार है—

"सीता हरन तात जनि कहेऊ पिता सन आय।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दशानन आय॥"

यहां पर 'मैं राम को मारूंगा' इतनी-सी वात को इतने वडे दोहे में गूंथा गया है।

द्वितीय पर्यायोक्ति का उदाहरण—

"देखन मिस मृग विहग तरु फिरै वहोरि वहोरि।
निरख निरख रघुवीर छवि वाढ़ै प्रीति न थोरि॥"

यहां पर मृग और विहग देखने के वहाने सीताजी राम की छवि देख रही हैं।

इसलिए यहाँ पर वहाने से इच्छित कार्य की सिद्धि प्रकट होती है।

विभावना अलंकार—विभावना अलंकार में कारण सम्बन्धी विलक्षण कल्पना मिलती है। कारण सम्बन्धी विलक्षण कल्पना ६ प्रकार की होती है। इसी आधार पर इसके ६ भेद माने गए हैं—

१ प्रथम विभावना—जहाँ कारण के बिना ही कार्य का होना बताया जाय। जैसे—

"बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥"

२ द्वितीय विभावना—जहाँ पर अपूर्ण कारण से पूर्ण कार्य की सिद्धि दिखाई जाय। जैसे—

"काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने वस कीन्हे॥"

सम्पूर्ण विश्व को जीतने के लिए कुसुम धनु सायक अपर्याप्त कारण है इसीलिए यहाँ द्वितीय विभावना मानी गई है।

३ तृतीय विभावना—जहाँ पर कार्य की सिद्धि बाधा होने पर भी प्रदर्शित की जाय वहाँ पर तृतीय विभावना होती है। जैसे—

"रखवारे हति विपिन उजारा। देखत तोहिं अच्छय जेहि मारा॥"

४ चतुर्थ विभावना—जो जिसका कारण न हो किंतु फिर भी विलक्षण कल्पना से उसको किसी दूसरी वस्तु का हेतु बता देना। जैसे—

"भयो कम्बु ते कंज इक सोहत सहित विकास।
देखऊ चम्पक की लता देत गुलाब सुवास॥"

यहाँ पर कम्बु से कंजकी, और चम्पक की लता से गुलाब की सुवास की कारण-मूलक कल्पना विलक्षण है इसीलिए यहाँ चतुर्थ विभावना अलंकार माना गया है।

५. पांचवीं विभावना—इसमें विरुद्ध कारण से कार्य का होना वर्णित किया जाता है। जैसे—

"चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन कन से फूट फूट मधु के निर्झर से सजल गान।"

यहाँ बान लगने से गान का निकलना विरुद्ध कारण से कार्य का होना व्यंजित किया गया है।

६. छठी विभावना—इस विभावना में कार्य से कारण का होना वर्णित किया जाता है। जैसे—

"चरण कमल से निकली गंगा विष्णु पति कहलाती है।"

कमल की उत्पत्ति का कारण जल होता है किंतु यहाँ पर कवि ने कमल के चरण से गंगा के उद्भवरूपी कार्य का वर्णन किया है।

विशेषोक्ति अलंकार—कारण के होते हुए भी जहाँ पर कार्य का होना प्रदर्शित न किया जाय वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

१—अनुक्त निमित्ता। २—उक्त निमित्ता। ३—अचिन्त्य निमित्ता।

अनुक्त निमित्ता—जहाँ निमित्त स्पष्ट न हो वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे—

"फिरि विनय अनुनय किया पदांत समझाया बहुत कुछ।
किंतु मैं तो सत्य ही पाणिग्रहण से विरत ही थी॥"

यहाँ पर प्रेमी के चरणों में झुकने का कारण होते हुए भी प्रेमिका विवाह से उदासीन वर्णित की गई है।

उक्त निमित्ता—जहाँ पर निमित्त स्पष्ट हो। जैसे—

"अलि इन लोचन की कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥"

यहाँ पर नीर कारण के रहते हुए भी नेत्रों की प्यास का न बुझना कार्य वर्णित किया गया है। यहाँ पर निमित्त स्पष्ट है।

अचिन्त्य निमित्ता—जहाँ पर निमित्त अचिन्त्य हो। जैसे—

"रूप सुधा पान से न नेक भी हुई है कम।
प्रत्युत हुई है तीव्र कैसी यह प्यास है॥"

यहाँ पर सुधा-पान कारण के होते हुए भी प्यास का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना कार्य का वर्णन किया गया है। इसलिए यहाँ निमित्त अचिन्त्य है।

उभयालंकार

संसृष्टि—जहाँ पर कई अलंकारों की योजना एक साथ की जाती है वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

१—शब्दालंकार संसृष्टि २—अर्थालंकार संसृष्टि ३—शब्दार्थालंकार संसृष्टि।

इन तीनों प्रकार के अलंकारों में भिन्न-भिन्न अलंकार तिल और तंडुल के सदृश मिले रहते हैं अर्थात् वे मिले भी रहते हैं और अलग भी रहते हैं।

१—शब्दालंकार संसृष्टि का उदाहरण देखिए—जैसे—

"मर मिटें रण में पर राम को, हन न दे सकते जनकात्मजा।
सुन कपे! जग में वरा वीर के, सुयश कारण कारण मुख्य है॥"

इस उदाहरण में वृत्यनुप्रास और यमक, तिल-तंडुल न्याय से मिले हुए दिखाई पड़ते हैं। ये दोनों ही अलंकार शब्दालंकार हैं इसलिए यहाँ शब्दालंकार संसृष्टि मानी गई है।

२—अर्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण—जैसे—

"सखि नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर पथ से चली।"

इसमें उपमा और रूपक अलंकारों का तिल तंडुल न्याय से मिले हुए हैं। दोनों ही अर्थालंकार हैं इसलिए यहाँ अर्थालंकार संसृष्टि मानी गई है।

३—शब्दार्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण—जैसे—

"जीवन प्रात समीरण-सा लघु विचरण निरत करो।
तरु तोरण तृण तृण की कविता छवि मधु सुरभि भरो॥"

इसमें उपमा, रूपक और वृत्यानुप्रास की संसृष्टि मिलती है।

सकर—जहाँ पर कई अलकार नीर-क्षीर न्याय से मिले हुए होते हैं वहाँ सकर अलकार होता है। जैसे—

"करुणामय को भाता है तम के पर्दे से आना।
ओ नभ की दीपावलियो तुम क्षण भर को बुझ जाना॥"

इसमें दो रूपक हैं, एक तम के पर्दे में है और दूसरा तम की दीपावलियो में है। ये दोनो परस्पर एक दूसरे की शोभा को बढा रहे हैं इसलिए एक दूसरे से नीर-क्षीर न्याय से मिले हुए कहे जायेंगे।

कुछ पाश्चात्य अलकार

मानवीकरण—जब भावनाओ पर मानव-गुणो, रूपो और कार्यो का आरोप कर दिया जाता है तब वहाँ मानवीकरण अलकार होता है। जैसे—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक सकुचित बैठी-सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए-सी ऐंठी-सी॥"

यहाँ पर पृथ्वी पर वधू के रूप, गुण और कार्यों का आरोप किया गया है इसलिए यहाँ मानवीकरण अलकार है।

ध्वन्यर्थ व्यजना—जब कवि अपनी रचना में ऐसी शब्द-ध्वनियो का नियोजन करता है जो कर्ण को मधुर लगती हैं और साथ ही साथ अज्ञात रूप से अर्थ-सौन्दर्य का भी आभास कराती हैं। जैसे—

"पपिहों की वह पीन पुकार, निर्झरो की भारी झरझर।
झींगुरों की झीनी झकार और घनो की गुरु गभीर घहर॥"

यहाँ पर कवि ने नाद-सौंदर्य के सहारे ही सौदर्य की व्यजना करदी है।

विशेषण-विपर्यय—भाव को तीव्रतर करने के लिए आधुनिक कवि विशेषण को अपनी वास्तविक जगह से हटाकर ऐसी जगह पर नियोजित करता है जहाँ पर वह एक लाक्षणिक अर्थ देने लगता है। लाक्षणिक अर्थ से रचना का अर्थ-सौन्दर्य बढ जाता है। जैसे—

"कल्पने आओ सजनि उस प्रेम की।
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुन॰॥"

यहाँ पर सुधि को सजल कहना विशेषण-विपर्यय है। ऐसा कहकर कवि ने एक ऐसे व्यक्ति के चित्र की व्यजना की है जो आँसू बहा रहा हो।

रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्त्तक आचार्य वामन थे। अलकार सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा काव्य में अलकार की महत्ता का विवेचन हो चुका था किन्तु इस विवेचन से काव्य के प्राण की स्पष्ट व्याख्या न हो सकी। अत अलकारवादियो का मत विवादास्पद ही बना रहा। इस मत की प्रतिक्रियास्वरूप रीति सम्प्रदाय की स्थापना हुई। आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर स्पष्ट शब्दो में आलकारिको का विरोध किया है और रीति या शैली को काव्य की आतमा कल्पित किया है।

रीति शब्द की व्युत्पत्ति—रीति शब्द की उत्पत्ति 'रीङ्' धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है। इसका अर्थ है मार्ग पन्थ या गति। महाराजा भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में इसकी उत्पत्ति इस प्रकार दी है—

"वैदर्भादिकृत पन्था. काव्ये मार्ग इतिस्मृत
रीङ् गताविति धातो. सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते" (२।२७)

अभिव्यक्ति के विभिन्न मार्ग होते हैं। लेखक अपनी रुचि के अनुसार इन मार्गों का अनुसरण करते हैं। रीति शब्द इसी अभिव्यक्ति वैभिन्य का द्योतक है। वामन से पूर्व रीति के स्थान पर अधिकतर मार्ग शब्द प्रयुक्त किया जाता था। आजकल हिन्दी में इसके लिए शैली शब्द का प्रयोग होता है। शैली शब्द की उत्पत्ति भी शील शब्द से हुई है। यह भी लेखक के स्वभाव की ओर ही सकेत करता है। प्राचीन सस्कृत शास्त्र में शैली शब्द किसी व्याख्यान पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। कुल्लूक भट्ट की टीका में शैली का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।

रीति की परिभाषा और व्याख्या—सर्वप्रथम वामन ने ही रीति को परिभाषा-बद्ध कर उसकी विस्तृत व्याख्या की है। 'काव्यालकारसूत्र' में उन्होने रीति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"विशिष्टा पदरचना रीति। विशेषो गुणात्मा' (१।२।७)

अर्थात् माधुर्य आदि गुणो से युक्त रचना ही रीति है। गुणो को उन्होने रीति में सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

आचार्य वामन के अतिरिक्त रीति सम्प्रदाय का अन्य कोई प्रसिद्ध विद्वान् नहीं है जिन्होने रीति पर विचार किया हो। इसका कारण है कि मम्मट आदि के रसवादी सिद्धान्त के सम्मुख रीति सम्प्रदाय अधिक मान्य न हो सका।

रीति सम्प्रदाय के बहिर्गत कुछ अन्य आचार्यो ने रीति के स्वरूप को स्पष्ट किया है। यह स्वरूप बहुत कुछ वामन द्वारा निर्देशित रीति के लक्षण मे साम्य रखता है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने रीति को 'कवि प्रधान हेतु' या कवि कर्म की विधि कहा है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे 'वाक्यवाचक चारुत्व हेतु' कहकर रीति को शब्द और अर्थ में चारुता लाने वाला उपादान माना है। उन्होने रीति का रस से सम्बन्ध स्थिर करने का भी प्रथम और सारगर्भित प्रयास किया है—

"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्तिसा
रसान् . . . ."

अर्थात् पद रचना (सघटना) माधुर्य आदि गुणो के आधार पर आश्रित रहती और रस की अभिव्यक्ति में सहायक होती है।

आचार्य वामन के 'विशेषो गुणात्मा' वाले कथन को इन्होने 'सघटना' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। सघटना का अर्थ है पदो की सम्यक् या शोभन रचना।

'साहित्य-दर्पण' के प्रणेता विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार रीति का स्वरूप स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—

"पदसघटना रीति अगसस्थाविशेषवत
उपकर्त्री रसादीनाम् · · ·· "

अर्थात् जिस प्रकार कामिनी के अगो का एक निश्चित सघटन सौन्दर्यशाली होता है उसी प्रकार पदो की नियमवद्ध सघटना भी सुन्दर होती है उसे रीति कहते हैं। इस प्रकार की पद सघटना या रस रीति आदि काव्य सौन्दर्य के विविध तत्त्वो के परिवर्धन में सहायक होती है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने सघटना और गुणो का सम्बन्ध भी स्थिर किया है। प्रसादगुण की स्थिति तो वे सभी सघटनाओ या रीतियो में मानते हैं—

'सर्वासु च सघटनासु प्रसादाख्यौ गुणो व्यापी। सहि सर्वसाधारण सर्वसघटना-साधारणश्चेत्युक्तम्' इत्यादि।

मम्मट ने भी सभी रचनाओ में प्रसाद गुण की स्थिति अवश्य मानी है। उनकी धारणा है—

"शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति "

—काव्यप्रकाश अष्टम उ०, ७० का०

इस प्रकार आचार्य वामन के समान सभी आचार्यों ने रीति में गुणो को स्वीकार किया है।

गुणों का लक्षण—गुणो का विवेचन प्राचीनतम लक्षण ग्रन्थो में भी मिलता है। भरत मुनि ने अपने 'नाटयशास्त्र' में गुणो के स्थान पर दोपो के विपर्यय का उल्लेख किया है।

अग्निपुराण में भी गुणो के स्वरूप और काव्य में उनके महत्त्व की चर्चा की गई है। गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"य काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुण " —३४६।३

अर्थात् काव्य में महान् शोभा का सृजन करने वाला तत्त्व गुण है।

वामन ने भी इसी प्रकार लिखा है—

"काव्यशोभाया कर्त्तारोधर्मा गुणाः" —काव्यालकारसूत्र

मम्मटाचार्य ने रस से गुणो का सम्बन्ध स्थिर करते हुए गुणो का स्वरूप अधिक स्पष्ट कर दिया है—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन.
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो. गुणा."

—का० प्र० ८।६६

गुणों की सख्या—साहित्यशास्त्र में ओज, माधुर्य और प्रसाद तीन गुणो का उल्लेख किया जाता है किन्तु प्राचीन सस्कृत साहित्य में गुणों की सख्या इनसे अधिक थी। प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ 'नाटयशास्त्र' में दोपो के विपर्यय की सख्या दस वतलाई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

"श्लेष, प्रसाद, समता समाधिर्माधुर्य्यमोजः पदसौकुमार्य्यम्
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यार्थगुणादशैते"

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थ व्यक्ति, उदारता और कांति काव्य के यह दस गुण हैं।

भरत मुनि द्वारा निर्देशित इन्ही गुणो के आधार पर कुछ परवर्ती आचार्यो ने स्वतन्त्रता से काम लिया है और गुणो की सख्या यथारुचि परिवर्द्धित करते गये हैं। अग्निपुराण में गुणों की सख्या १६ दी हुई है। दण्डी ने कुछ भिन्न क्रम से दस ही गुण माने हैं। इनके वाद वामन ने १० गुण शब्द के और १० गुण अर्थ के इस प्रकार २० गुण वताए हैं। भोजराज ने इनकी सख्या और भी वढा दी है। वे २४ गुण शब्द के और २४ अर्थ के मानते हैं।

कुछ अन्य आचार्यो ने गुणो की सख्या के इस परिवर्धन को सारगर्भित न मानकर इनका विरोध किया है। आचार्य भामह ने इन सभी गुणो का समावेश तीन गुणो में करके माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुण ही स्वीकार किए हैं। आचार्य मम्मट ने भी भामह द्वारा निर्देशित इस अन्तर्भाव को स्वीकार किया है। अन्य सभी गुणो को दोष के अभावरूप और दोष रूप सिद्ध करके अपना स्थिर मत निश्चित किया है। वे वामन द्वारा निर्देशित श्लेष, उदारता, प्रसाद और ओज इनको ओज गुण के अन्तर्गत और अर्थ-व्यक्ति को प्रसाद गुण के अन्तर्गत मानते हैं। माधुर्य गुण को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है। समता गुण को मम्मट ने दोष रूप सिद्ध किया है और कान्ति और सुकुमारता को ग्राम्यत्व और कष्टत्व दोषो के अभाव मात्र सिद्ध किए हैं। वे कहते हैं कि इन दोनो दोषो के अभाव में कान्ति और सुकुमारता स्वतः ही स्थिर हो जाती है। इस प्रकार गुणो की सख्या की कटु आलोचना करके पुष्ट तर्कों द्वारा मम्मट ने ओज, माधुर्य और प्रसाद इन तीनो गुणो को स्वीकार किया है। मम्मट का यह मत सर्वमान्य रहा है।

रस और गुणो का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध—वामन ने रस को गुण का आश्रित कहा है किन्तु ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यो ने रस का मनोवैज्ञानिक निरूपण कर गुण से उसका सम्बन्ध स्थिर किया है। वे आचार्य वामन के विपरीत रस को साध्य रूप और रीति को साधन मानते हैं। वे शब्द और अर्थ के उस रचना-चमत्कार को रीति मानते हैं जिनमें माधुर्य ओज और प्रसाद गुणो द्वारा रस का आस्वादन कराने की शक्ति हो। रस तत्व का चित्तवृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है अत गुण का भी मनोवैज्ञानिक आधार अवश्य ही होगा। आनन्दवर्धनाचार्य ने द्रुति और दीप्ति से गुण का सम्बन्ध बताया है। वे कहते हैं कि जिन रसो मे चित्त आह्लादित और दीप्त होता है वहाँ माधुर्य, ओज आदि गुणो की स्थिति रहती है। किन्तु उन्होंने अपने कथन को स्पष्ट नहीं किया है। अभिनवगुप्त ने रस और गुण के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है।

डा० नगेन्द्र ने अपनी 'रीतिकाव्य की भूमिका' (पूर्वार्द्ध, पृ० ११०) में रस और गुण के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है।

उनका मत है कि गुण चित्त की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। चित्त की द्रवितावस्था में माधुर्य की और दीप्ति और व्याप्ति में ओज और प्रसाद की स्थिति रहती है। रसानुभूति चित्त की इन्ही अवस्थाओ के द्वारा होती है। शृंगार रस हृदय द्रवित होता है अत उसमें माधुर्य गुण की अधिकता दिखलाई पडती है। वीर रस हृदय को दीप्त करने की क्षमता रखता है अत ओज गुणप्रधान होता है। हृदय को व्यापकत्व की स्थिति में लाने वाले सभी रसों में प्रसाद गुण रहता है। इस प्रकार रस की अनुभूति गुणस्थित विभिन्न चित्तवृत्तियो के अनुसार होती है अत अभिनवगुप्त के गुण और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध माना है और चित्तवृत्ति को ही गुण कहा है। आचार्य मम्मट ने इसके विपरीत गुण को ही चित्त-द्रुति का कारण मानकर रस का उत्कर्षक हेतु कहा है। विश्वनाथ ने मम्मट के मत का विरोध करके गुण को रस से अभिन्न माना है। इन्होने अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन किया है।

प्रमुख गुणो के लक्षण

माधुर्य गुण—माधुर्य गुण उस रचना में माना जाता है जिसमें अन्त करण को आनन्द से द्रवित करने की क्षमता होती है। यह क्षमता आचार्य मम्मट के मतानुसार उस रचना में आती है जिसमें ट, ठ, ड, ढ को छोड क से लेकर म तक के अक्षर ङ, ञ, ण, न, म, से युक्त ह्रस्व स्वर और ण समास का अभाव या अल्प समास के पद आदि की प्रतिष्ठा होती है। माधुर्य गुण का उदाहरण देखिए—

"कंकण किंकिणि नूपर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुंदुभि दीन्ही,
मनसा विश्वविजय कह कीन्ही ॥"

ओज गुण—ओज में चित्त को स्फूर्ति से उत्तेजित करने की विशेषता होती है। ओज गुण की प्रतिष्ठा के लिए द्वित्व वर्णो, संयुक्त वर्णों, र का संयोग और ट, ठ, ड, ढ, तथा समासाधिक्य कठोर वर्णों की प्रचुरता आवश्यक होती है।

"तब सरजा कोपा वरिबण्डा,
जनहु सबूर करे भुजदण्डा।
कोपि गरजि मरेसि तस बाजा,
जानहुँ परी टूटि सिर गाजा।
ठाँठर टूट फूट सिरतासू,
ज्यों सुमेरु ज्यों टूट अकासू ॥" —जा० ग्र० २९३

प्रसाद गुण—जिसके चित्त में उदय होते ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। यह गुण सभी प्रकार की रचनाओ में व्याप्त हो सका है—

"बरनों माँग सीस उपराहीं
सेंदुर अबहि चढ़ा जेहि नाहीं
बिन सेंदुर जस जानहु दीया
उजियर पथ रैनि महकीया।"

संस्कृत में शैलियो का विकास—संस्कृत साहित्य में पाश्चात्य साहित्य से अधिक रीति की वैधानिक विशेषताओ और उनके विभिन्न स्वरूपो पर विचार हुआ है। इन्ही प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर प० बलदेव उपाध्याय ने अपने 'भारतीय साहित्यशास्त्र' के द्वितीय खड में रीतियो के इतिहास को तीन श्रेणियो में रखा है—

१ भौगोलिक विशेषताओ से समन्वित शैलियो का युग—इस युग में लेखक अपनी प्रान्तीय भाषा में ही रचना करते थे। इसके प्रमुख आचार्य बाण, भामह, दण्डी, वामन आदि हैं।

२ वर्ण्य-वस्तु के अनुरूप शैली प्रयोग का युग—इस युग में भौगोलिक विशेषताओ के आधार पर पूर्व निर्धारित नाम ही ग्रहण किए गए किन्तु लेखक अपने प्रान्त की ही भाषा न अपनाकर विषय के अनुसार शैली का प्रयोग करने लगे। जैसे वैदर्भी शैली दसो गुणो से युक्त होने के कारण प्रत्येक शृगार-रस-प्रधान रचना के लिए मान्य मानी जाने लगी। इस युग के प्रधानाचार्य रुद्रट, राजशेखर, भोजराज और बहुरूप मिश्र आदि हैं।

३ आचार्य कुन्तक और उनके अनुवर्ती आचार्यो का युग—कुन्तक ने शैली में व्यक्तित्व को सबसे अधिक प्रधानता दी है। अत भौगोलिक विशेषताओ के आधार पर शैलियों के नाम निर्देश का विरोध करके व्यक्तिगत विशेषताओ के आधार पर नवीन नाम निश्चित किए हैं।

यहाँ पर हम इन तीनों युगो के प्रमुखाचार्यो के रीति विचार पर एक दृष्टि डालेंगे।

बाणभट्ट—बाणभट्ट पहले कवि हैं जिन्होने 'हर्षचरित' के आरम्भ में प्रत्येक प्रान्त की साहित्यिक विशेषताओ पर विचार किया है। उदीच्य, प्रतीच्य आदि चारो दिशाओ के निवासी शैलीगत अपनी-अपनी विशेष रुचि रखते है—यह बात उनके निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट होती है—

"श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौणेष्वक्षरडम्बर"

इस प्रकार बाणभट्ट ने अपने समय में प्रचलित चार प्रकार की शैलियो का सकेत किया है। किन्तु वह स्वय सभी शैलियो के सुन्दर सारभूत तत्त्व को लेकर अपनी नवीन शैली-निर्माण के पक्षपाती थे। किन्तु बाणभट्ट का यह रीति विचार व्यावहारिक दृष्टिकोण से नहीं किया गया है।

भामह—भामह सर्वप्रथम आलकारिक हैं जिन्होने तात्त्विक दृष्टि से रीति पर विस्तार से विचार किया है। इनका 'काव्यालकार' इस विषय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन्होंने केवल दो मार्ग या रीतियो का सकेत किया है—वैदर्भी और गौडीय। अच्छे काव्य के पाँच गुणो का भी निर्देश किया है—

अलकारवत्ता—अलकारयुक्त होना
अग्राम्यत्व—अशिष्टता का अभाव
अर्थ्यत्व—अर्थवत्ता

न्याय्यत्व—सर्वसम्मत सिद्धान्तो से युक्त होना

अनाकुलत्व—शब्दाडम्बर का अभाव होना

भामह के समय में वैदर्भी शैली काव्योपयुक्त समझी जाती थी किन्तु भामह ने किसी भी शैली का अन्धानुसरण का विरोध करते हुए इन्ही पांच गुणो को सत्काव्य की कसौटी निश्चित किया है—

"अलकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्
गौडीयमपि साधीय, वैदर्भमपि नान्यथा"

अर्थात् अलकार, ग्राम्य, अर्थ्य, न्याय्य और अनाकुलत्व इन गुणोयुक्त गौणीय रीति भी श्लाघनीय है और इनसे रहित वैदर्भी भी त्याज्य है।

दण्डी—दण्डी प्रधान रूप से अलकारवादी थे किन्तु 'काव्यादर्श' में रीति पर भी विचार किया है। इन्होने प्रत्येक कवि की शैली में सूक्ष्म भेद का सकेत करते हुए लिखा है—

"इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तर महत्
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते" —काव्यादर्श १-१०२

अर्थात् ईख, गुड, दूध आदि मधुर होते हुए भी उनकी मधुरता में अन्तर होता है। इस अन्तर को स्वय सरस्वती भी स्पष्ट नही कर सकती। इसी प्रकार एक ही रीति का प्रयोग करने वाले विभिन्न कवि की सृष्टि में भी सूक्ष्म भेद दिखलाई पडता है।

किन्तु फिर भी दण्डी ने काव्य गुणो के आधार पर वैदर्भी और गौणीय दोनों शैलियो का विस्तृत विवेचन किया है। गुण और रीति के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए वैदर्भी में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि इन दसो गुणों का होना आवश्यक बताया है। भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'काव्यस्य गुणा दशैते' कहकर इन दस गुणों को सभी प्रकार के काव्य के लिए अपेक्षित कहा है। किन्तु दण्डी ने इनको केवल वैदर्भी शैली का प्राण कहा है—

"इत्ति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृता.
एषा विपर्यय प्रायोदृश्यते गौडवर्त्मनि।" —काव्यादर्श १।४२

वैदर्भी शैली को दण्डी ने उत्तम और गौडीय को निकृष्ट कहा है। गौडीय में प्राय. इन दस गुणो के विपर्यय की अवस्थिति मानी है। दण्डी ने इन दस गुणो को व्यापक रूप में ग्रहण किया है। उनका सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक और वाह्य दोनों पक्षो से माना है।

वामन—वामन प्रमुख रीतिवादी आचार्य हैं। इन्होंने स्पष्ट ही रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रीति में गुण को भी समान महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं—

"विशिष्टपदरचना रीति., विशेषो गुणात्मा"

अर्थात् विशेष प्रकार की पदरचना रीति है। रीति में यह विशेषता विशेष गुणों से आती है। इन्होंने गुणों के शब्द गुण और अर्थगुण दो भेद मौलिक ढग पर स्वीकार किए हैं। अर्थगुण का सम्बन्ध रसोत्कर्ष से माना है। वामन के मतानुसार वैदर्भी में अर्थगुण की और गौडीय में शब्दगुण की प्रधानता होती है। गुणो में वन्धगुण,

अलङ्कार और रस का सन्निवेश भी किया जाता है। पाश्चात्य आलोचक डिमीट्रियस ने भी रीति में इन तीनो का विवेचन किया है।

वामन ने तीन प्रकार की शैलियाँ मानी हैं—वैदर्भी, गौणी और पाञ्चाली। वैदर्भी को समग्र गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ माना है। इसमें गुणसाकल्य (गुणो की समग्रता) के साथ गुणस्फुटत्व (गुणो की विशदता) भी रहती है। रीति और गुणो के सम्बन्ध में दण्डी से वामन का मत भिन्न है। वामन ने दण्डी के समान गौणी को पूर्ण निकृष्ट शैली नही मानी है। उसे वे ओज और कान्ति गुणो से युक्त मानते हैं—'ओज कान्तिमती गौणी या'। पाञ्चाली में वे ओज तथा कान्ति गुणो से रहित और माधुर्य और सौकुमार्य गुणो से युक्त होना अनिवार्य बताते हैं।

रुद्रट—रुद्रट के समय से रीति विकास का दूसरा युग आरम्भ होता है। इन्होने रीति का वर्गीकरण एक नवीन आधारभूमि पर किया है। यह वर्गीकरण समस्त पद और असमस्त पद के आधार पर हुआ है। उन्होने तीन प्रकार के समस्त पद माने है—लघु समास, मध्य समास और आयत या दीर्घ समास। इन्ही के आधार पर पाचाली, लाटीया और गौडीया तीन प्रकार की रीतियाँ निश्चित की हैं। रुद्रट के मतानुसार पाञ्चाली में दो या तीन समस्त पद रहते हैं, लाटीया में पाँच या सात और गौणीया में अधिकतर समस्त पद ही रहते हैं। इनका मत है कि वैदर्भी और पाञ्चाली माधुर्य और सौकुमार्य गुणो से युक्त होने के कारण शृंगार, प्रेयान, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसो की रचना के लिए अभीष्ट शैली है और गौणीया ओज और बन्ध से सयुक्त होने के कारण रौद्र रस की रचना के लिए उपयुक्त है। अन्य रसों में कोई भी इच्छित शैली का प्रयोग किया जा सकता है। निम्न कारिका में यही बात स्पष्ट की गई है—

"वैदर्भी पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयो.
लाटीया गौडीये रौद्रे कुर्याद्र यथौचित्यम् ॥"

राजशेखर—राजशेखर के समय में वैदर्भी, पाञ्चाली, गौणी और लाटीया चार शैलियाँ प्रचलित थी। किन्तु राजशेखर ने लाटीया रीति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही की है। इनका 'रीति निर्णय' नामक रीति ग्रन्थ उपलब्ध नही है। अत उ सिद्धान्तों का परिचय 'काव्य-मीमासा' और उनके नाटको से प्राप्त किया जा सकता है।

राजशेखर ने रीति, प्रवृत्ति और वृत्ति इन तीनो के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए एक मधुर कल्पना की है। इन तीनो का उद्भव वे साहित्य-वधू को वाणी, वेशभूषा और विलास से कल्पित करते हैं। उन्होंने लिखा है कि साहित्य-वधू अपने प्रियतम काव्य-पुरुष की खोज में भारत की चारो दिशाओ में भ्रमण करती है। वह विचित्र विलास और अनुपम वेशभूषा धारण कर अपने मनोगत भावो के अभिव्यञ्जन से हेतु नवीन मधुर वाणी का आश्रय लेती है। उसके विलास मे वृत्ति का, वेशभूषा से प्रवृत्ति का और वाणी-विन्यास से रीति का उद्भव होता है। राजशेखर ने इस उद्भव को इस प्रकार लिखा है—

"वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रमोवृत्ति, वचनविन्यासक्रमोरीति."

राजशेखर का रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति का यह विकास-क्रम इस तालिका से

स्पष्ट हो जाएगा—

देश	प्रवृत्ति	वृत्ति	रीति
गौड	ओड्रमागधी	भारती	गौडी
पाञ्चाल	पाञ्चालमध्यमा	सात्वती, आरभटी	पाञ्चाली
अवन्ती	आवन्ती	सात्वती, कैशिकी	
विदर्भ	दाक्षिणात्या	कैशिकी	वैदर्भी

साहित्य-वधू ने जिस-जिस देश में जाकर जिस वेशभूषा, विलास और वाक्य-विन्यास को धारण किया उससे क्रमश जिन प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का जन्म हुआ वह उपर्युक्त तालिका में दिखाया गया है। राजशेखर ने तीनो का यह सामञ्जस्य विधान भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर किया है।

राजशेखर ने रीतियो के परस्पर अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उनकी विशेषताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं—

वैदर्भी	पाञ्चाली	गौडी
असमास	ईषदसमास	समास
स्थानानुप्रास	ईषदनुप्रास	अनुप्रास
योगवृत्ति	उपचार	योगवृत्ति परम्परा

राजशेखर ने वैदर्भी रीति को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। उनका कथन है कि साहित्य वधू के वैदर्भीरीति पूर्ण रूप से में सम्भाषण करनेपर काव्य-पुरुष आकृष्ट (अत्यर्थ वशवदीकृत)हुए थे। वे बालरामायण में इसकी मधुरता को ध्वनित करते हुए लिखते हैं—

"वाग्वैदर्भी मधुरिमगुण स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम्"

अर्थात् वैदर्भी से कर्णप्रिय माधुर्यगुण का प्रस्रवण होता है।

वे वैदर्भ देश में ही रस उत्पन्न करने वाले वाग्देवता का निवास मानते हैं। अत वैदर्भी में रस माधुर्य और प्रसाद का समावेश स्वाभाविक ही है। पाञ्चाली रीति से सम्बन्धित राजशेखर की यह कारिका मिलती है—

"शब्दार्थयो समोगुम्फ पाञ्चाली रीति रिष्यते
शीलाभट्टारिकावाचि वाणोक्तिषु च सा यदि"

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का समान रूप से सन्निवेश हो वह पाञ्चाली रीति है, इसका प्रयोग वाणभट्ट और शीला भट्टारिका ने अपने काव्य में किया है।

इन्होने 'काव्य-मीमासा' में गौडी का, और 'कर्पूरमञ्जरी' में मागधी रीति का उल्लेख किया है। मागधी गौडी का ही रूपान्तर है। गौडी और वैदर्भी के विशिष्ट गुणो से युक्त मैथिली रीति भी सकेतित की है। इसमें अर्थातिशय, अल्पसमास और योग-परम्परा तीन गुण प्रधान रूप से होते हैं। इस रीति की स्वतन्त्र सत्ता नही है।

भोजराज—भोजराज ने पूर्व-प्रचलित चार प्रमुख रीतियो के अतिरिक्त अवन्तिका और मागधी दो रीतियाँ और नियोजित की हैं। उन्होने ओज में रीतियों के समीक्षात्मक लक्षण लक्षित नहीं किए हैं। राजशेखर के रीतिलक्षणो को ही स्वीकार किया है। अवन्तिका

का इन्होंने वैदर्भी और पाञ्चाली की मध्यवर्तिनी माना है। अवन्तिका और मागधी के लक्षण क्रमश इस प्रकार दिए हैं—

"अन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योर्याऽवतिष्ठते
साऽवन्तिका समस्तै स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरै. पदै."

अर्थात् अवन्तिका पाञ्चाली और वैदर्भी के अन्तराल में स्थित है। इसमें दो, तीन या चार समस्त पद रहते हैं।

"समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी ॥"

अर्थात् सब रीतियो के मिश्रण को लाटी रीति कहते हैं और इस रीति के निर्वाह न होने पर खण्ड रीति को मागधी कहते है। शारदातनय, शिगभूपाल और अग्निपुराण के रचयिता ने भोजराज के रीति लक्षणो को ही स्वीकार किया है।

बहुरूप मिश्र—बहुरूप मिश्र ने दशरूपक व्याख्या में रीतियो का वर्णन किया है। रीतियो के प्रमुख विभेदक पांच लक्षण माने हैं–समास तारतम्य, उपचार तारतम्य, बन्ध-सौकुमार्यादि तारतम्य, अनुप्रासभेद और योगादिभेद। किन्तु भोजराज बहुरूप मिश्र आदि आचार्य अपने रीति विचार में राजशेखर के ही ऋणी है।

आचार्य कुन्तक—कुन्तक रीति विकास के तृतीय युग के प्रवर्तक आचार्य हैं। इन्होने रीति का मौलिक ढग पर मनोवैज्ञानिक विभेद किया है। यह रीति का सम्बन्ध कवि स्वभाव से मानते हैं। कवि के काव्योचित स्वभाव वैचित्र्य को वे प्रमुख रूप से तीन नामों के अन्तर्गत निर्दिष्ट करते हैं—

१ सुकुमार—इस भाव से युक्त कवि के अन्तर में सुकुमारता और रमणीयता की सहज प्रवृत्ति होती है।

२ विचित्र—इस भाव से युक्त कवि में स्वभावगत विचित्रता और उद्दीप्ति रहती है।

३. मध्यम—मध्यम स्वभाव वाले कवि की शक्ति प्रथम दोनो स्वभाव के मध्यमार्ग की अनुगामिनी होती है।

कवि के इन तीनो स्वभावो के आधार पर कुन्तक ने क्रमश. सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग मध्यम मार्ग कल्पित किए हैं। सुकुमारमार्ग में नैसर्गिक मधुरता, रसात्मकता और सहज आलङ्कारिकता का समावेश होता है। वक्रोक्तिजीवित में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

'अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुर'
अयत्नविहितस्वल्प मनोहारिविभूषण
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्य कौशल
रसादिपरमार्थज्ञमत —सवादसुन्दर.
अविभावित सस्था न रामणीयकरञ्जक
विधियंदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपम
यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्

स्पष्ट हो जाएगा—

देश	प्रवृत्ति	वृत्ति	रीति
गौड	ओड्रमागधी	भारती	गौडी
पाञ्चाल	पाञ्चालमध्यमा	सात्वती, आरभटी	पाञ्चाली
अवन्ती	आवन्ती	सात्वती, कैशिकी	..
विदर्भ	दाक्षिणात्या	कैशिकी	वैदर्भी

साहित्य-वधू ने जिस-जिस देश में जाकर जिस वेशभूषा, विलास और वाक्य-विन्यास को धारण किया उससे क्रमश जिन प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का जन्म हुआ वह उपर्युक्त तालिका में दिखाया गया है। राजशेखर ने तीनो का यह सामञ्जस्य विधान भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर किया है।

राजशेखर ने रीतियो के परस्पर अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उनकी विशेषताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं—

वैदर्भी	पाञ्चाली	गौडी
असमास	ईपदसमास	समास
स्थानानुप्रास	ईपदनुप्रास	अनुप्रास
योगवृत्ति	उपचार	योगवृत्ति परम्परा

राजशेखर ने वैदर्भी रीति को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। उनका कथन है कि साहित्य वधू के वैदर्भीरीति पूर्ण रूप से में सम्भाषण करनेपर काव्य-पुरुष आकृष्ट (अत्यर्थ वशवदीकृत) हुए थे। वे बालरामायण में इसकी मधुरता को ध्वनित करते हुए लिखते हैं—

"वाग्वैदर्भी मधुरिमगुण स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम्"

अर्थात् वैदर्भी से कर्णप्रिय माधुर्यगुण का प्रस्रवण होता है।

वे वैदर्भ देश में ही रस उत्पन्न करने वाले वाग्देवता का निवास मानते हैं। अत. वैदर्भी में रस माधुर्य और प्रसाद का समावेश स्वाभाविक ही है। पाञ्चाली रीति से सम्बन्धित राजशेखर की यह कारिका मिलती है—

"शब्दार्थयो समोगुम्फ. पाञ्चाली रीति रिष्यते
शीलाभट्टारिकावाचि वाणोक्तिषु च सा यदि"

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का समान रूप से सन्निवेश हो वह पाञ्चाली रीति है, इसका प्रयोग वाणभट्ट और शीला भट्टारिका ने अपने काव्य में किया है।

इन्होंने 'काव्य-मीमासा' में गौडी का, और 'कर्पूरमञ्जरी' में मागधी रीति का उल्लेख किया है। मागधी गौडी का ही रूपान्तर है। गौडी और वैदर्भी के विशिष्ट गुणों से युक्त मैथिली रीति भी सकेतित की है। इसमें अर्थातिशय, अल्पसमास और योग-परम्परा तीन गुण प्रधान रूप से होते हैं। इस रीति की स्वतन्त्र सत्ता नही है।

भोजराज—भोजराज ने पूर्व-प्रचलित चार प्रमुख रीतियो के अतिरिक्त अवन्तिका और मागधी दो रीतियाँ और नियोजित की हैं। उन्होने ओज में रीतियो के समीक्षात्मक लक्षण लक्षित नहीं किए हैं। राजशेखर के रीतिलक्षणो को ही स्वीकार किया है। अवन्तिका

का इन्होंने वैदर्भी और पाञ्चाली की मध्यवर्तिनी माना है। अवन्तिका और मागधी के लक्षण क्रमश इस प्रकार दिए हैं—

"अन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योर्याऽवतिष्ठते
साऽवन्तिका समस्तै. स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरै. पदै."

अर्थात् अवन्तिका पाञ्चाली और वैदर्भी के अन्तराल में स्थित है। इसमें दो, तीन या चार समस्त पद रहते हैं।

"समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी ॥"

अर्थात् सब रीतियो के मिश्रण को लाटी रीति कहते हैं और इस रीति के निर्वाह न होने पर खण्ड रीति को मागधी कहते हैं। शारदातनय, शिगभूपाल और अग्निपुराण के रचयिता ने भोजराज के रीति लक्षणो को ही स्वीकार किया है।

वहुरूप मिश्र—बहुरूप मिश्र ने दशरूपक व्याख्या में रीतियो का वर्णन किया है। रीतियो के प्रमुख विभेदक पाँच लक्षण माने हैं—समास तारतम्य, उपचार तारतम्य, वन्ध-सौकुमार्यादि तारतम्य, अनुप्रासभेद और योगादिभेद। किन्तु भोजराज वहुरूप मिश्र आदि आचार्य अपने रीति विचार में राजशेखर के ही ऋणी हैं।

आचार्य कुन्तक—कुन्तक रीति विकास के तृतीय युग के प्रवर्तक आचार्य हैं। इन्होंने रीति का मौलिक ढग पर मनोवैज्ञानिक विभेद किया है। यह रीति का सम्बन्ध कवि स्वभाव से मानते हैं। कवि के काव्योचित स्वभाव वैचित्र्य को वे प्रमुख रूप से तीन नामों के अन्तर्गत निर्दिष्ट करते हैं—

१. सुकुमार—इस भाव से युक्त कवि के अन्तर में सुकुमारता और रमणीयता की सहज प्रवृत्ति होती है।

२ विचित्र—इस भाव से युक्त कवि में स्वभावगत विचित्रता और उद्दीप्ति रहती है।

३ मध्यम—मध्यम स्वभाव वाले कवि की शक्ति प्रथम दोनो स्वभाव के मध्यमार्ग की अनुगामिनी होती है।

कवि के इन तीनो स्वभावो के आधार पर कुन्तक ने क्रमश. सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग मध्यम मार्ग कल्पित किए हैं। सुकुमारमार्ग में नैसर्गिक मधुरता, रसात्मकता और सहज आलकारिकता का समावेश होता है। वक्रोक्तिजीवित में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

'अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थवन्धुर.
अयत्नविहितस्वल्प मनोहारिविभूषण.
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्य कौशल
रसादिपरमार्थज्ञमत—संवादसुन्दर.
अविभावित संस्था न रामणीयकरञ्जक
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपम
यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्

सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्रविराजते
सुकुमाराधिप सोऽय येन सत्कवयो गता
मार्गरणोत्फुल्ल कुसुमकाननेव पट्पदा "—वक्रोक्तिजीवित १।२५-२६

विचित्र मार्ग का प्राण अलकार होते हैं। कुन्तक ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—

"यद्यप्यनूतनोल्लेख वस्तु यत्र तदप्यलम्
उक्ति वैचित्र्यमात्रेण काष्ठा कामपि नीयते"
(वक्रोक्तिजीवित १।३८)

अर्थात् इसमें किसी नवीन अर्थ का सकेत नही होता वल्कि उक्ति-वैचित्र्य द्वारा वर्ण्य-विषय को चमत्कार की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है। इसमें सुकुमार मार्ग की सहज प्रवृत्ति के विपरीत प्रत्येक वात यत्नपूर्वक रची जाती है। वाण, भवभूति, राजशेखर आदि इस मार्ग के प्रधान कवि हैं। मध्यम मार्ग में दोनो मार्गों के विशिष्ट गुणो का मिश्रण रहता है। इसमें भावो का सहज सौन्दर्य और अलकारो का चमत्कार दोनो ही रहते हैं।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में शैली के पर्यायवाची शब्द रीति के अभिधान से शैलियो पर विस्तृत विवेचन हुआ है। सस्कृत में शैली शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका में किया है। यहाँ पर 'शैली' शब्द का प्रयोग किसी सूत्र की व्याख्या-पद्धति के लिए किया जान पडता है। अत सस्कृत में 'शैली' शब्द अपने प्रारम्भिक प्रयोग में सम्भवतः आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना-प्रणाली के लिए ही स्वीकार की गयी थी। साधारणतया सस्कृत में काव्य-रचना-शैली के लिए 'रीति' शब्द का ही व्यापक प्रयोग मिलता है।

रीति के नियामक—लेखक अपने अभीष्ट विषय के लिए कुछ विशेष काव्य-साधनो को दृष्टि में रखकर विभिन्न रीतियो में से उपयुक्त रीति का चुनाव करते है यही काव्य-साधन रीति के नियामक कहलाते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने निम्नलिखित नियामको का उल्लेख किया है—

१ वक्तृ औचित्य।
२ विषयौचित्य।
३ वाच्यौचित्य।
४ रसौचित्य।

(1) प्रत्येक लेखक की अपनी विशिष्ट रुचि होती है। अपनी रुचि के अनुसार ही वे रीति का निर्वाचन करते हैं। स्वभाव और शैली के सामञ्जस्य को आनन्दवर्धनाचार्य ने वक्तृ औचित्य कहा है। वक्तृ का तात्पर्य वक्ता या लेखक से है। उदाहरण के लिए भक्ति काल के वैष्णव भक्त कवियों की वाणी में स्वभावगत कोमलता, दैन्य और प्रपत्ति आदि का भाव देखा जाता है। इसके अनुरूप ही उन्होने कोमलकान्त पदावली से युक्त ब्रजभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। इसके विपरीत रीति कालीन कवियो की वाणी में वर्तमान भौतिक ऐश्वर्य और शृगारप्रियता की पराकाष्ठा उनकी शृगारी रुचि के साक्षी हैं। आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार रसभाव से युक्त कवि

या पात्र द्वारा असमास या मध्यसमास वाली सघटनाएँ प्रयुक्त की जानी चाहिएँ।

(२) काव्य के विशिष्ट प्रकार या विषय के अनुसार भी शैली या रीति का नियोजन होता है। आचार्य मम्मट ने लिखा है—

"आख्यायिकाया शृंगारेऽपि न मसृण वर्णादय.। कथायारौद्रेऽपि नात्यन्त मुद्धता। नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घ समासादय." (का० प्र०, पृ० ३०४)

अर्थात् शृगारप्रधान कहानी में मसृण वर्णों का और रौद्र रस प्रधान कहानी में उद्धत वर्णों का प्रयोग न्यायसगत नही तथा रौद्ररस प्रधान नाटक में भी दीर्घसामास रचना का प्रयोग कदापि नही किया जाता।

विषय का अर्थ यहाँ पर काव्य के विभिन्न स्वरूप या भेद है। कवि या लेखक इन्ही रूपों को दृष्टि में रखकर रीति का विधान करते हैं। जिस रीति से रचना अधिक से अधिक बोधगम्य हो सके उसी रीति का निर्वाचन भी करना चाहिए।

(३) रीति निर्वाचन में वाच्यौचित्य का भी महत्त्व है। वाच्य या वस्तु भी अनेक प्रकार के होते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

"वाच्यं ध्वन्यात्मरसाङ्ग रसाभासाङ्ग वा, अभिनेयार्थम् अनभिनेयार्थ उत्तम-प्रकृत्याश्रय तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्" (ध्वन्यालोक, पृ० १३८)

अर्थात् कोई कथनीय वस्तु ध्वनिभूत रस का या रसाभास का अग होती है। कोई अभिनय के योग्य होती और कोई नही। इसी तरह कुछ वस्तु उत्तम प्रकृति की और कुछ अधम प्रकृति की होती हैं। इस प्रकार वस्तु नाना प्रकार की होती हैं।

लेखक को वस्तु के विविध स्वरूपों के अनुकूल ही रीति का प्रयोग करना चाहिए।

(४) रसौचित्य रीति का चतुर्थ नियामक है। कवि जिस रस को अपनी रचना में स्थान देते हैं उसके अनुरूप ही उनको रीति का भी प्रयोग करना चाहिए अन्यथा रस का पूर्ण विस्तार न हो सकेगा। जैसे आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार करुण और शृंगार में असमास रीति तथा वीर और रौद्र रसों में दीर्घ समास रीति का प्रयोग किया जाना चाहिए।
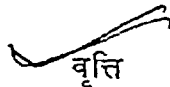
वृत्ति

वृत्ति का स्वरूप और परिभाषा—वृत्ति शब्द 'वृत्' वर्तने धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। वर्तन का अर्थ जीवन होता है। वृत्ति जीवन का वह व्यापार है जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि में सहायता मिलती है। वृत्ति का उल्लेख भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में किया गया है। नाटक में जीवन व्यापारो का ही अनुकरण किया जाता है इसलिए नाटक के आवश्यक अग के रूप में वृत्तियो का विचार किया गया है। किन्तु बाद में आचार्यों ने काव्य में भी वृत्तियों का समावेश किया है। अभिनवगुप्त के मतानुसार समस्त ससार प्रमुख चार वृत्तियो से व्याप्त है—

"आस्तां काव्यार्थ., सर्वो हि संसार. वृत्तिचतुष्केन व्याप्त"

(अभिनव भारती)

अभिनवगुप्त ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"काव्याङ्मनसा चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तय"

अर्थात् नाटक और काव्य के नायक और पात्रो की कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ या व्यापार वैचित्र्य वृत्तियाँ कहलाती है।

आनन्दवर्धनाचार्य और धनञ्जय ने भी वृत्ति को व्यापार कहा है—

'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते' (ध्वन्यालोक ३।३३)

'तद्व्यापारात्मिका वृत्ति'।

जीवन के इन वृत्ति रूप व्यापार विशेषो से जब कवि या नाटककार का हृदय सकुलित होता है तभी वह साहित्य की सृष्टि करता है इसीलिए वृत्तियाँ नाटक या काव्य की जननी कही गई हैं। भरतमुनि ने लिखा है—

"सर्वेषामेव काव्याना वृत्तयो मातृका स्मृता"

(ना० शा० २०।४)

"एवमेते बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातर"

(ना० शा० २२।६४)

नाट्यदर्पणकार आचार्य रामचन्द्र ने अभिनवगुप्त के अनुकरण पर वृत्तियो के मातृत्व को स्वीकार किया है।

वृत्तियो का उदय—वृत्तियो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक रोचक कथाएँ दी गई हैं। ये कथाएँ वैष्णव मत और शैव मत—इन दो मतो के आधार पर हैं। नाट्यशास्त्र में इन दोनों का उल्लेख है। वैष्णव-मतानुयायी वृत्तियो का उद्भव प्रलय के समय भगवान विष्णु और मधु कैटभ राक्षस के युद्ध से बतलाते हैं। युद्ध के समय विष्णु की चार प्रकार की चेष्टाओ से नाटक की चार वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। शैव मतानुयायी भगवान शकर द्वारा तीन वृत्तियो की उत्पत्ति मानते हैं। कैशिकी वृत्ति को वे ब्रह्मा की आज्ञा से शृगार रस से उत्पन्न हुआ बताते हैं। शारदातनय ने एक भिन्न ही कथा की कल्पना की है। उनका मत है कि शिव-पार्वती के ताडव और लास्य नृत्य को देखते हुए ब्रह्मा जी ने अपने चारो-मुखों से चारो रसो के साथ चार वृत्तियो की उत्पत्ति की। किन्तु इस कथा का उल्लेख और कही नही मिलता। राजशेखर ने इस विषय में एक अन्य ही रोचक कथा कल्पित की है। वह लिखते हैं कि साहित्य-वधू अपने प्रियतम काव्य-पुरुष की खोज में विचित्र वेश, विलास और भाव धारण करती है। उसके वेष से प्रवृत्ति, विलास से वृत्ति और वचन से रीति का उद्भव होता है—

"वेशविन्यासक्रम प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रमो वृत्ति वचनविन्यास क्रमो रीति."

इस कथा का उल्लेख रीति प्रकरण में भी किया जा चुका है। इस प्रकार राजशेखर ने प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति तीनों का सामञ्जस्य स्थापित किया है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कथित चारो वृत्तियो की उत्पत्ति चारो वेदो से मानी है—

"ऋग्वेदाद् भारती वृत्ति यजुर्वेदात्तु सात्वती
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा" —ना० शा० २२।२४

नाटक में वृत्तियाँ—नाटक में भरत मुनि ने चार प्रकार की वृत्तियाँ मानी हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। यह चारो वृत्तियाँ दो भागो में विभक्त की गई हैं। शब्दवृत्ति और अर्थवृत्ति। शब्दवृत्ति में भारती वृत्ति आती है क्योंकि इसमें शब्दों की बहुलता रहती है। अर्थवृत्ति में अन्य तीन वृत्तियाँ आती है। इनका सम्बन्ध रस वस्तु और भाव से होता है।

भारती वृत्ति—भरत मुनि ने भारती वृत्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"या वागप्रधाना पुरुष-प्रयोज्या,
स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता,
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥"
(ना० शा० २२।२४)

अर्थात् वह शब्दबहुला सस्कृत वाणी जो पुरुष पात्रो द्वारा प्रयुक्त की जाती है और स्त्री पात्रों के लिए वर्जित है तथा नटो (भारतै) द्वारा प्रयुक्त की होती है उसे भारती वृत्ति कहते हैं।

अभिनवगुप्त ने भी इसे वाग्विकल्पा (भारती वाग्वृत्ति) कहा है। प० वलदेव उपाध्याय ने इस वृत्ति का स्त्री पात्रों के लिए वर्जित होने के सम्बन्ध में दो कारण कल्पित किए हैं—एक तो यह कि नाटक विकास के आरम्भ युग में नाटको में जब पात्र नहीं रहते थे उस समय भारती वृत्ति नाटक में समाविष्ट की गई थी। अत. पुरुषो द्वारा ही यह वृत्ति प्रयुक्त होती रही। दूसरा यह कि भारती वृत्ति में शब्दो की वहुलता रहती है। स्त्रियाँ अपनी स्वाभाविक लज्जाशीलता के कारण शब्दाधिक्य के स्थान पर आंगिक चेष्टाओं द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त करती है। किन्तु परवर्ती नाटको में इस प्रकार नियम नही रहा। भरत मुनि ने भारती वृत्ति को केवल करुण और अद्भुत रस में प्रयुक्त होना कहा है—

"भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसश्रया" (ना० शा० २२।६६)

किन्तु शारदातनय ने सभी रसो में इसकी स्थिति सम्भव मानी है—"वृत्ति सर्वत्र भारती।" (भावप्रकाशन, पृ० १२)

भारती वृत्ति की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ हैं। नाट्यशास्त्र दो का उल्लेख है—

१ मधु और कैटभ नामक राक्षसो ने परस्पर युद्ध करते हुए जिस प्रगल्भ वा[illegible] का प्रयोग किया था उसी को भारती वृत्ति कहते हैं—

'भारतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीय भविष्यति' (ना० शा० २२।

२ मधु कैटभ से युद्ध करते हुए भगवान विष्णु के पृथ्वी पर किए गए पदा[illegible] के भार से भारती वृत्ति का जन्म हुआ—

"मूकिसस्यान सयोगैः पदन्यासैस्तदा हरे
अति भारोऽभवद्भूमे भारती तत्र निर्मिता"
(ना० शा० २१।

शिङ्गभूपाल ने भारती नाम की कल्पना इस प्रकार की है—

"प्रयुक्तत्वेन भरतं भारतीति निगद्यते"

(रसार्णव १।१६१)

अर्थात् भरतो या नटो द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे भारती वृत्ति कहते हैं।

धनञ्जय ने भी इसी प्रकार लिखा है—

"भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयो।"

(दशरूपक ३।५)

अर्थात् नटो के संस्कृत गर्भित वाग्-व्यापार के कारण इस वृत्ति को भारती कहते हैं भारत नट को कहते हैं।

विश्वनाथ ने 'नटाश्रय' के स्थान पर 'नराश्रय' कहा है—

"भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रय।"

(साहित्यदर्पण, छठा परिच्छेद

अर्थात् पुरुष पात्रो द्वारा प्रयुक्त संस्कृति वाणी का प्रयोग किया जाना भारती वृत्ति हैं

भारती वृत्ति के चार भेद बताए गए हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करते हुए श्रोताओ को उन्मुख किया जाता है। व प्ररोचना नामक भेद होता है। वीथी एक प्रकार का रूपक है। इसमें शृंगार रस व प्रधानता होती है किन्तु स्पर्श दूसरे रसो का भी होता है। इसमें अगो की पक्ति भाण समान होती है। प्रहसन भी एक प्रकार का रूपक होता है। यह भाण से मिलता-जुलत है। आमुख में पारिपार्श्विक या विदूषक से सूत्रधार बात-चीत करता है और चित्रोवि के द्वारा अपने कार्य का प्रस्तुत से आक्षेप भी करता है।

सात्वती वृत्ति—सात्वती वृत्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता
न्यायेन वृत्तेन समन्विता च
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा
सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्ति।"

(नाट्यशास्त्र २२।३

अर्थात् यह वृत्ति सत्त्वगुण प्रधान होती है और न्याय वृत्ति से युक्त रहती है। इसमें ह की प्रचुरता और शोक का अभाव रहता है।

सत्त्वगुण प्रधाना होने के कारण यह वृत्ति सात्त्विक वृत्ति वाले पुरुषो द्वा प्रयुक्त की जाती है। अभिनवगुप्त ने इस वृत्ति को सत्त्वशाली मन से सम्बन्धि माना है—

"मनो व्यापाररूपा सत्त्विकी सात्वती।"

(अ० भा० पृ० २

भरतमुनि ने प्रमुख रूप से वीर तथा रौद्र रसो में और कभी कभी करुण : शृंगार में भी सात्वती वृत्ति की अभीष्टता सिद्ध की है। इस वृत्ति वाले पुरुष न्यायी यु- प्रिय और उद्धत प्रकृति के होते हैं—

"वीराद्भुतरौद्ररसा विज्ञेया. ह्यल्पकरुणशृंगारा,
उद्धतपुरुषप्राया परस्परधर्षण-कृता च ॥"
(ना० शा० २२।४०)

सत्वगुण प्रधान धीरोदात्त नायक में इस वृत्ति का विकास होता है।

सात्वती वृत्ति चार प्रकार की होती हैं—

१ उत्थापक—,
२ परिवर्तक
३ सलापक
४ सघातक

उत्थापक वहाँ पर होता है जहाँ पर युद्ध के लिए शत्रु को उत्तेचित किया जाता है। प्रारम्भ किए हुए उद्योगवाले कार्य का परित्याग कर अन्य कार्य को करना परिवर्त्तक कहलाता है। अनेक प्रकार के भावो और रसो से युक्त परस्पर गम्भीर उक्ति को सल्लापक कहते हैं। मन्त्र अर्थ या दैव की शक्ति से सघ भेदन को सघातक कहा जाता है।

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी वृत्ति का लक्षण देते हुए भरत मुनि ने लिखा है—

"या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा
स्त्रीसयुता या बहु-नृत्तगीता
कामोपभोगप्रभवापचारा
ता कैशिकी वृत्तिमुदाहरन्ति।" (ना० शा० २२।४७)

अर्थात् जो विशेष प्रकार के नेपथ्य से चित्रित की गई हो स्त्री पात्रो की तथा नृत्यगीत की वहुलता और कामोपभोग से युक्त हो उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं।

कैशिकी शब्द केश से बना है। इस वृत्ति की उत्पत्ति भगवान विष्णु द्वारा अपने केशो को बाँधे जाने वाले व्यापार से हुई है। मधुकैटभ से युद्ध करते समय अगो के विचित्र हाव-भाव के साथ विष्णु जी ने अपने केशो को बाँधा था—

"विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीला समुद्भवै.।
बबन्ध यत् शिखापाश कैशिकी तत्र निर्मिता ॥"
(ना० शा० २२।१३)

अभिनवगुप्त ने इसकी उत्पत्ति का दूसरा कारण माना है—

"केशा किंचिदपि अर्थक्रिया जातम् अकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिन।
तद्वत् सौन्दर्योपयोगिव्यापार. कैशिकीवृत्तिरिति तावन्मुख्य. क्रम ॥"

अर्थात् केश का सम्बन्ध अर्थ क्रिया से न होते हुए भी वे शरीर शोभा के वर्धक हैं। अत नाटक में इस शोभा के हेतु जो व्यापार किया जाता है। वही कैशिकी वृत्ति है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र ने कैशिक का अर्थ स्त्री किया है। यह वृत्ति स्त्रियो के उपयुक्त होने के कारण कैशिकी कहलाई है—

"अतिशायिन. केशा. सन्ति आसु, इति कैशिका स्त्रिय। स्तनकेश वतीति स्त्रीणा लक्षणम्। तत्प्रधानत्वात् तासामिय कैशिकी।" (नाट्यदर्पण पृ० १५७)

मल्लिनाथ ने केशो से कैशिकी की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है—

"केशाना समूहः कैशिकम् कैशिकवत् मृदुत्वात् सुमनोभि विचित्रत्वात् कैशिकी-योगोऽपि दृष्टव्य ।" (सगीत रत्नाकर टीका)

कैशिकी वृत्ति लालित्य और नृत्य-गीत प्रधान होती है। इसीलिए भरत मुनि के मतानुसार इसकी उत्पत्ति सगीतप्रधान सामवेद से हुई है। पहले नाटक में तीन ही वृत्तियाँ थी। कैशिकी के अभाव में नाटक नीरस था अत सुरगुरु की आज्ञा से ब्रह्मा ने कैशिक वृत्ति उत्पन्न की—

"मृद्व गहार-सम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका
दृष्टा मया भगवतो नीलकठस्य नृत्यत
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृ गार सम्भवा
अशक्या पुरुषै साधु प्रयोक्तु स्त्रीजनादृते।" (ना० शास्त्र १।४५।४६)

अर्थात् नीलकण्ठ शिव के नृत्य के अवसर पर मैंने कैशिकी वृत्ति को देखा। अपनी ललित वेशभूषा और शृगार तथा कोमलता के कारण पुरुष इस वृत्ति को नही धारण कर सकते इसलिए ब्रह्मा ने नाटक में अप्सराओ का निर्माण किया।

डा० राघवन ने रीतियो के समान वृत्तियो का सम्बन्ध भी प्रान्त विशेष की प्रवृत्ति से बताते हुए विदर्भ-देश में कैशिक वृत्ति की उत्पत्ति मानी है। विदर्भदेश अपनी सौन्दर्य प्रियता और ललित-कला के लिए प्रसिद्ध था। कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी-रीति का सामजस्य इसीलिए किया गया है। अभिनवगुप्त ने इस वृत्ति का सम्बन्ध मृदु-कायिक चेष्टा से माना है। इसके चार भेद हैं—

१ नर्म।
२ नर्मस्फूर्ज।
३ नर्मस्फोट।
४ नर्मगर्भ।

नर्म उस विदग्ध क्रीडा को कहते हैं जिसमें प्रिय के आवर्जन की चेष्टा की गई हो। प्रथम समागम में यदि प्रारम्भ में सुख हो और अन्त में भय हो तो उसे नर्मस्फूर्ज कहते हैं। नर्मस्फोट में भावों के कुछ अशों के द्वारा थोडा सा रस सूचित किया जाता है। किसी प्रयोजन की सिद्धि के हेतु नायक का प्रच्छन्न प्रवेश नर्म-गर्भ कहा जाता है।

आरभटी वृत्ति—आरभटी वृत्ति का लक्षण भरतमुनि ने इस प्रकार दिया है—

"प्रस्तावपातप्लुतलङ्घितानि
चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्य,
ता तादृशीमारभटी वदन्ति।" (ना० शा० २२।५७)

अर्थात् जहाँ उछलने, कूदने, गिरने, लाँघने आदि के विचित्र चित्र हो और मायाजनित इन्द्रजाल के दृश्य हो वहाँ आरभटी वृत्ति होती है।

आरभटी शब्द की व्युत्पत्ति अर् शब्द से हुई है इसका अर्थ है उत्साह। आरभटी का अर्थ वीर योद्धा होता है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्युपत्ति इस प्रकार दी है—

"इर्यात इति अरा. भटा. सोत्साहा अनलसा । तेषामिय आरभटी।"

वे इसका सम्बन्ध उग्र कायिक चेष्टा से ध्वनित करते हैं। राक्षस तथा असुर आदि धीरोद्धत नायक नाटक में इसी वृत्ति में के दिखाए जाते हैं। सात्त्वती वृत्ति में उत्साह और वीरता आदि का प्रदर्शन धीरोदात्त नायक के अनुकूल होता है, किन्तु आरभटी में वीरता और उत्साह तमोगुणप्रधान, ऐन्द्रजालिकी और अन्यायपूर्ण होते हैं। इसीलिए इस वृत्ति को भयानक और वीभत्स रसो में स्थान दिया गया है—

"भयानके च वीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत।"

(ना० शा०)

अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि ऐन्द्रजालिक क्रियाओ का निर्देश किया गया है। भरतमुनि ने इस वृत्ति की उत्पत्ति अथर्ववेद से ही मानी है। वैष्णव मतानुयायी इसकी उत्पत्ति मधुकैटभ से विष्णु भगवान के विचित्र युद्ध से मानते हैं।

आरभटी वृत्ति चार प्रकार की होती है—

१ सक्षिप्तक

२ अवघातक

३ वस्तुस्थापन

४ सफेट

वृत्ति सख्या के सम्बन्ध में कुछ अन्य मत—नाटक में प्रमुख रूप से तो चार वृत्तियाँ ही मानी गई है, परन्तु कुछ आचार्यों ने इस सख्या के विषय में भी विरोध किया है। वृत्ति सख्या के सम्बन्ध में अन्य तीन मत प्रमुख हैं—अभिनवगुप्त ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"द्वे तिस्रः पञ्चेति निराकरणाय चतस्र इत्युक्ता।"

(अभिनवभारती टीका, पृ० २७१)

इस प्रकार वृत्ति-परिचय देते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि कही दो वृत्तियो, कही तीन और कही पाँच वृत्तियों का उल्लेख भी मिलता है। दो वृत्ति माननेवाले आचार्य का नाम ज्ञात नही हो सका, किन्तु अनुमानत यह वृत्तियाँ भारती तथा सात्त्वती रही हो। एक वाक्प्रधान, दूसरी चेष्टाप्रधान। क्रमश लालित्य और औद्धत्य की प्रतीक कैशिकी और आरभटी भी हो सकती है।

नाटक में तीन वृत्तियाँ माननेवाले प्रमुख आचार्य अलकारवादी उद्भट हैं। इनके अनुसार वृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१ न्यायवृत्ति।

२ अन्यायवृत्ति।

३ फलसवित्ति।

यह विभाजन चेष्टा और नि.चेष्ट दो अवस्थाओ के आधार पर किया गया है। चेष्टा या व्यापार दो प्रकार का होता है—न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण। प्रथम दोनो वृत्तियाँ इन्ही दोनो व्यापारो के अनुकूल हैं। फलसवित्ति निश्चेष्ट अवस्था है। इसमें पूर्वकृत व्यापारो का फल प्राप्त होता है। भट्ट लोल्लट ने नि चेष्ट स्थिति को वृत्ति नही माना है। प्रथम दो वृत्तियो की भी उन्होंने आलोचना की है।

नाटक में पांच वृत्तियां मानने वाले आचार्यों में अभिनवगुप्त विशेष प्रसिद्ध है उन्होंने शकलीगर्भ का एक नाम और उद्धृत किया है।

शकलीगर्भ ने भरतमुनि द्वारा मान्य चारो वृत्तियां स्वीकार की। इसके अतिरिक्त आत्म सविति नामक एक पांचवी वृत्ति भी प्रस्तुत की है। यह वृत्ति मूर्छा या मृत-वस्था की होती है। अद्वैत वेदान्ती इन दोनो अवस्थाओ में भी आत्मज्ञान रूप व्यापार का होना मानते हैं। भट्ट लोल्लट ने इनका भी विरोध किया है। वे आत्मज्ञान की स्थिति तो मानते है, परन्तु नाटक में इस दार्शनिक सिद्धान्त को स्थान नही देते। नाटक में केवल मूर्त रूपो की ही योजना होनी चाहिए अन्यथा दर्शक रसास्वादन नही कर सकेंगे। अभिनवगुप्त ने भी इन सभी वृत्तियो का विरोध कर भरतमुनि द्वारा निर्देशित वृत्तियो को ही नाटक के उपयुक्त सिद्ध किया है।

काव्य और वृत्ति—नाटक के समान काव्य में भी वृत्तियां अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। लगभग ११वी शताब्दी के पूर्व तक काव्य में वृत्ति विचार अनुप्रास भेद के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से होता रहा। किन्तु इसके बाद के आचार्यो ने वृत्ति और रीति में सामञ्जस्य स्थापित कर रीति के साथ ही वृत्ति का विवेचन किया है। प्राचीन अलकार-शास्त्र में वृत्ति विवेचन तीन रूपो में दृष्टिगत होता है—

१. अनुप्रास जाति ।
२ समास जाति ।
३ नाट्य वृत्ति ।

अनुप्रास और उसके भेदों का वर्णन करते समय भामह, उद्भट आदि ने वृत्यानुप्रास के अन्तर्गत तीन प्रकार की वृत्तियो का उल्लेख किया है—

१ परुषा—इसमें रेफ 'स' श आदि परुष वर्णों की बहुलता होती है।
२ उपनागरिका—इसमें नागरिक वनिता के समान।
३ ग्राम्या या कोमला में कोमल वर्णों की अधिकता रहती है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने वृत्तियो पर मौलिक रूप से विचार किया है। उन्होने इनका स्वतन्त्र विवेचन न करके रीति-विवेचन के 'सघटना' में ही इनका समावेश कर दिया है। उपर्युक्त तीनो वृत्तियो को शब्दगत और नाट्यवृत्तियो को अर्थगत मानकर काव्य-लक्षण में उनका महत्त्व स्थिर किया है—

"शब्दतत्त्वाश्रया कश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोऽपरा ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥"

(ध्वन्यालोक ३।४८)

अभिनवगुप्त मम्मट आदि परवर्ती सभी आचार्यों ने रीति और वृत्ति के सामजस्य को स्वीकार कर उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियो को क्रमश. वैदर्भी, गौणी—और पाचाली रीतियो के नाम से अभिहित किया है। जिसमें कि भोजराज ने एक स्थल पर बारह प्रकार की वृत्तियो का स्वतन्त्र विवेचन किया था किन्तु बाद में उन्होने उनका समावेश गुणो और नाट्यवृत्तियो में ही कर दिया है। हेमचन्द्र ने इन तीनो वृत्तियो को अनुप्रास जाति के स्थान पर वर्णसघटना कहा है।

आचार्य रुद्रट ने वृत्ति विचार वाणभट्ट की कादम्बरी की इस पंक्ति के आधार पर किया है—

"असमस्तपदवृत्तिमिव अद्वन्द्वाम् ।"

रुद्रट समासयुक्त पदो की सघटना को वृत्ति मानते हैं। यह वृत्ति दो प्रकार की होती है—

१ असमस्ता—समासरहित सत्ता वाले पद। यह एक ही प्रकार का होता है उसी को वैदर्भी रीति कहते हैं।

"वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीति रेकैव।" (काव्यालकार)

२ समस्ता—समासयुक्त पद—यह तीन प्रकार के होते हैं—पाचाली, लाटीया और गौणीय। इस प्रकार रुद्रट ने भी वृत्ति को रीति का ही प्रतिरूप माना है। उद्भट आदि का अनुप्रास जाति वाला विवेचन भी रुद्रट को मान्य था। किन्तु इन्होने तीनो वृत्तियों के नवीन नामो की उद्भावना कर दो वृत्ति और जोड दी हैं। वे पांच वृत्तियां इस प्रकार हैं—

मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने आठ वृत्तियो का उल्लेख किया है। रुद्रट की पांच वृत्तियों के अतिरिक्त वे ओजस्विनी, निष्ठुरा और गम्भीरा वृत्तियों का निर्देश भी करते हैं।

चमत्कार सम्प्रदाय

चमत्कार शब्द का ऐतिहासिक विकास—भारतीय साहित्यशास्त्र में रस, ध्वनि आदि विविध विवेचनीय अगो में चमत्कार का भी अपना विशिष्ट स्थान है। साहित्य में रस के समान चमत्कार शब्द भी पाकशास्त्र से ग्रहण किया गया है। पाकशास्त्र में चमत्कार शब्द किसी स्वादिष्ट पदार्थ के आस्वादन के समय जिह्वा और ओष्ठ से उत्पन्न ध्वनि का वाचक था। अत इससे आस्वादनजनित आनन्द का सकेत मिलता है। साहित्यशास्त्र में भी चमत्कार का आविर्भाव काव्यानन्द के व्यञ्जित अर्थ में ही हुआ है। काव्यानन्द के भी विभिन्न स्तर हैं। इस स्तर की सीमा वैयक्तिक रुचि और प्रतिभा पर अवलम्बित है। साधारणतया चमत्कार काव्य में दो रूपो में आनन्द का विधान करता है—

१ आश्चर्यपूर्ण उक्ति वैचित्र्य के रूप में।

२ अलौकिक काव्यानन्द के रूप में।

प्रथम रूप में चमत्कार सकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया गया है। चमत्कार शब्द का प्रारम्भिक, ऐतिहासिक विकास अधिक स्पष्ट नहीं है। अग्निपुराण में आत्मा, चमत्कार और रस को चैतन्य का समानार्थी, बताया गया है—

"अक्षर परमं ब्रह्म सनातनमज विभुम्,
वेदान्तेषु वदन्त्येक चैतन्य ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्द. सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन,
व्यक्ति. सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।"

साहित्यदर्पणकार के पूर्वज नारायण पण्डित ने चमत्कार का अर्थ चित्तविस्तार

माना है। वे लिखते हैं—

"रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते।
तस्मादद्भुतमेवाह। कृती नारायणो रसम्"

चमत्कार को ही वे सर्व रसो का सार मानते हैं अद्भुत या आश्चर्य रस में चमत्कार की स्थिति रहती है। इसीलिए वे अद्भुत रस को मूल रस कहते हैं। चमत्कार या चित्तविस्तार होने पर सर्वरसो की अनुभूति होती है। वामन दण्डी आदि अलकारवादी आचार्यों ने भी चमत्कार को सकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया है। असामान्य उक्ति-वैचित्र्य को वे अलकार मानते हैं। उक्ति-वैचित्र्य प्रधान अलकार योजना से चमत्कारवाद का ही पक्ष ग्रहण किया है। हिन्दी आचार्यों में द्विवेदी जी ने चमत्कार का समर्थन करते हुए लिखा है—

'शिक्षित कवि की उक्तियो में चमत्कार का होना परमआवश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नही वैलक्षण्य नही—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नही हो सकती।

(रसज्ञ रञ्जन, पृ० २६)

आचार्य कवि केशवदास भी कोरे चमत्कारवाद के पोषक हैं। चमत्कार को इस रूप में ग्रहण करने वाले काव्य में रस की स्थिति भी मानते हैं, किन्तु उनके मतानुसार रस उक्ति-वैचित्र्य से ही प्रवाहित होता है। उनका उक्ति-वैचित्र्य भाव-प्रेरित नही बुद्धि-प्रेरित होता है। किन्तु भाव को गौण रूप देकर बुद्धि प्रधानकथन काव्य के मधुरतम रूप का विधान नही कर सकता। आचार्य शुक्ल ने ऐसी रचना को काव्य न कह कर सूक्ति कहा है—

"ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वर्णन का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढग, वर्ण-विन्यास, या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नही सूक्ति है।"

(चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३३)

सस्कृत के अलकारवादी वर्ग के परवर्ती आचार्यों ने चमत्कार को काव्यास्वादन-जनित आनन्द के अर्थ में व्यवहृत किया है। आनन्दवर्धन के 'चेतश्चमत्कृतिविधायी' में चमत्कृति का अर्थ काव्यास्वादन ही है। भट्टनायक अभिनवगुप्त आदि ने भी चमत्कार के इसी व्यापक अर्थ का प्रतिपादन किया है। अभिनवगुप्त एक स्थल पर लिखते हैं—

"आस्वादयितृणा हि यत्र चमत्काराविछात, तदेव रस सर्वस्व स्वादायत्वात्।"

अर्थात् जहाँ काव्यास्वादन करने वाले व्यक्तियो को चमत्कार विघातक नही प्रतीत होता, वहाँ वे रस का आस्वादन करते है।

एक अन्य स्थल पर वे रस को ही चमत्कार की आत्मा बतलाते हैं—

"यद्यपि च रसेनैव सर्व जीवति काव्य तथापि तस्य रसस्य एकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिद् अशांत् प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारोपि भवति।"

(लोचन टीका, पृ० ६५)

पडितराज जगन्नाथ, वक्रोक्तिजीवितकार 'कुन्तक' और औचित्य के समर्थक

'क्षेमेन्द्र' भी इसी मत के अनुयायी हैं। चमत्कार के व्यापक क्षेत्र में रस, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति, गुण, अलकार आदि सभी काव्य-तत्त्वों को सीमित कर दिया है।

पडित जगन्नाथ ने अपनी काव्य-परिभाषा में रमणीयता का चमत्कार पर ही आश्रित होना माना है—

"रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्व च आह्लादगत चमत्कारापरपर्याय अनुभवसाक्षिको जातिविशेष"

चमत्कार के इस व्यापक रूप की विस्तृत व्याख्या कर महत्ता प्रदर्शित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है। 'कविकण्ठाभरण' की तृतीय सन्धि में वे लिखते हैं।

"एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्य चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमपि यौवनमङ्गनानाम्"

अर्थात्—चमत्कार-रहित काव्य में कवित्त्व नही रहता। उन्होंने चमत्कार और रस को समकक्ष रक्खा है, और औचित्य से ही इनकी सफलता सम्भव मानी है—

"औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे
रसजीवित भूतस्य विचार कुरुतेऽधुना" (औ० वि० च० ३)

अर्थात् काव्य के चमत्कार का चारु चर्वण औचित्य द्वारा होता है। औचित्य ही रस का जीवितत्व भी है।

क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' में दस प्रकार के चमत्कारों का उल्लेख किया है—अविचारित रमणीय, विचार्यमाणरमणीय, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्य, शब्दगत, अर्थगत, शब्दार्थगत, अलकारगत, रसगत तथा प्रख्यातवृत्तिगत।

चौदहवी शतक के मध्य में सिंहभूपाल के आश्रित पण्डित विश्वेश्वर ने 'चमत्कार चन्द्रिका' में चमत्कार को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"चमत्कारस्तु विदुषामानन्द-परिवाहकृत्"

अर्थात् काव्य के पढने से विद्वज्जनो को जो आनन्द प्राप्त होता है वही चमत्कार है। यह चमत्कार के सात आलम्बन मानते हैं—

"गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, श्यामल कृतिम्
सप्तैतानि चमत्कारकारण ब्रुवते बुधा"†

गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या, अलकृति यह सात कारण चमत्कार के बताए हैं। चमत्कार के अनुसार इन्होंने काव्य तीन प्रकार के बताए हैं—

१ चमत्कारी (शब्द चित्र)
२ चमत्कारीतर (अर्थचित्र और गुणीभूत व्यग्य)
३. चमत्कारितम (व्यग्यप्रधान)

१८वी शताब्दी के आरम्भ में गगेश के पुत्र हरिप्रसाद ने 'काव्यालोक' की रचना की। इसमें चमत्कार को काव्य का प्राण सिद्ध किया है—

"विशिष्टशब्दरुपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः
उत्पत्तिभूमि प्रतिभा मनागत्रोपपादितम् ॥"†

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

साहित्य में ध्वनि सिद्धान्त के दृढ स्थापन काल में ही वक्रोक्ति सम्प्रदाय व
जन्म हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रस्थापक आचार्य कुन्तक हैं। कुन्तक के समय में आनन्द
र्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता प्राय सभी आचार्यों ने स्वीकार कर ली थी
पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्थापित अलकार, रीति, रस, औचित्य आदि सम्प्रदायो के अन्तर्भा
ध्वनि सम्प्रदाय में ही करके आनन्दवर्धनाचार्य ने उन सभी काव्य-तत्त्वो की निश्चि
रूपरेखा और महत्त्व स्थिर कर दिया था। किन्तु आचार्य कुन्तक ने ध्वनि के इ
व्यापक सिद्धान्त का विरोध कर 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' की उद्घोषणा की। भा
तीय साहित्य में वक्रोक्ति प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में प्रयुक्त थी। कुन्त
ने इसे व्यापक रूप देकर सम्प्रदाय विशेष के रूप में प्रतिष्ठित किया।

वक्रोक्ति का स्वरूप और इतिहास—प्राचीन साहित्य ग्रन्थो में वक्रोक्ति श
क्रीडा-कलाप या परिहास के अर्थ में प्रयुक्त होता था। 'अमरुकशतक', तथा महाक
बाण की 'कादम्बरी' में इस वक्रोक्ति शब्द इन्ही रूपो में मिलता है—'वक्रोक्ति निपुर
विलासीजनेन' इत्यादि। भामह, दण्डी आदि अलकारवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति
साहित्यशास्त्र में प्रविष्ट करके व्यापक रूप प्रदान किया। भामह वक्रोक्ति को अति
योक्ति का पर्यायवाची मानते हैं। उनके अनुसार यह वाग्-वैदग्ध्य का एक रूप है अ
सभी अलकारो का मूल भी यही है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलकारोऽनया विना॥" (२।८५)

वक्रोक्ति की परिभाषा वे इस प्रकार देते हैं—

'लोकातिक्रान्तगोचर वचनम्' अर्थात लोक की साधारण कथन प्रणाली
भिन्न उक्ति ही वक्रोक्ति है।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में वक्रोक्ति का विवेचन कुछ अधिक स्पष्ट रूप
किया है। उन्होंने वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है—स्वभावोक्ति अ
वक्रोक्ति। वक्रोक्ति यह अलकार विशेष नही है बल्कि स्वभावोक्ति अलकारो के अतिरि
अर्थालकारो का सामूहिक रूप है। श्लेष के द्वारा वक्रोक्ति में सौन्दर्य की वृद्धि होती है-

"श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्
द्विधा भिन्न स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्" (२।३६२)

अर्थात् श्लेष प्राय सर्वत्र वक्रोक्ति में सौन्दर्य का विधान रहता है। स्वभावोक्ति अ
वक्रोक्ति, दोनो अलग-अलग प्रकार का सौन्दर्य व्यञ्जित करती हैं।

आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को दूसरे ही रूप में व्यक्त किया है। उन्हे
एक अर्थालकार विशेष के रूप में इसकी प्रतिष्ठा करके काव्यालकारसूत्र में उस

† Some concepts of the Alankara Sastra—by Dr Raghavan

लक्षण इस प्रकार दिया है—

"सादृश्याश्रयात् लक्षणा वक्रोक्ति."

अर्थात् सादृश्य पर आश्रित लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है। दण्डी के समाधि गुण से इनका वक्रोक्ति लक्षण मिलता हुआ है। बाद में आलंकारिकों में वक्रोक्ति को अलंकार विशेष के रूप में ही ग्रहण किया। किन्तु कुछ आलंकारिक इसे शब्दालंकार मानते हैं। जैसे रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विद्याधर, हेमचन्द्र, जयदेव आदि विश्वनाथ वामन से पूर्व 'अग्निपुराण' में भी वक्रोक्ति शब्दालंकार के रूप में प्रयुक्त है—

"वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्तेनकृता द्विधा" (३४२।३३)

रुद्रट ने इसके काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति दो भेद किए हैं। रुय्यक इसे अर्थालंकार मानने के पक्ष में हैं। किन्तु ध्वनिवादी प्रमुखाचार्य, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त वाण आदि प्राचीन कवियों और भामह के समान वक्रोक्ति को अलंकार विशेष नहीं बल्कि समग्र अलंकारों का मूल स्वीकार करते हैं।

उनके मतानुसार वक्रोक्ति द्वारा ही काव्य सौन्दर्य की व्यञ्जना होती है। आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त के सम्मुख उनका वक्रोक्ति विवेचन अत्यन्त गौण है। आचार्य कुन्तक ने भामह और आनन्दवर्धन द्वारा निर्देशित वक्रोक्ति के स्वरूप को ही ग्रहण करके काव्य के प्रधानभूत अंतरंग तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। भोजराज ने भी ध्वनि की प्रतिक्रिया रूप में वक्रोक्ति का प्रतिपादन किया है। किन्तु यह वक्रोक्ति का विवेचन प्रमुख रूप से न कर सके। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के सर्वप्रथम और प्रधानाचार्य कुन्तक ही हैं।

आचार्य कुन्तक और वक्रोक्ति—राजानक कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ में वक्रोक्ति के स्वरूप और महत्त्व की विशद व्याख्या की है। वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का प्राण माना है—

"वक्रोक्ति काव्य जीवितम्"

वक्रोक्ति का लक्षण वे इस प्रकार देते हैं—

"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते"

अर्थात् वाक्वैदग्ध्यपूर्ण विचित्र उक्ति ही वक्रोक्ति है। इस 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' को चमत्कारमूलक भी माना है क्योंकि 'वक्रोक्तिजीवित' में वे रचना के प्रयोजन में लिखते हैं—

"लोकोत्तर चमत्कारकारि—वैचित्र्यसिद्धये
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते" (१।२)

अर्थात् असामान्य चमत्कारपूर्ण आह्लाद के उत्पन्न करनेवाले वैचित्र्य वर्णन के लिये अपनी वक्रोक्ति की परिभाषा की व्याख्या में स्वयं कुन्तक ने वक्रोक्ति में तीन बातें आवश्यक मानी हैं—कवि कौशल या कवि का प्रातिभ व्यापार, चमत्कार और उक्ति—

"वैदग्ध्य विदग्धभावं कविकर्म कौशल तस्यविच्छित्ति तया भणितिः विचित्रैव अभिधा वक्रोक्ति.।" (व० जी०, पृ० २२)

कुन्तक ने अपना वक्रोक्तिस्वरूप सम्भवत. राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी

के 'विदग्धभणिति भङ्गिनिवेद्य वस्तुनो रूप न नियतस्वभावम्' वाक्य के आधार पर निर्धारित किया है। महिम भट्ट ने भी कुन्तक के समान ही लोक-प्रसिद्ध रीति का अवहेलन कर उसी अर्थ को वैचित्र्यपूर्ण रीति से कहना वक्रोक्ति माना है। महिमभट्ट ने वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"प्रसिद्ध मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्य सिद्धये
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थ सा वक्रोक्तिरुदाहृता"

वक्रोक्तिवादी आचार्य इस उक्ति वैचित्र्य को शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थ उभयगत मानते हैं। शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के बिना काव्य के उद्देश्य आनन्द का पूर्ण प्रसार नही हो सकता। काव्य की परिभाषा में कुन्तक ने शब्द अर्थ के वैचित्र्य को ही प्रधानता देते हुए लिखा है—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि"

(व० जी० १।७)

अर्थात् कवि के वक्र व्यापार से युक्त काव्य कोविदो को आह्लादित करनेवाले व्यवस्थित रूप में नियोजित शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप ही काव्य है।

इस प्रकार कुन्तक शब्द-अर्थ को अलकार्य और वक्रोक्ति को उनके अलकरण का साधन मानते हैं जैसा कि उनकी इस उक्ति से स्पष्ट है—

"उभावेतवलकार्यौ तयो पुनरलकृति
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते" (व० जी० १।१०)

अर्थात् शब्द और अर्थ दोनो अलकार्य हैं और उन्हे अलकृत करनेवाली वैदग्ध्यभङ्गी भणित ही वक्रोक्ति है। अभिनवगुप्त ने भी इसी प्रकार शब्द और अर्थ की वक्रता उनके लोकोत्तर रूप में प्रतिष्ठित होने पर सम्भव मानी है—

"शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमिति अयमेवासौ अलकारस्यालकारान्तरभाव" (लोचन पृ० २०८)

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जनावाद में अन्तर—वक्रोक्तिवाद का उदय और विकास भारत में ही हुआ है। इस वाद के प्रमुख आचार्य कुन्तक हैं। ऊपर इसके स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है। अभिव्यजनावाद पाश्चात्य साहित्य की देन है। इसके प्रवर्तक इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोंचे माने जाते हैं। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यजनावाद के अन्तर को स्पष्ट करने से पूर्व अभिव्यञ्जनावाद के स्वरूप पर एक दृष्टि डालनी अनुपयुक्त न होगी। अत्यन्त सक्षेप में उसका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट कर सकते है।

क्रोंचे ने अभिव्यञ्जनावाद विधान में मन को मूल सत्ता सिद्ध किया है। मन की दो शक्तियाँ हैं—ज्ञान और सकल्प। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—

१ स्वय प्रकाशज्ञान—यह सौन्दर्यशास्त्र कला आदि का जनक है।
२ प्रज्ञा—यह तर्कशास्त्र का जनक है।

अभिव्यञ्जनावाद का सम्बन्ध स्वय प्रकाशज्ञान से है। स्वय प्रकाशज्ञान एक प्रकार का साँचा है जिसमें नव चित्रों का निर्माण होता है। मन में वर्तमान पूर्व

के अनेक चित्र इस नव चित्र निर्माण की सामग्री है। कल्पना इस चित्र-निर्माण का सौन्दर्यबोधात्मक व्यापार है। इस प्रकार मन के द्वारा प्रेरित किए जाने पर सामग्रीरूप इन पूर्व चित्रों के सहारे कल्पना अपनी चित्र-विधायिनी शक्ति द्वारा जिस नव चित्र की उद्भावना करती है—वही अभिव्यञ्जना है। कल्पना को यह शक्ति स्वय प्रकाशज्ञान से ही प्राप्त होती है। स्वय प्रकाशज्ञान वह भावना है जो किसी वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में स्वय ही उद्भूत होती है। इस प्रकार प्रवर्तक मन और उस पर संस्काररूप में इस विद्यमान चित्र, कल्पना और स्वय प्रकाशज्ञान इन चारो के सम्मिलन के परिणामस्वरूप जिस नवीन चित्र की उद्भावना होती है वही क्रोचे के मतानुसार अभिव्यञ्जना है। यह चित्र चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म अभिव्यञ्जना ही है, किन्तु व्यवहाररूप में चित्रो की विविधता के कारण यह भी विविधरूपिणी प्रतीत होती है।

अभिव्यञ्जनावाद और वक्रोक्तिवाद में अन्तर—वक्रोक्ति का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक है, क्योकि इसमें चमत्कार की योजना को कुन्तक ने आवश्यक माना है। उनके वैदग्ध्यभगी भणिति में भगी शब्द विच्छित्ति, या चमत्कार का ही द्योतक है। चमत्कार का प्रदर्शन बुद्धि-प्रेरित व्यापार द्वारा ही किया जा सकता है। अभिव्यञ्जना इसके विपरीत कल्पना प्रेरित होती है। कल्पना कवि के स्वयं प्रकाशज्ञान या चित्रों के सहज रूप का विधान करने वाले ज्ञान की सौन्दर्यानुभवकारिणी प्रक्रिया है। भारतीय प्राचीन आचार्यों ने कल्पना नामक ऐसी किसी भी प्रक्रिया का उल्लेख नहीं किया है। कल्पना के स्थान पर वे कवि-प्रतिभा को विशेष महत्त्व देते हैं। भारतीय प्रतिभा और पाश्चात्य कल्पना को यदि शुक्ल जी के समान समानार्थक भी माना जाय तब भी कुन्तक द्वारा वर्णित प्रतिभा कल्पना से भिन्न ही ठहरती है। कुन्तक ने कवि प्रतिभा को भी 'वाग्वैदग्ध्य प्रधान ही कहा है जो कि कल्पना-प्रसूत अभिव्यञ्जना के विपरीत है।

स्वरूप भेद के अतिरिक्त अभिव्यञ्जना और वक्रोक्ति के कार्य-क्षेत्रो में भी अन्तर है। वक्रोक्ति केवल काव्य कला की वस्तु है, अन्य ललित कलाओ में इसका नियोजन असम्भव है किन्तु अभिव्यञ्जना सभी कलाओं में अपेक्षित और सुलभ है। कोई भी काल्पनिक व्यक्ति अपने मन स्थित चित्र को किसी भी रूप या आकार में परिवर्तित कर सकता है। इस दृष्टि से वक्रोक्ति का क्षेत्र अभिव्यञ्जना की अपेक्षा कही अधिक सीमित है। किन्तु काव्य-कला के अन्तर्गत वक्रोक्ति का क्षेत्र अभिव्यञ्जना से अधिक व्यापक है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'काव्यस्य जीवित' कहकर इसे काव्य के अन्तरग तत्त्व प्राण रूप में प्रतिष्ठित किया है। रस ध्वनि चमत्कार, रीति अलकार गुण आदि अन्य सभी तत्त्व वक्रोक्ति से ही अधिकृत माने हैं।

वक्रोक्तिवादी वस्तु और उक्ति दोनो को एक दूसरे से भिन्न मानते हैं किन्तु अभिव्यञ्जनावाद में दोनो में किसी प्रकार का भेद नही स्वीकार किया जाता।

वक्रोक्ति शब्दो, अर्थों या शब्दार्थो के सहारे अभिव्यक्त अवश्य होती हैं किन्तु अभिव्यञ्जना अनभिव्यक्त होकर केवल मानसिक भी रह सकती है या शब्दार्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे माध्यम से भी अभिव्यक्त हो सकती है। कुन्तक ने वक्रोक्ति में अभिधा शक्ति को ही महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं—

"वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्
तद्विदाह्लादकारित्व किमप्यामोदसुन्दरम् ।" (व० जी० १।२३)

(२) अभिव्यञ्जनावाद 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपक्षी है। कला की प्रतिष्ठा उसमें अन्ततम तत्त्व के रूप में हुई है। यह कला सूक्ष्म आध्यात्मिक भावनाओं से समन्वित होती है। वक्रोक्तिवाद में कला के मूर्त आधारों को प्रधानता दी जाती है। इसमें कला का सम्बन्ध वहिर्गत होता है।

(३) अभिव्यञ्जनावाद रस पर आश्रित है और वक्रोक्तिवाद कवि कौशल और वक्र उक्ति पर। कुन्तक ने अलकार योजना पर विशेष वल दिया है। अभिव्यञ्जनावाद में अलकार को महत्त्व नही दिया गया है।

(५) वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध केवल साहित्य से है। वह एक साहित्यिक वाद है। किन्तु अभिव्यञ्जना वाद मूल सम्बन्ध दर्शन से है। एक कोरी कवि क्रीडा मात्र है और दूसरा एक आध्यात्मिक व्यापार है। यही दोनो में मौलिक अन्तर है।

वक्रोक्ति के भेद—आचार्य कुन्तक ने प्रवन्ध के सूक्ष्माति-सूक्ष्म अगो को दृष्टि में रखकर वक्रोक्ति के निम्नलिखित छः भेद किए हैं—

१ वर्ण-विन्यास वक्रता।
२. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता।
३ पद-परार्ध वक्रता।
४ वाक्य वक्रता।
५ प्रकरण वक्रता।
६. प्रवन्ध वक्रता।

वर्ण-विन्यास वक्रता—इसके अन्तर्गत व्यञ्जन वर्णों की सौन्दर्य सम्बन्धी वातो का उल्लेख किया गया है। वर्ण-विन्यास सौन्दर्य में आचार्यों ने यमक और अनुप्रास का विवेचन किया है। आचार्य कुन्तक ने इन अलकारों से सम्बन्धित कुछ मौलिक धारणाएँ भी उपस्थित की हैं। अनुप्रास योजना के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता
पूर्वावृत्तपरित्याग–नूतनावर्तनोज्ज्वला ।"
(व० जी० २।४)

अर्थात् अनुप्रास सौष्ठव के लिए कवि को अति निर्बन्ध न होना चाहिए। वर्ण कर्ण मधुर और सुन्दर होने चाहिए तथा पूर्व आवृत्त वर्णों का प्रयोग होना चाहिए। इनके अतिरिक्त रीति और गुण के अनुरूप ही अनुप्रास की योजना होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रसाद गुण शब्द माधुर्य और औचित्य को यमक में आवश्यक माना है।

पदपूर्वार्द्ध वक्रता—इसमें पद के पूर्वार्द्ध में रहनेवाली वक्रता का उल्लेख है। इसके अन्तर्गत पर्याय, रुढि उपचार, विशेषण, सवृत्ति वृत्ति भाव, लिंग क्रिया आदि के प्रयोग की विधि आती है। अक्षर समुदाय विभक्ति-रहित रहने पर प्रकृति और विभक्ति-युक्त होने पर पद कहलाता है। पद के पूर्वार्द्ध में प्रकृति रहती है। इस वक्रता के अनेक प्रकार हैं—जैसे रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, पर्याय वक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता, सवृत्ति

वक्रता, प्रत्ययवक्रता, वृत्ति वक्रता, भाववैचित्र्य वक्रता, लिंगवैचित्र्य वक्रता, क्रिया वक्रता आदि—

पद-परार्द्ध वक्रता—पद के परार्द्ध में प्रत्यय रहता है इसीलिए इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। यह भी कई प्रकार का होता है—कालवैचित्र्य वक्रता, कारक वक्रता, सख्या-वक्रता, पुरुष वक्रता, उपग्रह वक्रता, प्रत्यय वक्रता पद वक्रता आदि। इनमें काल, कारक, सख्या आदि के प्रयोग पर विचार किया गया है।

वाक्य वक्रता—पदों के सयुक्त रूप से वाक्य बनता है। वाक्य वक्रता कवि प्रतिभा पर आश्रित है अत प्रतिभा के समान यह वक्रता भी भिन्न विविध रूपिणी और होती है। प्रधान रूप में इसके अतर्गत अलकारों पर विचार किया गया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में लिखा है—

"वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते य सहस्रधा
यत्रालकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥" (११२०)

कुन्तक ने अलकारों का मार्मिक विवेचन किया है। अलकार में वह चारुत्व के अतिरिक्त वैचित्र्य और कवि प्रतिभा को भी विशेष महत्त्व देते हैं। अलंकार के साथ-साथ रस वैचित्र्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वाक्य वक्रता के अन्तर्गत वस्तु वक्रता भी आती है। वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का बताया है। स्वभाव प्रधान और रस प्रधान। स्वभाव प्रधान में स्वभावोक्ति अलकार का वर्णन किया गया है। रस प्रधान में रस का चमत्कार रहता है। रसवत् अलकार को यह अलकार्य मानते हैं।

प्रकरण वक्रता—वाक्यो के सहयोग से प्रकरण बनता है। प्रकरण प्रबन्ध का एक अशमात्र है। अतः प्रबन्ध-सौष्ठव के लिए प्रकरण की चारुता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अनेक लालित्यपूर्ण और सरस प्रसगो से प्रकरण में सौन्दर्य का समावेश किया जाता है। कुन्तक ने ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख उदाहरणसहित किया है। जैसे नायक के चरित्र को चित्रित करने वाले प्रसग, रसपूर्ण प्रसग, विविध प्रकरणो में सामञ्जस्य स्थापित करने वाले प्रसग, कथानक विस्तार में सहायक प्रसग तथा नाटकादि में गर्भाङ्क योजना आदि प्रकरण वक्रता के ही भिन्न प्रकरण हैं।

प्रबन्ध वक्रता—जब सम्पूर्ण प्रबन्ध में वक्रता होती है तब उसे प्रबन्ध वक्रता कहते हैं। सस्कृत ग्रंथों में इस पर विस्तार से विचार गया है।

औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य सम्प्रदाय काव्य का एक उल्लेखनीय सम्प्रदाय है। काव्य के सभी अग प्रत्यगो का उचित विकास और सगठन होने पर अनुपम सौन्दर्य का सृजन हो सकता है। काव्य के प्राण रूप में प्रतिष्ठित रस ध्वनि आदि भी औचित्यानुरूप होने पर सफल काव्य का संविधान करते हैं। साहित्यशास्त्र पर विचार करने वाले प्राय सभी आचार्यों ने औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। औचित्य सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य क्षेमेन्द्र ने तो औचित्य को काव्य का प्राण सिद्ध किया है। वे काव्य के सभी आवश्यक उपादानों को औचित्य के अन्तर्गत और काव्य-दोषो को अनौचित्य के अनर्गत वर्णित करते हैं।

औचित्य का स्वरूप—औचित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

"उचित प्राहुराचार्या, सदृश किल यस्य यत्
उचितस्य च यो भाव., तदौचित्य प्रचक्षते"

अर्थात् सादृश्य वस्तुओं के योग को आचार्यों ने उचित कहा है। उचित की इस भावना को ही वे औचित्य कहते हैं।

अनुचित या प्रतिकूल वस्तु के सन्निवेश से काव्य हास्यास्पद हो जाता है। औचित्य का उल्लघन करने पर अलकार गुण आदि की शोभा भी नष्ट हो जाती है। नाटक में वेशौचित्य के सम्बन्ध में भरत मुनि लिखते हैं—

"अदेशजो हि वेशस्तु न शोभा जनयिष्यति
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते" (ना० शा०)

भरत मुनि के इसी वेशौचित्य को लेकर क्षेमेन्द्र ने काव्य में औचित्य का निर्देश किया है—

"कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुर-बन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायन्ति के हास्यताम्
औचित्येन बिना रुचि प्रतनुते नालकृतिर्नो गुणा"

अर्थात् कण्ठ में मेखला, नितम्ब पर हार, हाथ में नूपुर और पैर में केयूर पहनने से तथा शौर्य से विजित शत्रु पर करुणा के प्रदर्शन से कौन व्यक्ति हास्य का विषय नही बन जाता। इसी प्रकार काव्य में औचित्य के बिना अलकार आदि भी रुचिकर न होकर हास्यास्पद हो जाते हैं।

औचित्य सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और इसका ऐतिहासिक विकास—साहित्यशास्त्र पर विचार करनेवाले सभी आचार्यों ने औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, किन्तु औचित्य पर विस्तृत रूप से चिन्तन करनेवाले प्रमुख आचार्य भरत मुनि, आनन्दवर्धनाचार्य और क्षेमेन्द्र हैं। भरत मुनि साहित्यशास्त्र के आदि आचार्य हैं। अत औचित्य पर सर्वप्रथम विचार करने के कारण औचित्य के ऐतिहासिक विकास में इनका नाम उल्लेखनीय है। इनके पश्चात् महाकवि माघ, भामह, दण्डी, यशोवर्मा, भट्ट लोल्लट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, भोजराज, कुन्तक, महिम भट्ट और क्षेमेन्द्र ने औचित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

भरत मुनि का औचित्य-विवेचन नाटक से सम्बन्धित है। औचित्य को वे रस सचार का एक आवश्यक साधन मानते हैं। वेश, गति, पाठ्य और अभिनय आदि की परस्पर उचित अनुरूपता से नाटक में रस-सचार हो सकता है। नाट्यशास्त्र में वे लिखते हैं—

"वयोऽनुरुप. प्रथमस्तु वेशो
वेशानुरुपश्च गति-प्रचार

"गतिप्रचारानुगत च पाठ्च
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्य.॥" (१४।६८)

भारत के विभिन्न प्रान्तो के वेशौचित्य को दृष्टि में रखते हुए उन्होने चार प्रकार की प्रवृत्तियो के अनुसार वेशभूषा निर्धारित की है। अभिनयौचित्य को ध्यान में रखकर आगिक, सात्विक, वाचिक और आहार्य चार प्रकार के अभिनय का उल्लेख किया है। इसी प्रकार भरतमुनि ने नाटक के प्राय सभी अगों का औचित्य से सम्बन्ध स्थिर किया है।

भरत-मुनि के पश्चात् आचार्यों और कवियो ने काव्य में भी औचित्य को स्थान दिया। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल-वध' में एक स्थल पर गुणौचित्य और रसौचित्य की ओर सकेत किया है—

"तेज· क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपते
नैकमोज प्रसादो वा रसभावविद कवे" (२।८५)

अर्थात् राजा के तेज और क्षमा दोनो ही महान् गुण होते हैं, किन्तु समय के अनुरूप इन गुणो का प्रयोग ही उचित होता है। इसी प्रकार कवि को भी रस और भाव के सामञ्जस्य से अनभिज्ञ नही रहना चाहिए। औचित्य को दृष्टि में रखकर ओज-प्रसाद आदि गुणो का प्रयोग करना चाहिए।

भामह ने 'काव्यालकार' में औचित्य पर विचार करते हुए काव्य का सर्वप्रमुख गुण औचित्य और काव्य-दोष को अनौचित्य कहा है। भामह का मत है काव्य-दोष भी औचित्यानुरूप प्रयुक्त किए जाने पर दोष नही रहते जैसे पुनरुक्ति दोष है किन्तु भय, शोक, हर्ष, विस्मय आदि भाव के प्रकाशनार्थ पुनरुक्ति दोष नही रहता—

"भयशोकाभ्यसूयासु हर्ष विस्मययोरपि
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्त न तद्विदु" (का० ४।१४)

दण्डी ने भी इसी प्रकार दोष-परिहार का विवेचन करते हुए औचित्य की ओर सकेत किया है। उनके मतानुसार भी उचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर दोष का दोषत्व मिट जाता है।[1]

कन्नौज के अधिपति यशोवर्मा ने अपने 'रामाभ्युदय' नाटक के गुणो का उल्लेख करते हुए वचनौचित्य को प्रथम स्थान दिया है—

"औचित्यं वचसा प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टि. एवावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रम
शुद्धि. प्रस्तुत सविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयो:
विद्वद्भि. परिभाव्यतामवहितै एतावदेवास्तु न"

भट्टलोल्लट ने भी महाकाव्यों में रस निष्पत्ति के लिए औचित्य को महत्त्व दिया है रस के साथ काव्य के सभी अगो का उचित सामञ्जस्य विधान होना चाहिए।

---

१ "विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित्कविकौशलात्
उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीथीं विहागते" (IV—५—७)

औचित्य का स्वरूप—औचित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

"उचित प्राहुराचार्या, सदृश किल यस्य यत्
उचितस्य च यो भाव', तदौचित्य प्रचक्षते"

अर्थात् सादृश्य वस्तुओ के योग को आचार्यों ने उचित कहा है। उचित की इस भावना को ही वे औचित्य कहते हैं।

अनुचित या प्रतिकूल वस्तु के सन्निवेश से काव्य हास्यास्पद हो जाता है। औचित्य का उल्लघन करने पर अलकार गुण आदि की शोभा भी नष्ट हो जाती है। नाटक में वेशौचित्य के सम्बन्ध में भरत मुनि लिखते हैं—

"अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति
मेखलोरसि वन्धे च हास्यायैवोपजायते" (ना० शा०)

भरत मुनि के इसी वेशौचित्य को लेकर क्षेमेन्द्र ने काव्य में औचित्य का निर्देश किया है—

"कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुर-वन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायन्ति के हास्यताम्
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालकृतिर्नो गुणा"

अर्थात् कण्ठ में मेखला, नितम्ब पर हार, हाथ में नूपुर और पैर में केयूर पहनने से तथा शौर्य से विजित शत्रु पर करुणा के प्रदर्शन से कौन व्यक्ति हास्य का विषय नही बन जाता। इसी प्रकार काव्य में औचित्य के विना अलकार आदि भी रुचिकर न होकर हास्यास्पद हो जाते हैं।

औचित्य सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और इसका ऐतिहासिक विकास—साहित्यशास्त्र पर विचार करनेवाले सभी आचार्यों ने औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, किन्तु औचित्य पर विस्तृत रूप से चिन्तन करनेवाले प्रमुख आचार्य भरत मुनि, आनन्दवर्धनाचार्य और क्षेमेन्द्र है। भरत मुनि साहित्यशास्त्र के आदि आचार्य हैं। अत औचित्य पर सर्वप्रथम विचार करने के कारण औचित्य के ऐतिहासिक विकास में इनका नाम उल्लेखनीय है। इनके पश्चात् महाकवि माघ, भामह, दण्डी, यशोवर्मा, भट्ट लोल्लट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, भोजराज, कुन्तक, महिम भट्ट और क्षेमेन्द्र ने औचित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

भरत मुनि का औचित्य-विवेचन नाटक से सम्बन्धित है। औचित्य को वे रस सचार का एक आवश्यक साधन मानते हैं। वेश, गति, पाठ्य और अभिनय आदि की परस्पर उचित अनुरूपता से नाटक में रस-सचार हो सकता है। नाट्यशास्त्र में वे लिखते हैं—

"वयोऽनुरुप. प्रथमस्तु वेशो
वेशानुरुपश्च गति-प्रचार

"गतिप्रचारानुगत च पाठ्य
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥" (१४।६८)

भारत के विभिन्न प्रान्तो के वेशौचित्य को दृष्टि में रखते हुए उन्होने चार प्रकार की प्रवृत्तियो के अनुसार वेशभूषा निर्धारित की है। अभिनयौचित्य को ध्यान में रखकर आगिक, सात्त्विक, वाचिक और आहार्य चार प्रकार के अभिनय का उल्लेख किया है। इसी प्रकार भरतमुनि ने नाटक के प्राय. सभी अगो का औचित्य से सम्बन्ध स्थिर किया है।

भरत-मुनि के पश्चात् आचार्यों और कवियो ने काव्य में भी औचित्य को स्थान दिया। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल-वध' में एक स्थल पर गुणौचित्य और रसौचित्य की ओर सकेत किया है—

"तेज क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपते·
नैकमोज प्रसादो वा रसभावविद· कवे." (२।८५)

अर्थात् राजा के तेज और क्षमा दोनों ही महान् गुण होते हैं, किन्तु समय के अनुरूप इन गुणो का प्रयोग ही उचित होता है। इसी प्रकार कवि को भी रस और भाव के सामञ्जस्य से अनभिज्ञ नही रहना चाहिए। औचित्य को दृष्टि में रखकर ओज-प्रसाद आदि गुणो का प्रयोग करना चाहिए।

भामह ने 'काव्यालकार' में औचित्य पर विचार करते हुए काव्य का सर्वप्रमुख गुण औचित्य और काव्य-दोष को अनौचित्य कहा है। भामह का मत है काव्य-दोष भी औचित्यानुरूप प्रयुक्त किए जाने पर दोष नही रहते जैसे पुनरुक्ति दोष है किन्तु भय, शोक, हर्ष, विस्मय आदि भाव के प्रकाशनार्थ पुनरुक्ति दोष नही रहता—

"भयशोकाभ्यसूयासु हर्षे विस्मययोरपि
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्त न तद्विदु." (का० ४।१४)

दण्डी ने भी इसी प्रकार दोष-परिहार का विवेचन करते हुए औचित्य की ओर सकेत किया है। उनके मतानुसार भी उचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर दोष का दोषत्व मिट जाता है।[1]

कन्नोज के अधिपति यशोवर्मा ने अपने 'रामाभ्युदय' नाटक के गुणो का उल्लेख करते हुए वचनौचित्य को प्रथम स्थान दिया है—

"औचित्य वचसा प्रकृत्यनुगत सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टि एवावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रम
शुद्धि. प्रस्तुत सविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयो·
विद्वद्भि. परिभाव्यतामवहितै एतावदेवास्तु न"

भट्टलोल्लट ने भी महाकाव्यो में रस निष्पत्ति के लिए औचित्य को महत्त्व दिया है रस के साथ काव्य के सभी अगो का उचित सामञ्जस्य विधान होना चाहिए।

---

१ "विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित्कविकौशलात्
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विहागते" (IV—५—७)

इसी सामञ्जस्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने रसौचित्य की ओर सकेत किया है।

इस प्रकार भट्ट लोल्लट के समय तक औचित्य पर प्राय सभी आचार्यों ने दृष्टिपात किया। किन्तु काव्य सम्प्रदाय के रूप में इसकी प्रतिष्ठा नही हो सकी। औचित्य पर स्वतन्त्र रूप से विस्तृत विचार करनेवाले प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन हैं। इनसे पूर्व रुद्रट ने औचित्य और रस के सम्बन्ध पर थोड़ा प्रकाश डाला था। आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम औचित्य शब्द का शास्त्रीय रूप में नाम निर्देश किया। यशोवर्मा भी वाचौचित्य और रसौचित्य का थोड़ा-सा उल्लेख कर चुके थे। रुद्रट आनन्दवर्धन से कुछ काल पूर्व हुए थे। आनन्दवर्धन द्वारा किए गए रसौचित्य के विवेचन की अनेक बाते रुद्रट के काव्यालकार में पाई जाती हैं। रुद्रट के समय में अलकार सम्प्रदाय का ह्रास और रससम्प्रदाय का उदय हो रहा था। अत रुद्रट ने अलकारो को रसौचित्य का आश्रित माना है। अलकारौचित्य के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"एता प्रयत्नादधिगम्य सम्यग् औचित्यमालोच्य तथार्थसस्यम्
मिश्रा कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घा कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ता."

(का० II ३२)

रुद्रट के मतानुसार दोषों का दोषत्व अनौचित्य के कारण ही होता है। अत काव्य में वे औचित्य को व्यापक महत्त्व देते हैं। वास्तव में औचित्य सम्प्रदाय के बीज का प्रस्फुरण रुद्रट द्वारा ही किया गया था। राजशेखर ने भी गुण और दोषो की स्थिति कवि के औचित्य विवेक पर आधारित मानी है।

रुद्रट के पश्चात् औचित्य और रसध्वनि का व्यापक सामञ्जस्य स्थित करने वाले प्रधानाचार्य आनन्दवर्धन का युग आता है। उनका औचित्य सिद्धान्त इस प्रकार है—

"अनौचित्याद् ऋते नान्यत्, रसभङ्गस्य कारणम्
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा"

अर्थात् रस के भग्न होने का एकमात्र कारण अनौचित्य है। औचित्य का निबन्धन ही रस सचार का रहस्य है। उन्होंने रस सचार में सहायक निम्नलिखित औचित्यो का उल्लेख किया है—

१ अलकारौचित्य
२. गुणौचित्य
३. सघटनौचित्य
४ प्रबन्ध ध्वनि
५ रसौचित्य
६ रीत्यौचित्य

अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' नामक टीका में आनन्दवर्धन के औचित्य सिद्धान्त का मार्मिक विवेचन और समर्थन किया है। यह विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ होने के कारण उल्लेखनीय है। भोजराज ने भी अपने 'शृगार प्रकाश' और 'सरस्वतीकठाभरण' में औचित्य पर गौण रूप से विचार किया है। औचित्य को ही दृष्टि में रखकर उन्होंने

दोष, गुण, अलकार आदि के भेदो की चर्चा की है। कुन्तक वक्रोक्ति सिद्धान्त के परिपोषक आचार्य थे। अत उन्होने वक्रोक्ति के सहायक के रूप में औचित्य पर विचार किया है। महिम भट्ट भी इसी सिद्धान्त से प्रभावित थे। इन्होने ध्वनि का विरोध कर रस और औचित्य के सम्बन्ध का समर्थन किया है।

आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रस्थापित औचित्य सिद्धान्त के पूर्ण व्यवस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। यह आनन्दवर्धन के भाष्यकार अभिनवगुप्त के शिष्य थे। ध्वनि सिद्धान्त भी इनको मान्य था। क्षेमेन्द्र ने रस को काव्य का प्राण मानते हुए औचित्य को इस का जीवन कहा है—

"औचित्य रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य का विस्तृत विवेचन किया है—

इस प्रकार काव्यशास्त्र में औचित्य की स्थिति भरत मुनि के समय से ही थी, किन्तु उसे स्वतन्त्र रूप से वर्णित करनेवाले प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन और उसकी पूर्ण व्यवस्था करनेवाले आचार्य क्षेमेन्द्र ही हैं।

औचित्य के भेद—काव्य के विविध अगो और उपागो के अनुरूप औचित्य भी विविध हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने उदाहरणस्वरूप २७ प्रकार के प्रमुख औचित्यो का उल्लेख 'औचित्य विचार चर्चा' में किया है। यह भेद इस प्रकार है—पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद। आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रबन्धौचित्य को प्रबन्ध ध्वनि का नाम दिया है। वे काव्य में प्रमुख रूप से छ प्रकार के औचित्य मानते हैं। इनका नाम निर्देश पहले किया जा चुका है।

औचित्य और रस-परिपाक—औचित्य सम्प्रदाय के सभी आचार्यों ने काव्य में रस परिपाक का मूल तत्त्व औचित्य ही माना है। रस के पूर्ण परिपाक की अवस्था को आचार्यों ने पाक नाम दिया है—

"तस्माद् रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन. पाक.।"

(K M पृ० २०)

राजशेखर ने अपने 'कविरहस्य के 'काव्यपाककल्प नामक प्रकरण में काव्य की पाक अवस्था पर विचार किया है। कवि में उचित-अनुचित का विवेक होने पर काव्य इस स्थिति को पहुँचता है—

"उचितानुचितविवेको व्युत्पत्ति इति यायावरीय।"

(K. M पृ० १६)

इस प्रकार रस और औचित्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। रस और ध्वनि से सम्बन्ध हुए बिना औचित्य का कोई महत्त्व ही नहीं होता। अभिनवगुप्त और क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का 'जीवित' या जीवन स्वीकार किया है। किन्तु दोनो में थोडा अन्तर है। अभिनवगुप्त ने आत्मा और जीवित शब्दो को पर्यायवाची मानकर औचित्य से युक्त रस

ध्वनि को काव्य का जीवित्व कहा है—

"उचितशब्देन रसविषयमौचित्य भवतीति दर्शयन् रसध्वनें जीवितत्त्व सूचयति"

(पृ० १३)

क्षेमेन्द्र ने आत्मा और जीवित्व में भेद माना है। रस को वे काव्य की आत्मा और औचित्य को उसका जीवन मानते हैं। रस काव्य में प्राण-प्रतिष्ठा करता है, तो औचित्य उसके जीवन को चिरस्थायी रूप देता है। जिस प्रकार पारद धातु के सेवन मे शरीर का यौवन चिरस्थायी हो जाता है—

"रसेन शृ गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवित स्थिरमित्यर्थं । औचित्य स्थिरविनश्वर जीवित काव्यस्य तेन विनास्य गुणा लकार युक्तस्यापि निर्जीवित्वात् ।" (औ० वि० च० पृ० ११५)

एक दूसरे स्थल पर वे लिखते हैं—

"औचित्यस्य चमत्कार-कारिणश्चारुचर्वणे,
रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना ।"

(श्लो० ३)

तात्पर्य यह है कि सहृदयो द्वारा जिस काव्य-चमत्कार का चारुचर्वण किया जाता है। उसका मुख्य रहस्य औचित्य है। औचित्य ही रस का जीवित तत्त्व है।

औचित्य से रस आस्वाद योग्य बनता है और अनौचित्य ही रसाभास का कारण है—

"औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्ते: आस्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसः व्यभिचारिण्या भावः। अनौचित्येन तदाभास, रावणस्य सीतायामिवरते ।

(अभिनवगुप्त)

आनन्दवर्धन ने कवि के मुख्य कर्म का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"वाच्यानां वाचकाना च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्य महाकवे ॥"

अर्थात् काव्य में रस आदि विषय से सम्बन्धित वाच्य-वाचक भावजनित औचित्य की योजना ही कवि का मुख्य कर्म है।

: ४ :

भारतीय काव्यशास्त्र का विकास-क्रम

सस्कृत का काव्यशास्त्र—

काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ कौन है इस सम्बन्ध में विद्वानो में बडा मतभेद है। अधिकाश विद्वान् 'नाट्यशास्त्र' को ही काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ मानते हैं। कीथ का कहना है कि पाणिनी से पहले किसी अलकारसूत्र के अस्तित्व के चिह्न नही मिलते। केवल यास्क के निरुक्त के तीसरे अध्याय में कुछ अलंकारो के प्रयोग से ऐसा अनुमान किया जाता है कि काव्यशास्त्र के ग्रन्थ निरुक्त के समय में भी विद्यमान थे, किन्तु यह केवल अनुमान मात्र है और हम केवल अनुमान में विश्वास नही करते।

यदि हम कीथ का मत मान भी लें तो भी वररुचि और काश्यप आदि आचार्यों द्वारा प्रयुक्त अलकारो के आधार पर यह स्वीकार किये बिना नही रह सकते कि 'नाट्यशास्त्र' से पहले भी अलकारशास्त्र का प्रचार था। इसके अतिरिक्त राजशेखर की 'काव्यमीमासा' के प्रमाण के आधार पर भी हम यही कह सकते हैं कि अलकारशास्त्र का उदय 'नाट्यशास्त्र' से पहले हुआ था। राजशेखर ने भरत से पूर्व के अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें सुवर्णनाभ, कचमार, नन्दिकेश्वर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नामों के सम्बन्ध में कुछ विद्वानो का कहना है कि वे काल्पनिक हैं। किन्तु इस मत का खण्डन नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ की उपलब्धि से हो गया है। यह ग्रन्थ इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित रक्खा है। जब एक आचार्य की प्रामाणिकता सिद्ध होगई है तो अन्य आचार्यों को भी प्रामाणिक मानना पडेगा। इससे प्रकट है कि काव्यशास्त्र का उदय भरतमुनि से पहले बहुत काल पूर्व होचुका था।

'काव्य-मीमासा' के अतिरिक्त हमें बहुत से काव्यशास्त्र के आचार्यो का नामोल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र में भी मिलता है। इससे भी प्रकट होता है कि काव्यशास्त्र का उदय भरतमुनि के पहले हो चुका था। इनमें भरतमुनि ने काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य कोहल या नन्दिकेश्वर का उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है उनसे पहले नन्दिकेश्वर नामक आचार्य हो चुके थे। यदि हम डा० एस० के० डे के मतानुसार 'काव्य-मीमासा' के उद्धरण को अप्रामाणिक भी मान लें तो भी हम 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर स्पष्ट कह सकते है कि काव्यशास्त्र का उदय भरत से पहले ही होगया था। किन्तु इस समय उपलब्ध ग्रन्थों में 'नाट्यशास्त्र' ही काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है।

भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'—भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के सम्बन्ध में विद्वानों की अलग-अलग धारणायें हैं। कुछ लोग उसे आधुनिक रचना मानते हैं और कुछ प्राचीन। यहाँ पर इसीलिए हम सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' से सम्बन्धित मतों का उल्लेख करेंगे।

१—'काव्यप्रकाशादर्श' 'काव्यप्रकाश' पर लिखी हुई एक प्रसिद्ध टीका है। इस टीकाकार ने 'नाट्यशास्त्र' को 'अग्निपुराण' के बाद की रचना माना है। यह मत हमें समीचीन नही मालूम पडता क्योंकि 'अग्निपुराण' में भरतमुनि और उनके 'नाट्यशास्त्र' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण ने 'भरतेन प्रणीतत्वात्' लिखकर स्पष्ट रूप से भरत को अपना पूर्ववर्ती ध्वनित किया है ।

२—मैकडॉनल महोदय ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास में 'नाट्यशास्त्र' को छठी शताब्दी की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु यह मत सारपूर्ण नही प्रतीत होता। कालिदास ने अपनी 'विक्रमोर्वशीय' में भरत मुनि का उल्लेख किया है। कालिदास ही क्यो भास के नाटक भी 'नाट्यशास्त्र' के नियमो पर आधारित जान पडते हैं। कालिदास और भास का युग निश्चित रूप से छठी शताब्दी के पूर्व का है। इसलिए मैकडॉनल महोदय का मत निस्सार माना जाता है।

३—डॉ० डे ने अपने Sanskrit Poetics नामक ग्रन्थ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'नाट्यशास्त्र' एक व्यक्ति की रचना नही है। इसे अपना अन्तिम रूप आठवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ था। हमारी समझ में यह मत भी समीचीन नही है। डे साहब का तर्क है कि 'नाट्यशास्त्र' में हमें यवन शब्द मिलता है। यह शब्द बहुत परवर्ती है। अतएव यह रचना पूर्ण रूप से प्राचीन नही मानी जा सकती। इसका कुछ अश अवश्य ही आठवी शताब्दी के आस-पास का है। किन्तु उनका यह तर्क हमें बहुत उपयुक्त नही जान पडता। यवन शब्द का उल्लेख रामायण और महाभारत में भी मिलता है, केवल इस आधार पर हम 'रामायण' और 'महाभारत' को आठवी शताब्दी की रचना नही मान सकते। वैसे भी विद्वानो ने इन ग्रन्थो को ईस्वी पूर्व की रचना माना है। इसी प्रकार हम 'नाट्यशास्त्र' को भी आठवी शताब्दी का नही मान सकते।

४—काणे ने अपने 'साहित्य-दर्पण' की भूमिका में भरत का समय पहली शताब्दी से लेकर आठवी शताब्दी के मध्य में निश्चित किया है। उनका तर्क है कि कोहल ई० शताब्दी चौथी या पाँचवी के आचार्य थे। भरतमुनि कोहल से पहले हुए थे। उन्होंने कुछ थोडी-सी कारिकायें लिखी थी। शेष ग्रन्थ को इतना बृहत् रूप देने का श्रेय कोहल को ही है। (शेष प्रस्तारेण कोहल कथयिष्यति) किन्तु अब कोहल, तण्डु या नन्दिकेश्वर आचार्य के एक ग्रन्थ के उपलब्ध हो जाने पर जो India Office Library में सुरक्षित है, उसकी भाषा-शैली आदि को देखकर विद्वानो ने निश्चित किया है। वह ई० शताब्दी के पूर्व की रचना है ऐसी अवस्था हम 'नाट्यशास्त्र' के रचना काल को आठवी शताब्दी तक किसी प्रकार नही ले जा सकते।

काणे महोदय का दूसरा तर्क है कि दामोदर गुप्त ने अपने 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ में 'नाट्यशास्त्र' का रचनाकाल आठवी शताब्दी के लगभग माना है। किन्तु 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर हमें सन्देह है अत उसके कथन को प्रामाणिक मानने के लिए हम प्रस्तुत नही हैं। काणे महोदय ने अपने मत का पोषण हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' के एक उल्लेख से भी किया है। 'काव्यानुशासन' में 'नाट्य-शास्त्र' को आठवी शताब्दी की रचना माना गया है परन्तु काव्यानुशासन

स्वय एक आधुनिक रचना है। अत हम उसके उल्लेख को प्रामाणिक नही मान सकते।

५ महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी १६३० में एक लेख लिखा है। जिसमें 'नाट्यशास्त्र' को दूसरी शताब्दी ई० पू० की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है। यह मत हमें अधिक तर्कसगत और समीचीन प्रतीत होता है। क्योकि तण्डु नामक आचार्य के प्राप्त ग्रन्थ की रचना और शैली से भी यही प्रकट होता है कि वह दूसरी शताब्दी ई० पू० के आस-पास की रचना है। इनको हम चाहे भरत का शिष्य मानें या गुरु, उसमें केवल ४०-५० वर्षों का ही अन्तर पड सकता है। प्रत्येक अवस्था में 'नाट्यशास्त्र' ई० पू० की रचना ही मानी जायगी। कालिदास और भास आदि पर जो 'नाट्यशास्त्र' का प्रभाव दिखलाई पडता है उससे भी यही प्रकट होता है कि उसकी रचना ईसवी शताब्दी पूर्व ही है।

६ पीटरसन महोदय भी इसी मत के पोषक हैं। उन्होंने भी 'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल ईसवी शताब्दी पूर्व ही निश्चित किया है।

'नाट्यशास्त्र' का रचयिता—'नाट्यशास्त्र' के रचयिता के सम्बन्ध में भी विविध मत हैं। डा० एस० के० डे और काणे साहब उसको किसी एक व्यक्ति की रचना नही मानते। उनकी धारणा है कि भरतमुनि ने सक्षिप्त नाट्यशास्त्र लिखा था। आगे चलकर उसका विस्तार कोहल नामक आचार्य ने किया। आजकल जो ग्रन्थ उपलब्ध है वह कोहल नामक आचार्य का ही है, इस मत का खण्डन पीछे कर चुके हैं। जब भरतमुनि ने तण्डु या कोहल को अपना गुरु स्वीकार किया है तो यह कैसे माना जा सकता है कि भरत ने सक्षिप्त 'नाट्यशास्त्र' की रचना की थी और उसका विस्तार कोहल ने किया। यदि हम नन्दिकेश्वर और कोहल को एक न मानें तब हम यह कह सकेंगे कि इसका विस्तार कोहल नामक आचार्य ने किया था। किन्तु अभी तक सर्वमान्य मत यही है कि तण्डु, कोहल तथा नन्दिकेश्वर एक थे। हम 'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित 'शेष. प्रस्तारेण कोहल कथयिष्यति' इस वाक्याश को प्रक्षिप्त मानने के पक्ष में हैं। दूसरे विद्वान् भी 'नाट्यशास्त्र' को भरतमुनि की रचना ही मानते हैं। भाषा और शैली की समानता भी यही प्रकट करती है कि 'नाट्यशास्त्र' एक ही व्यक्ति की रचना है।

'नाट्यशास्त्र' में ३७ अध्याय हैं। छठे अध्याय में रस का विवेचन किया गया है। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। चौदहवें में छन्दो का उल्लेख किया गया है और १६वें में चार अलकारो का विवेचन है। १८वें में दशरूपको की चर्चा की गई है और २०वें में नाट्य मातार वृत्तियो का निरूपण मिलता है। २२वें में नायक-नायिका भेदो का निर्देश मिलता है। प्रमुख अध्याय यही हैं। अन्य अध्यायो में नाट्य के विविध प्रकारो का निरूपण मिलता है।

अग्निपुराण—'अग्निपुराण' के ३३७ से लेकर ३४७ अध्याय तक साहित्यशास्त्र का निरूपण मिलता है। डा० डे ने 'अग्निपुराण' को दण्डी और भामह के बाद की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है। दण्डी का समय छठी शताब्दी के आस-पास माना जाता है। भामह इसके कुछ और बाद में हुए थे। इसी आधार पर उन्होने 'अग्निपुराण' का

रचना-काल ७०० ई० से लेकर ९०० ई० तक निश्चित किया है। काणे महोदय ने उसका रचना-काल 'ध्वन्यालोक' के बाद निश्चित किया है। 'ध्वन्यालोक' का रचना-काल १४वी शताब्दी माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके अनुसार यह चौदहवी शताब्दी के बाद की रचना है। किन्तु हम उपर्युक्त दोनो विद्वानो के मतो से सहमत नही हैं। 'अग्निपुराण' में केवल १५ अलकारो का उल्लेख किया गया है। भामह और दण्डी में हमें १५ से कही अधिक अलकार मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट है कि भामह और दण्डी की रचनायें विस्तार काल से सम्वद्ध हैं। समय के प्रवाह के साथ अलकारों का विकास होता गया है। 'नाट्यशास्त्र' में ४, अग्निपुराण में १५ तथा भामह और दण्डी में क्रमश २३ और ३८ अलकारो का विवेचन किया गया है। इन आचार्यों के बाद में अन्य आचार्यों ने इनका और भी विस्तार किया है। इनकी सख्या लगभग २०० के पहुँच गई। इस आधार पर भी हम 'अग्निपुराण' को दण्डी और भामह के बाद की रचना नही मान सकते। जब हम उसे छठी शताब्दी से पूर्व की रचना मानने के पक्ष में हैं तो फिर १५वी शताब्दी वाला मत सामने आता ही नही है। हमारी समझ में 'अग्निपुराण' की रचना दूसरी-तीसरी शताब्दी के आस-पास हुई थी। कन्हैयालाल पोद्दार ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

कीथ आदि विद्वानो ने 'अग्निपुराण' की उपेक्षा की है किन्तु इससे हमें साहित्य की बहुत प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है। इसलिये इसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

मेधाविन्—इनका उल्लेख भामह ने अपने 'काव्यालकार' में, राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमासा में बडे समादर के साथ किया है किन्तु अभी तक इनका लिखा हुआ कोई काव्यशास्त्र का ग्रन्थ उपलब्ध नही हुआ। कुछ विद्वानो के मतानुसार उत्प्रेक्षा अलकार के सर्वप्रथम उद्भावक यह ही थे। परन्तु कीथ ने इस मत का खण्डन किया है।

दण्डी—दण्डी ने काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' लिखा है। इस ग्रन्थ में एक स्थल पर उन्होने अपने को दक्षिण निवासी ध्वनित किया है। इनका विस्तृत जीवन-वृत्त अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। दण्डी के समय के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ विद्वान् दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती मानते हैं और कुछ परवर्ती। नृसिहाचार्य ने जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी १९०५ के एक लेख में भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। किन्तु उनके इस मत का खण्डन जैकोबी, डा० डे कीथ, काणे आदि विविध विद्वानो ने किया है। दण्डी की तिथि निश्चित करने में सस्कृत की महाकवयित्री विज्जका बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में सरस्वती की वंदना करते हुए उसे सर्वशुक्ला कहा है। बिज्जका ने उसके इस कथन का खण्डन किया है। बिज्जका का समय ६६० ई० बताया जाता है। अत दण्डी का समय लगभग ६०० ई० के होगा। हो सकता है कि ६३० ई० के आस-पास दण्डी वर्तमान हो।

मैक्समूलर ने अपने 'इण्डिया व्हाट कैन इट टीच अस' तथा मैकडॉनल ने अपने इतिहास में इसी मत की पुष्टि की है, किन्तु पीटरसन और जैकोबी इस मत से सहमत नही थे। उन्होने लिखा है कि दण्डी अपने 'दशकुमारचरित' में कादम्बरी से प्रभावित

हुए थे। अतएव उनका बाण के पश्चात् होना प्रकट होता है। बाण हर्ष के समकालीन थे। वे सातवी शताब्दी के मध्य में वर्तमान थे। इस आधार पर जैकोबी ने इनका समय सातवी शताब्दी निश्चित किया है। हमारी धारणा है कि जैकोबी का मत बहुत सार-पूर्ण नही है। क्योकि 'दशकुमारचरित' पर 'कादम्बरी' का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही दिखाई पडता। भाषा और शैली का साम्य युग साम्य के कारण भी देखा जाता है। हमें विज्जका के प्रमाण पर विश्वास करना पड़ेगा और इसी आधार पर दण्डी को छठी शताब्दी के अन्तिम चरण और सातवी शताब्दी के प्रथम चरण का कवि मानना पडेगा।

दण्डी के ग्रन्थ—दण्डी का 'काव्यादर्श' तो लोक-प्रसिद्ध है ही, इसके अतिरिक्त पीटरसन ने अपनी 'सुभाषितावली' की भूमिका में राजशेखर के एक पद्य को उद्धृत करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि दण्डी ने तीन प्रबन्धो की रचना की थी—

"त्रयोदण्डीप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता।"

इस कथन की पुष्टि हमें राजशेखर से नही होती दिखाई पडती किन्तु कोई आश्चर्य नही कि उसने तीन प्रबन्ध और लिखे भी हो। अनुसन्धान करने पर उनकी उपलब्धि हो सकती है।

दण्डी का 'दशकुमारचरित' एक सुन्दर काव्य है। 'काव्यादर्श' तीन परिच्छेदो में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-परिभाषा, काव्यभेद, महाकाव्य के लक्षण, गद्य के प्रभेद, कथा और आख्यायिका, मिश्रकाव्य, काव्य-हेतु आदि पर विचार किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में ३५ अर्थालङ्कारो का निरूपण मिलता है। तीसरे में चित्र-काव्य, प्रहेलिका तथा दोषों का निर्देश किया गया है।

भामह—काणे महोदय की धारणा है कि भामह, बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग से प्रभावित थे। इनका समय ५वी शताब्दी ई० माना जाता है। इस आधार पर भामह को उन्होंने ५वी शताब्दी के बाद का आचार्य सिद्ध किया है। अधिकाश विद्वान् भामह को दण्डी के बाद का आचार्य मानने के पक्ष में ही हैं। दण्डी का समय छठी शताब्दी का अन्तिम चरण या सप्तम शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। अत भामह का समय इसके बाद ही माना जा सकेगा। वामन भामह से प्रभावित मालूम होते हैं यह बात दोनो के उपमालङ्कारो की तुलना से प्रकट होती है। वामन का समय कीथ ने आठवी शताब्दी के आस-पास निश्चित किया है। जैकोबी ने वामन को काश्मीराधिपति जयापीड का मंत्री माना है। जयापीड का समय ७०० से ८१३ ई० तक माना जाता है, उससे भी यही प्रकट होता है कि वामन आठवी शताब्दी में हुए थे। भामह वामन से पहले हुए थे अतएव उन्हें सातवी शताब्दी का माना जा सकता है।

भामह के सम्बन्ध में विद्वानो में बडा मतभेद है। कुछ लोग उन्हे बौद्ध मानते हैं और कुछ वैष्णव। प्रो० हिङ्गर ने उन्हे बौद्ध सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नही है। भामह का 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें छ परिच्छेद हैं—प्रथम में काव्य-प्रशसा, काव्य-साधन, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद और काव्य-दोषो का निरूपण किया गया है। दूसरे और तीसरे में ३८ अलकारो का विवेचन मिलता है। चौथे में काव्य-दोषों का वर्णन किया गया है

पाँचवे में गुणो की विवेचना मिलती है। छठी में शब्दशुद्धि विषयक शिक्षा का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में ५०० श्लोक हैं। उद्भटाचार्य ने इस पर 'विवरण' नामक एक सुन्दर टीका लिखी है।

उद्भट—उद्भट सस्कृत के एक प्रसिद्ध काव्यशास्त्री माने जाते हैं। इन्होंने 'काव्यालकार सार-सग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। इनके ग्रन्थ की खोज डा० बुह्लर ने की थी। इनके समय का निर्णय 'राजतरङ्गिणी' के उल्लेख के आधार पर किया गया है। 'राजतरङ्गिणी' जयपीड के शासन-काल में लिखी गई थी। इसका समय ७७९ से ८१३ के बीच में है। उदभट इमसे कुछ समय पूर्व हुए होगे। अतएव इनका उदय-काल आठवी शताब्दी के प्रथम चरण में होगा। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इनका ग्रन्थ भामह के काव्यालकार का ऋणी कहा जा सकता है। इनके ग्रन्थ 'काव्यालकार सार-सग्रह' में ६ अध्याय हैं। इसमें ४८ अलकारो का विवेचन किया गया है। जैकोबी ने उद्भट के 'रसाधिष्ठितम् काव्यम्' सूत्र काव्य के आधार पर उद्भट को रसवादी आचार्य कहा है किन्तु ये अलकारवादी आचार्य ही थे। इसका प्रमाण यह है कि 'अलकारा एव काव्ये प्रधानम्' वाले मत की पुष्टि में इनका नामोल्लेख किया जाता है।

वामन—आनन्दवर्धनाचार्य वामन के परवर्ती थे। इनका समय ८५० ई० माना जाता है। वामन के पूर्ववर्तियो में भवभूति विशेष उल्लेखनीय हैं। भवभूति का समय ७२५ ई० के आस-पास निश्चित किया जाता है। अतएव वामन का समय ७२५ सेलेकर ८५० के बीच में निश्चित होता है। कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' में वामन को जयापीड का मन्त्री बताया है। बुल्हर साहब ने इस मत का समर्थन किया है। जयापीड का समय ८१३ ई० माना जाता है। इस आधार पर कुछ लोग वामन को उद्भट का समकालीन मानने के पक्ष में हैं, किन्तु कीथ आदि विद्वानो ने इसका समर्थन नही किया है। उनके मतानुसार वामन का उदय आठवी शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। हम भी इसी मत से सहमत हैं। वामन भी अलकारवादी आचार्य थे। इन्होने 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' में भामह और उद्भट का अनुकरण करते हुए अलकारो का विवेचन किया है।

रुद्रट—कीथ ने इसका समय ९वी शताब्दी के आस-पास निश्चित किया है। बुल्हर साहब ने ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आचार्य माना है। किन्तु बुल्हर साहब का मत विशेष मान्य नही समझा जाता, क्योकि प्रतिहारेन्दुराज ने जो कि नवी शताब्दी में हुए थे इनका स्पष्ट उल्लेख किया है। अतएव इनका समय नवी शताब्दी के मध्य में मानना चाहिए। पिशेल, वेबर, बुल्हर, आदि विद्वानो ने रुद्रट को ग्यारहवी शताब्दी का आचार्य मानने की भूल इस कारण की है कि वे रुद्रट और रुद्रभट्ट मे कोई भेद नही मानते थे। किन्तु रुद्रभट्ट जिन्होने 'शृगार-तिलक' नामक रचना लिखी है रुद्रट से भिन्न है। इनका समय ११वी शताब्दी अवश्य माना जाता है। रुद्रट नवी शताब्दी के मध्य मे ही हुए थे। इनके 'काव्यालकार' में १६ अध्याय है। प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतुओं का विवेचन किया गया है। दूसरे में काव्य-लक्षण, रीति, वाक्य-लक्षण, भाषा-भेद तथा वक्रोक्ति आदि तीन शब्दालकार वर्णित हैं। ७, ८, ९ और १०वें अध्याय में रस आदि का निरूपण मिलता है। १२, १३ और १४वें अध्याय में अन्य

काव्य विपयो का उल्लेख है। १६वें में महाकाव्य, प्रवन्ध आदि के लक्षण दिये गये हैं। रुद्रट पहले आचार्य हैं जिन्होंने अलकारो का वर्गीकरण वैज्ञानिक शैली पर किया है उन्होने अलकारो को चार भागो में विभाजित किया है—(१) वास्तव वर्ग इनमें २३ अलकार गिनाये गये हैं। (२) औपम्य वर्ग में २१ अलकार गिनाये गये है। (३) अतिशय वर्ग में १२ अलकार हैं। (४) श्लेप वर्ग में केवल एक अलकार हैं। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार ५७ अलकार होते हैं।

ध्वन्यालोक—इस ग्रन्थ ने सस्कृत काव्यशास्त्र में एक प्रकार से युगान्तर उपस्थित कर दिया है। सस्कृत साहित्य के सभी सम्प्रदाय इसके सामने फीके पड़ गये हैं। अलकार और रीति की तो वात ही क्या है ध्वनि के अन्तर्गत रस भी समेट लिया गया है। इसके सिद्धान्तों को सभी आचार्यों ने वडे सम्मान के साथ स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी जिन्होने प्राय सभी आचार्यों की आलोचना की है ध्वनिकार को ही आदर्श माना है। इस उक्ति से यह वात प्रकट है—

"ध्वनिकृतामालकारिक सरणिव्यवस्थापकत्वात्"

इसी प्रकार राजशेखर ने भी लिखा है—

"ध्वनिनातिगंभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशना।
आनन्दवर्धन· कस्य नासीदानन्दवर्धन ॥"

इन उक्तियो से ध्वनिकार का महत्त्व स्पष्ट प्रकट होता है।

'ध्वन्यालोक' के लेखक की समस्या—'ध्वन्यालोक' के लेखक के सम्वन्ध में मतभेद है। इस सम्वन्ध में दो मत वहुत प्रचलित है। कुछ लोग वृत्तिकार और कारिकाकार की एकता स्वीकार करते हैं और आनन्दवर्धन को ही इसका रचयिता मानते हैं। किन्तु कुछ लोग किसी अज्ञातनामा ध्वनिकार को कारिका-लेखक तथा आनन्दवर्धन को वृत्तिकार मानते है। प्रथम मत के पोपको में 'अलकार सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रगुप्त, महिमभट्ट, राजानक कुन्तक, प्रतिहारेन्दुराज, हेमचन्द्र तथा कीथ हैं।

रुय्यक के 'अलकार-सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रगुप्त ने आनन्दवर्धन को वृत्ति और टीकाकार उभय व्यञ्जित किया है। 'महिमभट्ट' ने भी 'ध्वन्यालोक' की कारिका और वृत्ति को ध्वनिकार के ही नाम से उद्धृत किया है। 'राजानक कुन्तक' ने एक पद्य को जिसे आनन्दवर्धन ने स्वरचित माना है ध्वनिकार के नाम से उद्धृत किया है। इससे प्रकट होता है कि वे आनन्दवर्धन और ध्वनिकार को एक ही मानते थे। 'प्रतिहारेन्दुराज' ने भी ध्वनि सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है और उसने भी कारिका और वृत्तिकार आनन्दवर्धन को ही माना है। 'हेमचन्द्र' ने भी एक कारिका को 'तदुक्तमानन्दवर्धनेन' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि वह भी आनन्दवर्धन को ही कारिकाकार मानता था। पाश्चात्य विद्वानों में कीथ विशेप उल्लेखनीय है। इन्होंने भी कारिका और वृत्ति दोनो का लेखक आनन्दवर्धन को ही माना है।

द्वितीय मत के पोषक—इस मत के समर्थको में कई विद्वान् और ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। पूना की भडारकर लाइब्रेरी वाली प्रति में एक स्थान पर एक ऐसा वाक्य दिया हुआ है जिससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि आनन्दवर्धन कारिका और

वृत्ति दोनो के लेखक नही थे। मैसूर की ताडपत्र पर लिखी हुई हस्तलिखित प्रति में भी वह वाक्य किञ्चित् परिवर्तन के साथ लिखा पाया गया है। पूना से मुद्रित पुस्तक में भी यह वाक्य मिलता है। इससे प्रकट होता है कि विद्वानो का एक वर्ग आनन्दवर्धन को कारिका और वृत्ति दोनों को लिखने का श्रेय देने को तैयार नही था। 'अभिधावृत्ति-मात्रिका' नामक ग्रन्थ के लेखक मुकुलभट्ट ने ध्वनि का सिद्धान्त किसी 'सहृदय' नामक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित स्वीकार किया है। मुकुलभट्ट आनन्दवर्धन से पहले हुए थे। इससे यह प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन से पहले भी ध्वनि का सिद्धान्त विस्तार से प्रतिपादित किया जा चुका था। इसी आधार पर विद्वानो की धारणा है कि मूलकारिकाकार 'सहृदय' नामक व्यक्ति था और आनन्दवर्धन केवल वृत्ति लेखक थे। ध्वन्यालोक की 'लोचन' नामक व्याख्या के लेखक अभिनवगुप्त ने भी कारिका और वृत्ति दोनो के लेखक पृथक्-पृथक् माने हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ विद्वान् कारिका-लेखक का नाम 'सहृदय' अथवा ध्वनिकार मानने के पक्ष में हैं। वे आनन्दवर्धन के वृत्तिकार मात्र मानते हैं। कुछ लोगो की धारणा है कि ध्वनिकार और आनन्दवर्धन एक ही व्यक्ति थे किन्तु अधिकाश विद्वान् दोनो को पृथक्-पृथक् व्यक्ति मानने के पक्ष में ही हैं। हमारी अपनी धारणा यह है कि कारिका के लेखक ध्वनिकार नामक अलग आचार्य थे। आनन्दवर्धन ने उन कारिकाओ पर केवल वृत्ति मात्र लिखी थी। मुकुलभट्ट ने जो आनन्दवर्धन से पहले हुए थे ध्वनि सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि उनके पहले ध्वनिकार हो चुके थे और ध्वनिकार का प्रतिपादन करने वाली कारिका लिख चुके थे। विद्वानो की धारणा है कि ध्वनिकार पहली-दूसरी शताब्दी के आस-पास हुए थे किन्तु मै इस मत से सहमत नही हूँ। मेरी समझ में ध्वनिकार ने अपनी कारिकाओ की रचना छठी अथवा सातवी शताब्दी के आस-पास की होगी। कोई आश्चर्य नही कि वे और भी बाद में हुए हो क्योकि उनके सिद्धान्त की प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन ने प्रथम बार की थी।

आनन्दवर्धन का समय निर्विवाद रूप से निश्चित है। वे अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५७-८८४ निश्चित किया जाता है। इसी आधार पर कीथ ने इनका समय ८५० ई० निर्धारित किया है। यदि हम ध्वनिकार का समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी मानेंगे तो फिर हम काव्यशास्त्र के आचार्यो के नवी शताब्दी तक के मौन का उत्तर न दे सकेंगे। क्योकि ध्वनि जैसा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त काव्याचार्यों के द्वारा इतने दिन उपेक्षित रहा होगा, यह विश्वास नही होता।

ध्वन्यालोक का वर्ण्य-विषय—'ध्वन्यालोक' में चार उद्योत हैं तथा १२८ कारिकायें हैं। मुद्रित ग्रन्थ में तीन उद्योतो पर अभिनवगुप्त की लोचन टीका उपलब्ध है। प्रथम उद्योत में २२ कारिकायें हैं। इसमें ध्वनि की स्थापना की गई है। द्वितीय उद्योत में ३६ कारिकायें हैं। इसमें ध्वनि के विभेदो का विवेचन किया गया है। इसी में रसवदादि अलकारो और माधुर्य आदि गुणो की व्याख्या भी की गई है। तृतीय उद्योग की ५४ कारिकाओ में पद वाक्य व्यञ्जकता, सघटना औचित्य, गुणीभूत व्यग्य, वाच्यालकार आदि का विवेचन किया गया है। चतुर्थ उद्योत में १७ कारिकायें हैं

जिनमें ध्वनि का महत्त्व प्रतिष्ठित मिलता है।

अभिधावृत्तिमात्रिका (मुकुलभट्ट)—इन्होंने अपने पिता का नाम कल्हण बताया है। कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' प्रसिद्ध है। इसकी रचना उन्होंने अवन्तिवर्मा के समय में की थी। इस आधार पर इनका समय नवी शताब्दी के आस-पास ठहरता है। इसके ग्रन्थ में केवल १३ कारिकायें हैं। केवल अभिधा और लक्षरण का ही विवेचन किया गया है।

राजशेखर—राजशेखर संस्कृत के प्रसिद्ध कवि अकालजलद के प्रपौत्र थे। ये ब्राह्मरण थे अथवा अन्य किसी जाति के यह निश्चित नही है। कुछ लोग इन्हे क्षत्रिय मानते हैं और कुछ लोग ब्राह्मरण। संस्कृत में राजशेखर नाम के कई विद्वान् हो चुके हैं। 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' के लेखक भी कोई राजशेखर थे। केरल के एक राजा भी राजशेखर थे। इन्होंने अपने बनाये हुए तीन नाटक भगवान् शंकराचार्य को समर्पित किये थे। एक ताम्रपत्र पाया गया है जिसमें किसी अन्य राजशेखर का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये राजशेखर कौन थे इसका निर्णय नही किया जा सकता। महामहोपाध्याय डॉ० हीराचन्द ओझा ने 'काव्य-मीमांसा' के लेखक राजशेखर को इन सबसे भिन्न माना है।

राजशेखर का समय—इनके नाटको से ज्ञात होता है कि यह कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे। महेन्द्रपाल के पुत्र महीलाल के भी ये कृपापात्र थे। महीपाल का समय ९१७ ई० निश्चित किया गया है अतः ये भी इसी युग के आस-पास हुए होंगे। राजशेखर ने उद्भट और आनन्दवर्धनाचार्य का भी उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० माना गया है। 'यशस्तिलका' नामक चम्पू में भी राजशेखर का उल्लेख मिलता है। इसका समय ९५९ ई० माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राजशेखर ८८४ से लेकर ९२५ के बीच में हुए होंगे।

'काव्य-मीमांसा' का वर्ण्य-विषय—यह किसी सम्प्रदाय विशेष का ग्रन्थ नही है। इसमें काव्य के किसी प्रयोजनीय विषयो का नवीन शैली में वर्णन किया गया है। इनका लिखा हुआ 'कवि रहस्य' नामक एक ग्रन्थ और उपलब्ध है। इसके १८ अध्यायो में केवल एक ही अध्याय प्राप्त हुआ है। 'काव्य-मीमांसा' के अतिरिक्त 'बालमहाभारत', 'बालरामायरण', 'कर्पूरमञ्जरी सट्टक' आदि इनके लिखे अन्य ग्रन्थ बताये जाते हैं। राजशेखर का भारतीय काव्य-क्षेत्र में बड़ा सम्मान था, यह बात क्षेमेन्द्र, भोज और हेमचन्द्र की प्रशंसाओ से प्रकट होती है।

धनञ्जय—'दशरूपक' के लेखक धनञ्जय का संस्कृत नाट्य-क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। धनञ्जय ने अपने पिता का नाम विष्णु बतलाया है। ये महाराज मुञ्ज के समकालीन थे। मुञ्ज का समय दशवी शताब्दी के आस-पास माना जाता है अतएव इनका भी समय इसी के आस-पास मानना चाहिये। 'दशरूपक' में चार अध्याय हैं इनमें वस्तु, नेता और रस इन तीन नाटकीय तत्त्वो का विस्तार से विवेचन किया गया है। ग्रन्थ पर धनिक ने जो सम्भवतः इनके अनुज थे 'अवलोक' नामक एक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है।

अभिनवगुप्त—इनका समय ग्यारहवी शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है

इन्होने अपने पिता का नाम चुखल और पितामह का नाम मराहगुप्त बताया है। काव्य-शास्त्र पर इनका कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नही हुआ है केवल इनकी दो टीकाओ पर ही इनके सिद्धान्तो और मतो का विवेचन किया जाता है। 'ध्वन्यालोक' पर लिखी हुई 'लोचन' टीका और 'नाट्यशास्त्र' पर लिखी हुई अभिनव भारती टीका साहित्यशास्त्र की अमूल्य निधि हैं।

राजानक कुन्तक—कुन्तक ने अपने एक ग्रन्थ में कालिदास, भवभूति, भारवि, बाण आदि बहुत से कवियो के पद उद्धृत किये हैं। इन्होने राजशेखर का उल्लेख भी किया है। राजशेखर का समय ८८४ से ६२५ तक माना जाता है। महिमभट्ट ने एक कारिका इनके नाम से उद्धृत की है। इससे प्रकट है कि वे कुन्तक को जानते थे। महिमभट्ट का समय ग्यारहवी शताब्दी निश्चित किया गया है। कुन्तक उनसे कुछ समय पूर्व हुए होगे। अत उनका समय दशम शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के ये मूल प्रवर्तक माने जाते है। वक्रोक्ति को उन्होने 'वैदग्ध्य भगीभणिति' कहा है। कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन किया है किन्तु उनके इस मत का समादर नही हुआ। यो तो वक्रोक्ति की चर्चा रुद्रट, वामन और भामह भी कर चुके थे किन्तु रुद्रट और वामन ने उसे अलकार विशेष ही माना था।

महिमभट्ट—('व्यक्ति-विवेक') महिमभट्ट सम्भवत काश्मीरी थे। उनकी राजानक उपाधि से यह बात प्रकट होती है। उन्होने 'व्यक्ति-विवेक' नामक एक प्रौढ ग्रथ लिखा था। रुय्यक ने महिमभट्ट के इस 'व्यक्ति-विवेक' पर एक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है। इन बातो से पता चलता है कि महिमभट्ट मम्मट से पहले तथा रुय्यक के बाद हुए थे अत इनका समय ११वी शताब्दी माना जाना चाहिये। 'व्यक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थ तीन विमर्शो में विभाजित है। इस ग्रन्थ में महिमभट्ट ने ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में किया है। इन्होने केवल अभिधा और अनुमान दो ही काव्य-शक्तियाँ मानी हैं। लक्षणा और व्यञ्जना में ये विश्वास नही करते थे। मम्मट ने 'व्यक्ति-विवेक' के इस मत का खण्डन अपने 'काव्य-प्रकाश' के पाँचवें उल्लास में दृढता के साथ किया है।

महाराज भोज—('सरस्वती कण्ठाभरण', 'शृगार प्रकाश') महाराज भोज धारा नगरी के अधीश्वर थे। ये वाक्पति राजा मुञ्ज के भाई तथा 'नव-साहसाक चरित' के नायक सिन्धुल के पुत्र थे। भोज ने राजशेखर और धनञ्जय आदि के बहुत से पद अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में उद्धृत किये हैं। धनञ्जय का समय दशवी शताब्दी के आस-पास माना जाता है अतएव इनका समय १०५० के लगभग मानना चाहिये। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में ध्वनि और दृश्य काव्य को छोडकर काव्य के शेष सभी तत्त्वो का विवेचन किया गया है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम और द्वितीय में शब्द और अर्थ निरूपित किये गये हैं। तृतीय परिच्छेद में २४ अर्थालकार और २४ उभयालकार निरूपित किए गये हैं। इसमें अलकारो का वर्गीकरण मौलिक ढङ्ग से किया गया है। ये पहले आचार्य हैं जिन्होने २४ शब्दालकार गिनाए हैं। अन्य सभी आचार्यो ने केवल ६ ही शब्दालकार माने हैं। अर्थालकारो के अन्तर्गत इन्होने जैमिनी के ६ प्रमाणो

को समेटने की चेष्टा की है। दोष और गुणो का विवेचन भी अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा बहुत विशद हुआ है। 'शृगार प्रकाश' में ३६ प्रकाशो के अन्तर्गत केवल शृगार की रसराजता प्रतिपादित की गई है।

क्षेमेन्द्र ('कविकण्ठाभरण'—'औचित्य विचार चर्चा)—क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त का शिष्य, सिन्धु का पौत्र और प्रकाशेन्दु का पुत्र था। वह अनन्त नामक काश्मीर के राजा का सभापण्डित भी था। इस राजा का शासन-काल १०२८-८० माना जाता है अत क्षेमेन्द्र का समय १०५० के आस-पास मानना चाहिये। क्षेमेन्द्र के 'कवि कण्ठाभरण' में ५५ कारिकायें हैं जो पाँच सन्धियो में विभक्त हैं। 'औचित्य विचार चर्चा' इनका दूसरा ग्रन्थ है। इसमें काव्य के तत्वो और अगो के औचित्य पर विचार किया गया है।

आचार्य मम्मट ('काव्य-प्रकाश')—'काव्य-प्रकाश' का लेखक कौन था इस सम्बन्ध में विद्वानों में बडा मतभेद है। कौमुदी टीकाकार विद्याभूषण ने वृत्तिकार और कारिकाकार को पृथक्-पृथक् माना है। उनका कहना है कि कारिकायें भरतमुनि की हैं और वृत्तियाँ मम्मट की। इसके प्रमाण में वे कुछ ऐसी कारिकायें उद्धृत करते हैं जो नाट्यशास्त्र और 'काव्य-प्रकाश' में समान रूप से पाई जाती हैं। इस तर्क के विरोध में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी विद्वान् की वृत्ति में किसी पूर्ववर्ती विद्वान के दो-चार वाक्य आ जायँ तो इस आधार पर हम उसकी रचना को पूर्ववर्ती विद्वान की रचना नही मानेंगे। 'काव्य-प्रकाश' में १४४ कारिकायें हैं। इसमें से कई कारिकायें भामह के 'काव्यालकार' में मिलती है किन्तु इस आधार पर हम 'काव्य-प्रकाश' को भामह-रचित नही मान सकते और इसी प्रकार भरत-रचित भी नही मान सकते। 'काव्य-प्रकाश' की कारिका और वृत्ति के लेखको को पृथक्-पृथक् माननेवालो का दूसरा तर्क है कि मम्मट ने भरत सूत्र को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'तदुक्तभरतेन'। इस आधार पर भी हम कह सकते हैं कि कारिकायें यदि भरतमुनि के बाद लिखी हुई होती तो मम्मट को 'तदुक्त भरतेन' लिखने की आवश्यकता न पडती।

कुछ विद्वान 'काव्य-प्रकाश' की कारिका और वृत्ति को भिन्न-भिन्न दो विद्वानो द्वारा तो मानते हैं किन्तु वे भरत मुनि को कारिका लेखक नही मानते। 'काव्य-प्रकाश' की निदर्शना नामक टीका में लिखा है कि परिकरालकार तक तो मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' की रचना की है और शेष अल्लक ने लिखा है, किन्तु अल्लक का समय मम्मट से मेल नही खाता।

कुछ लोग 'काव्य-प्रकाश' को तीन व्यक्तियो की रचना मानते हैं। इन विद्वानो में स्टीन और पीटरसन विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका कहना है कि 'काव्य-प्रकाश' की रचना मम्मट, अल्लक तथा रुय्यक नामक आचार्यों ने मिलकर की थी। इसके विपरीत आजकल के अधिकाश विद्वान 'काव्य-प्रकाश' की कारिकाओ और वृत्तियो को केवल मम्मट की ही रचना मानते हैं। मेरी भी अपनी यही धारणा है कि 'काव्य-प्रकाश' के दोनो पक्षो का प्रणयन मम्मट ने ही किया था। इस मत के

पोषण में हम भाषा, शैली एव सिद्धान्त की एकता मान सकते है ।

समय—मम्मट की राजानक उपाधि से स्पष्ट है कि वे काश्मीरी थे। भीमसेनकृत सुधामृत टीका उल्लेख के आधार पर पीटरसन ने मम्मट को कय्यट का छोटा भाई, उव्वट का बडा भाई तथा जय्यट का पुत्र बताया है । मि० हॉव तथा वेवर ने मम्मट को श्री हर्ष का मामा कल्पित किया है । इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है । उस किंवदन्ती को यदि सत्य मान लिया जाय तो मम्मट का समय निश्चित करने में थोडी सरलता हो जायगी । श्री हर्ष जयचन्द्र के आश्रित थे। जयचन्द्र का समय बारहवी शताब्दी निश्चित किया गया है । हेमचन्द्र ने 'काव्यप्रकाश' के बहुत से उद्धरण दिये हैं। हेमचन्द्र का समय १०८० के आस-पास माना जाता है । मम्मट ने भोज का भी उल्लेख किया है । भोज का समय १०५५ के आस-पास माना जाता है । इन आधारो पर हम मम्मट को श्री हर्ष का समकालीन नही मान सकते । उनका समय हमें १०२५ से लेकर १०७५ तक निश्चित करना पडेगा ।

'काव्यप्रकाश' में १४२ कारिकायें हैं और वे १० उल्लासो में विभक्त हैं। इसमें ६०३ पद्य उदाहरण के रूप में दिये गये हैं । प्रथम उल्लास में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद आदि विषयो का प्रतिपादन किया है। मम्मट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य को तीन भागो में विभाजित किया है । इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल अलकारयुक्त काव्य को ही काव्य माना था। ध्वनिकार ने केवल ध्वनिकाव्य का ही विश्लेषण और विचार किया है। द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ का विश्लेषण करते हुए 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विता-भिधानवाद' का निरूपण किया गया है। फिर वाचक शब्दो के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अभिधा लक्षण आदि के भेदों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय उल्लास में अर्थ-व्यञ्जना का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ उल्लास में काव्य का निरूपण, ध्वनि-स्वरूप और ध्वनि-विभेदो का विवेचन मिलता है। ध्वनि के अन्तर्गत रस, रसाभास, भावाभास आदि विविध पदार्थों की विवेचना की गई है। पञ्चम उल्लास में ध्वनि का पूर्ण रूप से दृढता के साथ प्रतिपादन किया गया है। इसी में ध्वनि-विरोधी मतो का खण्डन भी मिलता है। छठे उल्लास में अधम काव्य के स्वरूप विवे-चना की गई है । सप्तम उल्लास में दोषो का निर्देश मिलता है। आठवें उल्लास में गुण और अलकारो का भेद स्पष्ट किया गया है। इसी में वामन के दश गुणो का अन्तर्भाव तीन गुणो में किया गया है। नवम उल्लास में शब्दालकारो का वर्णन मिलता है। दशम उल्लास सबसे बडा है। इसमें अर्थालकारो का विस्तार से विवेचन किया गया है। सक्षेप में 'काव्य-प्रकाश' का वर्ण्य-विषय यही हैं। मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में जहां अपने मतो का प्रतिपादन किया है वहाँ दूसरे मतो का खण्डन भी किया है। उनकी शैली बड़ी पाण्डित्यपूर्ण और प्रभावशालिनी है ।

रुय्यक (अलकार-सर्वस्व)—रुय्यक राजानक उपाधि से विभूषित थे । इससे

उनका काश्मीरी होना सिद्ध होता है। 'अलकार-सर्वस्व' के अतिरिक्त उन्होने 'व्यक्ति विशेष' और मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' पर टीकाएँ लिखी हैं। उन्होने अपने 'अलकार-सर्वस्व' में 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का उल्लेख किया है। डा० बुल्हर ने इसका रचना-काल १०८५ ई० निश्चित किया है। इससे स्पष्ट है कि रुय्यक १०८५ के बाद में ही हुए होंगे। इनकी धारणा है कि उनका उदय-काल १२वी शताब्दी था।

'अलकार-सर्वस्व' के लेखक के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं। (१) सूत्र और वृत्ति दोनों के लेखक और प्रतिपादक रुय्यक ही हैं। इस मत के प्रवर्तक 'अलकार-सर्वस्व' के टीकाकार श्री विद्यालकार, जयरथ, उप्पू स्वामी और पडितराज जगन्नाथ हैं। (२) त्रिवेन्द्रम सस्करण की हस्तलिखित प्रति के अनुसार निश्चित किया गया है कि रुय्यक सूत्रकार और मखक वृत्तिकार थे। (३) 'अलकार-सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने सूत्र और वृत्ति दोनों का रचयिता मखक को ही माना है। ये तीनो ही हमारी समझ में निराधार प्रतीत होते हैं। 'अलकार-सर्वस्व' के सूत्रकार और वृत्तिकार दोनो ही रुय्यक थे।

रुय्यक के समय के सम्बन्ध में भी थोडा मतभेद है। कुछ विद्वानो की धारणा है कि रुय्यक, मम्मट से पहले हुए थे। इसके प्रमाण में वामनाचार्य ने 'काव्य-प्रकाश' की प्रदीप टीका का सकेत किया है। इसी आधार पर कुछ लोगो ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मम्मट ने रुय्यक की अपने 'काव्य-प्रकाश' में आलोचना-व्यञ्जित की है। किन्तु यह मत भी निराधार ही प्रतीत होता है क्योकि मम्मट ने कही पर भी रुय्यक का उल्लेख नही किया है। इसके विपरीत रुय्यक में ऐसे बहुत से चिन्ह मिलते हैं जिनमे पता चलता है कि वे मम्मट और उनके 'काव्य-प्रकाश' से परिचित थे।

वाग्भट्ट प्रथम—इनका समय ११७८ ई० निश्चित किया जाता है। इनका लिखा हुआ 'वाग्भट्टालकार' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में ५ परिच्छेद हैं। इनमें काव्यशास्त्र के विषयो का निरूपण किया गया है।

हेमचन्द्र ('काव्यानुशासन')—जैकोबी ने इनका समय १०८२ के आस-पास निश्चित किया है। इनके अन्य नाम चाणदेव और सोमदेव भी बताये जाते हैं। काव्यानुशासन' सूत्रो में लिखा गया है। इन सूत्रों पर 'अलकार चूडामणि' नामक वृत्ति तथा 'विवेक' नामक टीका भी हेमचन्द्र ने लिखी थी। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। इसमें दूसरे ग्रन्थो के सिद्धान्तों का सकलन अधिक किया गया है, मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन कम।

जयदेव ('चन्द्रालोक')—इनका समय १२वी या १३वी शताब्दी निश्चित किया जाता है। इसमें १० मयूख हैं। अप्पय दीक्षित ने अपना 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ इसी के आधार पर लिखा है।

भानुदत्त ('रसतरङ्गिणी' और 'रसमञ्जरी')—इनका समय विद्वानो ने १३ तथा १४वी शताब्दी का मध्यकाल माना है। 'रसतरङ्गिणी' में रस का विवेचन किया गया है। 'रसमञ्जरी' में रस के अन्य सहायक तत्त्वो का निरूपण किया गया है।

विद्याधर ('एकावली')—इनका समय १४वी शताब्दी निश्चित किया जाता है। यह ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' तथा 'अलकार-सर्वस्व' के आधार पर लिखा गया है।

विद्याधर (प्रतापरुद्रीय यशोभूषण')—इनका समय १३वी शताब्दी का अन्तिम चरण और १४वी शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। ये आन्ध्र देश के राजा प्रतापरुद्रदेव के आश्रित कवि थे। इनके ग्रथ में ६ प्रकाश हैं। नायक-भेद, काव्य, नाटक, रस-दोप, गुण और अलकारो आदि का वर्णन किया गया है।

वाग्भट्ट द्वितीय ('काव्यानुशासन')—यह सूत्रवद्ध ग्रन्थ है, इसमें ५ अध्याय हैं। नायक और नायिकाओ के भेदो का वर्णन किया गया है।

विश्वनाथ ('साहित्य-दर्पण')—महाकवि विश्वनाथ चन्द्रशेखर के पुत्र और श्रीनारायण के पौत्र थे। इन्होने अपनी रचना में कही पर भी समय का निर्देश नही किया है। 'साहित्य-दर्पण' में रुय्यक का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उन्होने रुय्यक (१२वी शती) के द्वारा नवाविष्कृत विकल्प नामक अलकार को माना है। 'साहित्य-दर्पण' में विश्वनाथ ने 'धन्यासि वैदर्भि' वाला श्लोक नैपध से उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने जयदेव के 'प्रसन्नराघव' नामक नाटक के एक श्लोक का उद्धरण भी दिया है। 'दर्पण' में एक स्थल पर अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख भी मिलता है। इसका समय १३१६ ई० माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये चौदहवी शताब्दी के अन्तिम चरण में या पन्द्रहवी शताब्दी के प्रथम चरण में हुए होगे। 'साहित्य-दर्पण' की विशेपता यह है कि उसमें दृश्य और श्रव्य दोनो प्रकार के काव्यो का साङ्ग विवेचन मिलता है। उनमें १० परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-फल, काव्य-स्वरूप दोप गुणादि का विवेचन किया गया है ये पहले आचार्य हैं जिन्होने ध्वनिकार और मम्मट दोनो के काव्य-स्वरूप का खण्डन किया है। द्वितीय परिच्छेद में लक्षण, व्यञ्जना, तात्पर्य आदि वृत्तियो का विवेचन किया गया है। तृतीय में रस के विविध अगो पर विस्तार से निरूपण मिलता है। चतुर्थ में ध्वनि के भेदो का उल्लेख है। पचम में व्यजन का निरूपण किया गया है। षष्ठ में दृश्य काव्य पर विचार किया गया है। सातवें में काव्य-दोपो का वर्णन मिलता है। आठवें में गुणो पर प्रकाश डाला गया है। नवम परिच्छेद रीति-विवेचन से सम्बन्धित है। दशम में अलकारो का वर्णन किया गया है।

रूपगोस्वामी ('उज्ज्वल नीलमणि')—रूपगोस्वामी चैतन्य के समकालीन माने जाते हैं। अत इनका समय १५वी शताब्दी निश्चित किया गया है। 'उज्ज्वल-नीलमणि' रस विषय का ग्रन्थ है जिसमें शृगार वर्णन किया गया है। इसमें विश्वनाथ की आलोचना की गई है।

अप्पय दीक्षित ('कुवलयानन्द')—इन्होने १०० से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र पर भी कम से कम तीन ग्रन्थ हैं। 'वृत्तवार्तिक' में अभिधा व लक्षणा की विवेचना की गई है। 'कुवलयानन्द' अलकार पर एक प्रारम्भिक पुस्तिका है। इसमें 'चन्द्रालोक' की परिभाषाओ का अनुसरण किया गया है। 'चित्र-मीमासा' में काव्य के तीन भेद तथा अलकारो का वर्णन है। इनका समय १५५४ तथा १६२६ ई० के बीच में है।

पडितराज जगन्नाथ ('रसगगाधर')—इनका प्रमुख ग्रन्थ 'रसगङ्गाधर' है।

शास्त्रीय सस्कृत पर इनका प्रगाढ अधिकार था। इस ग्रन्थ पर नागेशभट्ट की 'मर्म प्रकाश' टीका है। इनका गद्य सशक्त तथा सरल है। विचार-स्वातन्त्र्य के क्षेत्र में ये प्रमुख थे। इन्होने मम्मट, ध्वनिकार आदि सभी की आलोचना की है। ये प्रसिद्ध कवि भी थे। इन्हें अपनी कवित्व शक्ति का बडा अभिमान था। इनकी काव्य-परिभाषा 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्' है। शाहजहाँ द्वारा इन्हें पण्डितराज की उपाधि दी गई थी। इनका समय १६२० मे १६६० ई० निश्चित किया गया है।

हिन्दी साहित्यशास्त्र का इतिहास

रूपरेखा—हिन्दी साहित्यशास्त्र के इतिहास पर एक सुन्दर थीसिस उपलब्ध है। इसके रचयिता सुयोग्य विद्वान् डा० भगीरथ मिश्र है। आपने हिन्दी काव्यशास्त्र की रूपरेखा चार शीर्षकों के आधार पर निश्चित की है—

१ अलकार ग्रन्थ—वे ग्रन्थ जो केवल अलकार पर लिखे गए हैं।
२ रसग्रन्थ—वे ग्रन्थ जिनमें केवल रसो का वर्णन है।
३ शृगार एव नायिका-भेद ग्रन्थ।
४ काव्यशास्त्र के ग्रन्थ।

अलकार-ग्रन्थ—हिन्दी के प्रमुख अलकार ग्रन्थ निम्नलिखित है—

लेखक	ग्रन्थ	रचना-काल
१. करनेस	कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूप भूषण	स. १६३७ के लगभग
२ जसवन्तसिंह	भाषा-भूषण	स १६६५ ,, ,,
३ मतिराम	ललितललाम	स १७१६ और १७४५ के बीच
४ भूषण	शिवराज भूषण	स १७३० के लगभग
५ सूरतिमिश्र	अलकारमाला	स १७६६ वि
६ गोप	रामचन्द्राभरण, रामचन्द्रभूषण	स १७७३ वि.
७ गोविन्दकवि	कर्णाभरण	स. १७९६ वि
८ दूलह	कविकुल कठाभरण	स १८०० वि के लगभग
९. गुमान मिश्र	अलकार-दर्पण	स १८१८ वि
१० ऋषिनाथ	अलकारमणिमञ्जरी	स १८३१ वि
११ पद्माकर	पद्माभरण	स १८६७ वि के लगभग
१२ प्रतापसिंह	अलकार चिंतामणि	स १८९४ वि.
१३ कन्हैयालाल पोद्दार	अलकार प्रकाश	स. १९५३ वि
१४. ,, ,,	अलकार मञ्जरी	स १९९३ वि.
१५ भगवानदीन	अलकार मजूषा	स १९७३ वि
१६ जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'	अलकार-दर्पण	स १९९३ वि.
१७ रामशकर शुक्ल 'रसाल'	अलकार पीयूष	स १९८६ वि
१८ अर्जुनदास केडिया	भारतीभूषण	स. १९८७ वि.

उपर्युक्त अलकारशास्त्रियो के अतिरिक्त गोपा, छेमराज, गोपालराय, बलवीर,

श्रीपति, रसिक सुमति भूपति (गुरुभक्तसिंह), वशीधर, रघुनाथ शम्भुनाथ मिश्र, वैरीसाल, नाथ (हरिनाथ), रतनेश या रतन कवि, दत्त, महाराज रामसिंह, सेवादास, चदन, भानकवि, ब्रह्मदत्त, सग्रामसिंह, वलवनसिंह, चतुर्भुज, लेखराज, ग्वाल, शालिग्राम शाकद्वीपी के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

रसग्रन्थ—हिन्दी के निम्नलिखित ग्रन्थो में रस पर विचार किया गया है।

लेखक	ग्रन्थ	रचना-काल
१. केशवदास	रसिकप्रिया	स १५४८ वि
२ मडन	रसरत्नावली और रस विलास	स. १८वी शताब्दी का प्रारम्भ
३ कुलपति	रस रहस्य	स १७२४ वि
४ सुखदेव मिश्र	रसार्णव	प्र. स १७३० वि.
५ सूरतिमिश्र	रसरत्नाकर, रसरत्न माला	स १७३३ वि
	रसग्राहक चन्द्रिका	स. १७६० वि के लगभग
६. भिखारीदास	रस साराश	स १७९९ वि (शुक्ल)
७ रसलीन	रस प्रवोध	स १७९८ वि
८ पद्माकर	जगतविनोद	स १८६७ वि
९ वेनी 'प्रवीन'	नवरसतरग	स. १८७८ वि
१० करन कवि	रसकल्लोल	स १८८५ वि
११ ग्वाल	रसरग	स १९०४ वि
१२ हरिऔध	रसकलश	स १९८८ वि
१३ कन्हैयालाल पोद्दार	रसमजरी	स १९९१ वि

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य रस-ग्रन्थ लेखको के नाम निम्नलिखित हैं—

व्रजपतिभट्ट, तोष, तुलसीदास, गोपालराम, श्रीनिवास, लोकनाथ चौवे, देव, वेनी प्रसाद, श्रीपति, याकूव खा, वीर, गुरुदत्तसिंह, रघुनाथ, उदयनाथ, शम्भुनाथ मिश्र, समनेस, दौलतराम, रामसिंह, सेवादास, वेनी वन्दीजन, नन्दराम, लेखराज, महाराजा प्रतापनारायण बलदेव (द्विजगग)।

शृगार एव नायिका भेद के ग्रन्थ—हिन्दी में इस विषय के ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

लेखक	ग्रन्थ	रचना-काल
१ कृपाराम	हिततरगिणी	स १५९८ वि (मि व)
२ सूरदास	साहित्य-लहरी	स. १६०७ वि
३ नन्ददास	रसमञ्जरी	स १७वी शताब्दी का प्रारम्भ
४ मोहनलाल	शृगार सागर	स १६१६ वि
५ सुन्दर कवि	सुन्दर शृगार	स. १६८८ वि (मि व)
६ चिन्तामणि	शृगारमञ्जरी	स १८वी शताब्दी का प्रारम्भ
७ मतिराम	रसराज और साहित्यसार	स. १७०० वि. के लगभग
८ देव	सुखसागर तरग	स १८वी शताब्दी का मध्य

९. देव	जातिविलास	स १८वीं शताब्दी का मध्य
१० कालिदास	वधू विनोद	स. १७४६ वि
११ केशवराय	नायिकाभेद	स. १७५४ वि.
१२ भिखारीदास	शृंगार निर्णय	स १००७ वि
१३ देवकीनन्दन	शृंगार चरित	स १८४१ वि
१४ लालकवि	विष्णुविलास	स १८वी शताब्दी का मध्य

अन्य रसग्रन्थ लेखक निम्नलिखित हैं—

शम्भुनाथ सुलकी, सुखदेव मिश्र, कृष्ण भट्टदेव ऋषि, कुन्दन, वलवीर, खडगराम, आजम, शोभाकवि, रग खाँ तथा हित कृष्ण, भोगीलाल दुबे, यशवन्त सिंह द्वितीय, माखनलाल पाठक, यशोदानन्दन, दयानाथ दुबे, जगदीशलाल

काव्यशास्त्र के ग्रन्थ—

लेखक	ग्रन्थ	रचना-काल
१ केशवदास	कविप्रिया	स १६५८ वि
२ चिन्तामणि	कविकुल कल्पतरु	स. १७०७ वि
	काव्य प्रकाश	स १७०७ वि. के लगभग
३ कुलपति	रस रहस्य	स १७२७ वि.
४ देव	भावविलास और	स १७४६ वि
	काव्यरसायन या शव्दरसायन	स १७६० वि. के लगभग
५ सूरतिमिश्र	काव्य सिद्धान्त	स १८वी शताब्दी का अन्तिम चरण
६ गजन	कमरुद्दीन हुलास	स १७८६ वि
७ भिखारीदास	काव्य-निर्णय	स १८०३ वि.
८. रूपसाहि	रूपविलास	स १८१३ वि
९ ग्वाल	साहित्य-दर्पण तथा	स १९०० वि
	साहित्यदूपण	स. १९०० वि के लगभग
१० लछिराम	कमलानन्द कल्पतरु तथा	स १९४७ वि.
	रावणेश्वर कल्पतरु	स १९४७ वि
११ मुरारिदान	जसवन्त जसो भूपण	स १९५० वि
१२. कन्हैयालाल पोद्दार	रसमञ्जरी	स. १९९१ वि.
१३ मिश्रवन्धु	साहित्य पारिजात	स. १९९७ वि.
१४ रामदहिन मिश्र	काव्य-लोक, काव्यदर्पण	स २००१ वि तथा २००४ वि

काव्यशास्त्र के कुछ अन्य लेखक भी हैं—

कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, रतनकवि, जनराज, थानकवि, गुरुदीन पाडे करन, प्रतापसिंह, भवानीप्रसाद पाठक, रणधीर सिंह, रामदास, सालिग्राम शाकद्वीपी [illegible] यण, जगन्नाथप्रसाद 'भानु', सीताराम शास्त्री, विहारीलाल भट्ट ।

विकास क्रम

प्राकृत और अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी के शास्त्रीय ग्रंथ —

१ सिद्धशातिपा रचित (स १००० ई) छद रत्नाकर।

२ हेमचन्द्र सूरी (स १०८८ ई) प्राकृत व्याकरण छन्दोनुशासन तथा देशी प्राकृतमाला छन्दोकोष।

३ नैनद रचित सुदर्शन चरित्र—इसमें नायिकाभेद की झलक दिखाई पडती है।

आलोचना—इन ग्रथो में वास्तव में हमें काव्यशास्त्र का सच्चा स्वरूप तो नहीं दिखाई पडता किन्तु फिर भी इन्हे हम काव्यशास्त्र के वृहत वृक्ष का बीजारोपण अवश्य कह सकते हैं। इन ग्रंथो के रचयिता अधिकतर जैनाचार्य थे। इनका दृष्टिकोण धार्मिक था अतएव इन ग्रन्थो को हम शुद्ध साहित्यिक ग्रन्थ भी नही कह सकते।

हिन्दी के शास्त्रीय ग्रन्थो का विकास

केशव के पूर्व के आचार्य—डा० भगीरथ मिश्र ने अपने काव्यशास्त्र के इतिहास में कृपाराम को साहित्यशास्त्र का सर्वप्रथम आचार्य माना है। इन्होंने हित-तरगिणी नामक पुस्तक लिखी थी—इसमें रसरीति का अच्छा विवेचन किया गया है। इसका रचना-काल सम्वत् १५९८ विक्रमी है।

इसके वाद गोपा कवि का रामभूषण और अलकार चद्रिका नामक ग्रथ आते हैं। यह दोनो ही अलकार ग्रथ हैं। फिर नन्ददासलिखित 'रसमजरी' आती है। इसमें नायिका-भेद, हाव-भाव हेत्वादि का वर्णन है। इनके वाद करनेस कवि आते हैं। इन्होंने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण नामक अलकार ग्रथ लिखे थे।

केशव—हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्यों में केशव का नाम स्वर्णाक्षरो में लिखने योग्य है। किन्ही दृष्टियो से वे हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जा सकते हैं। केशव अलकारवादी थे। उन्होने भामह, दण्डी, उद्भट आदि के ग्रथो का ही पिष्टपेषण करने की चेष्टा की है। कविप्रिया और रसिकप्रिया इनके प्रसिद्ध शास्त्रीय ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। केशव के वाद आने वाले आचार्यो ने केशव की अलकारवादिता का अनुसरण नही किया। कहते हैं श्रीपत आदि कुछ लोग उसी समय उनके शास्त्रीय विवेचन में दोष निकालने की चेष्टा करने लगे थे। केशव ने काव्य में चमत्कारमय शब्दों को विशेष महत्त्व दिया है। कविप्रिया की निम्नलिखित दोहे से यह वात प्रगट है—

"चरण धरत चिंता करत नींद न भावत शोर।
सुवरण को शोधत फिरत कवि कामी औ' चोर॥"

कविप्रिया की रचना केशव ने इस दृष्टि से नही की थी कि विद्वान् उसमें शास्त्रीय विवेचन का आनन्द प्राप्त कर सकें। यह वात उन्होने स्वीकार भी की है—

"समुझें वाल वालकहू वर्णन पथ अगाध।
कविप्रिया केशव करि छमिगो कवि अपराध॥"

केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया में काव्यशास्त्र के निम्नलिखित विषयो

का विवेचन किया गया है —

१ भाषा का कार्य और कवि की योग्यता

२ कविता का स्वरूप और उसका उद्देश्य

३. कविता के प्रकार

४. काव्य-रचना के ढंग

५ वर्णन के प्रकार

६. कविता के विषय

७. काव्य-दोष

८ अलकार और रस

जहाँ तक काव्य-दोषो का सम्बन्ध

हैं। उन्होने अट्ठारह दोषो के नाम दिए हैं ।

हैं कि उनकी कल्पना की उपज थे। केशव का

उनका विश्वास था कि—

"यद्यपि जाति सुलक्षनी ...

भूषण विनु न विराजहीं कविता वनिता मित्त ॥"

केशव के वाद के आचार्य—केशव के वाद में होने वाले आचार्यों का हम तिथि-क्रम से इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं—

१. सुन्दर कवि—इन्होंने सुन्दर शृ गार नामक ग्रथ लिखा था।

२. चिन्तामणि त्रिपाठी—यह केशव के वाद सवसे वड़े और सवसे पहले आचार्य कहे जा सकते हैं। इनका रचना-काल १७०० विक्रमी के लगभग माना जाता है। यह नागपुर के राजा मकरन्दशाह के दरवार में रहते थे। उन्ही की आज्ञा से इन्होने काव्यशास्त्र के ग्रथ लिखे थे। इनके प्रसिद्ध ग्रथ काव्य-विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य-प्रकाश, पिंगल, रामायण और रसमजरी हैं। किन्तु अब इनके केवल तीन ग्रथ उपलब्ध हैं—कविकुल कल्पतरु, शृ गार-मजरी और पिंगल। इन्होंने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"सगुण अलकार सहित दोषरहित जो होय।
शब्द अर्थ वारौ कवित विवुध कहत सव कोय ॥"

इस परिभाषा पर मम्मट की काव्य-परिभाषा की छाया प्रतीत होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे मम्मट के रसवाद और ध्वनिवाद के अनुयायी थे।

३. जसवन्तसिंह का भाषा-भूषण—यह ग्रथ वहुत प्रसिद्ध है। अलकारों का अच्छा विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ पर जयदेव के चन्द्रालोक का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

४ मतिराम—मतिराम श्रेष्ठ कवि होते हुए भी सुविज्ञ आचार्य भी थे। इनके साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ रसरास, ललितललाम, साहित्यसार और लक्षण शृगार है।

५ भूषण—इन्होंने शिवराज भूषण नामक एक अलकार ग्रन्थ लिखा है किन्तु

आचार्यत्त्व की दृष्टि से इसमें कोई विशेपता नही मिलती। 'भूपण उल्लास' और 'दूपण उल्लास' नामक दो अन्य लक्षण ग्रन्थ है जो प्राप्त नही हैं।

६. आचार्य कुलपति मिश्र—इन्होने काव्यशास्त्र का गम्भीर विवेचन किया है। 'रस रहस्य' और 'गुण-रस रहस्य' इस विपय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन्होने सस्कृत आचार्यो के मत का विवेचन करते हुए अपना मन निर्धारित किया है।

७ सुखदेव मिश्र—इनके छ ग्रन्थ हैं—'वृत्तविचार', 'छन्द विचार', 'रसार्णव', 'शृगार लता', 'पिंगल', 'फजिलअली प्रकाश'। इनका छन्द विवेचन प्रसिद्ध है। इनके समय में रामजी का 'नायिका-भेद', गोपालराय का 'रससागर', 'भूपण विलास', बलिराम का 'रसविवेक' आदि कुछ अन्य साधारण कोटि के ग्रन्थ लिखे गये।

८ आचार्य कविदेव—इन्होने काव्यशास्त्र के सभी अगो का विवेचन किया है। मुख्य-रूप से रस और नायिका-भेद का वर्णन मिलता है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ, भाव विलास, भवानी विलास, सुजान विनोद, कुशल विलास, रस विलास, काव्य रसायन, सुखसागर तरग आदि हैं। देव के अनुसार रस ही काव्यसार है—

"काव्यसार शब्दार्थ को, रसतिहि काव्यैसार।
सो रस बरसत भावबस, अलकार अधिकार॥"

देव ने प्रचलित नायिकाओ के अतिरिक्त अनेक नायिकाओ का वर्णन किया है वे कहते हैं—

"कोटि कोटि विधिकासनी तिनके कोटिन भेद
तिन पै माया मानुषी वरनत हैं कवि देव।"

९ कालिदास त्रिवेदी का वधू-विनोद—यह नायिका-भेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

१० सूरति मिश्र—इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ, अलकारमाला, रस रत्नमाला, रस-ग्राहक चन्द्रिका, काव्यसिद्धान्त, रसरत्नाकर, सरस रस आदि हैं।

११ कृष्णभट्ट की शृगार-माधुरी (१७६९)—यह रस और नायिका-भेद पर लिखी गई है।

१२ गोप कवि—इनमें ग्रन्थ रामालकार, रामचन्द्र भूषण और रामचन्द्रा-भरण हैं।

१३ याकूबखा का 'रसभूषण'—इसमें अलकार और नायिका-भेद में लक्षण उदाहरण के सहित हैं।

१४ कुमारमणिभट्ट—इनका 'रसिक रसाल' 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा हुआ एक अच्छा ग्रन्थ है।

१५. आचार्य श्रीपति—यह काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यो में हैं। 'कविकुलकल्प-द्रुम, रससागर, अनुप्रास-विनोद, विक्रमविलास-सरोज-कलिका, अलकार गगा तथा काव्य-सरोज इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन्होने काव्य-दोषो का अच्छी प्रकार विवेचन किया है।

१६ रसिक सुमति का अलकार चन्द्रोदय—यह 'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखा है। इसकी अलकार की परिभाषा कुछ भिन्न है—

"सबद अरथ की चित्रता विविध भाँति की होई ।
अलकार तासों कहत रसिक विबुधकवि लोई ॥"

१७. सोमनाथ का रसपीयूषनिधि—यह रीति का विस्तृत और पूर्ण ग्रन्थ है । इनमें मम्मट के 'सगुणावनलकृती पुन क्वापि' के विरुद्ध कविता को अलकार-युक्त माना है ।

१८ गोविन्द का कर्णाभरण—इसमें दोहा छन्दो में अलकारो के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं ।

१९ रसलीन—'रस प्रबोध' में नव-रसो का वर्णन किया है । रस की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"जब विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारी मिलि आनि ।
परिपूरन व्यापी जहां उपजै सो रस जानि ॥"

नायक-नायिका-भेद भी इसमें मिलता है किन्तु विवेचन शास्त्रीय ढग का नही है ।

इसी समय रघुनाथ बदीजन ने भी 'काव्यकलाधर' और 'रसिक मोहन' नामक काव्यशास्त्र के ग्रन्थ लिखे थे ।

२०. उदयनाथ कवीन्द्र का रस-चन्द्रोदय—इसमें प्राचीन परिपाटी के नायिका-भेद का वर्णन मिलता है ।

२१ आचार्य भिखारीदास—कवि होने के साथ-साथ यह काव्यशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे । 'काव्य-निर्णय' नामक ग्रन्थ में उसके सभी अगों का विवेचन किया गया है । यह सस्कृत ग्रन्थो के आधार पर लिखा जान पडता है । 'शृगार निर्णय' और 'रस साराश' इनके अन्य नायिका-भेद और रस सम्बन्धी ग्रन्थ हैं ।

२२ दूलह कवि—इनका 'कविकुल कठाभरण अलकार पर लिखा हुआ सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ है ।

इसी समय में शम्भुनाथ मिश्र की 'रसकल्लोल', 'रस-तरगिणी', 'अलकार दीपक' पुस्तकें भी रची गईं । रामकृष्ण का 'नायिका-भेद' साधारण कोटि की रचना है ।

२३. रूपसाहि का रूपविलास—इसमें काव्यशास्त्र के सभी अंगो का सक्षिप्त वर्णन है ।

२४ बैरीसाल—इनका 'भाषा भूषण' अलकार सुन्दर ग्रन्थ है । इसके उदाहरण रोचक और स्मरणीय हैं ।

२५. समनेस का रसिकविलास—इस ग्रन्थ में नायिका-भेद, दूतीकर्म, भाव-अनुभाव आदि का रोचक वर्णन है ।

२६. रतन कवि—इनके 'फतेह भूषण' और 'अलकार-दर्पण' दो ग्रन्थ हैं । प्रथम में शब्द-शक्ति, काव्य-भेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है ।

२७ ऋषिनाथ—'अलकार मणिमञ्जरी' नामक अलकार पद की साधारण पुस्तक है ।

२८ जनराजकृत कविता रस विनोद—इसमें काव्यशास्त्र के अनेक अगो पर प्रकाश डाला गया है ।

२९ उजियारे कवि—इन्होने 'जुगुल रस-प्रकाश' तथा 'रस-चन्द्रिका' नामक रस पर दो ग्रन्थ लिखे हैं।

३० यशवन्तसिंह का शृंगार-शिरोमणि—यह रस भाव, विभाव, सात्विक आदि पर लिखा हुआ साधारण कोटि का ग्रन्थ है।

३१ जगतसिंह का 'साहित्य सुधानिधि'—यह सस्कृत के प्रसिद्ध शास्त्रीय ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है।

३२ महाराजा रामसिंह—इनके 'अलकार-दर्पण', 'रसनिवास', 'रसविनोद' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनमें रस-विवेचन, नायिका-भेद और अलकार-वर्णन मिलता है।

मान कवि का 'नरेन्द्र भूषण', 'दलेल प्रकाश' वेनी वन्दीजन का 'टिकैतराय प्रकाश' और 'रसविलास' साधारण कोटि के समकालीन ग्रन्थ हैं।

३३ पद्माकर—यह रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि और काव्य-विवेचक दोनो ही हैं। इनका 'जगद्विनोद' नायिका-नायक भेद, हाव-भाव और शृगार आदि रसो पर और 'पद्माभरण' अलकार पर लिखा गया है। जगद्विनोद शृगार रस का सार ग्रन्थ कहा जा सकता है।

इसी समय में यशोदानन्दन का 'वरवै नायिका भेद' ब्रह्मदत्त का विद्वदविलास और दीपप्रकाश, करन कवि का 'साहित्य रस' और 'रसकल्लोल' और गुरुदीन का 'वाक् मनोहर' आदि काव्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थ रचे गये।

३४ शिवप्रसाद का रसभूषण—इसमें शृगार रस का सक्षिप्त वर्णन है। रस के बीच-बीच में अलकारों का भी वर्णन है।

३५ बेनी प्रवीन—इनके 'नवरसतरग', 'शृगार भूषण' और 'नानाभावप्रकाश' काव्यशास्त्र के विशद ग्रन्थ हैं।

३६. रणधीरसिंह—इनके 'काव्यरत्नाकर', भूषण-कौमुदी', 'पिगल', 'नामार्णव' तथा 'रसरत्नाकर' नामक ग्रन्थ हैं। चन्द्रालोक और काव्यप्रकाश के आधार पर काव्य-शास्त्र के अनेक अगो को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

३७ नारायणकृत नाट्यदीपिका—यह नाट्यशास्त्र पर लिखी गई है। नाटक के विकास का पौराणिक इतिहास दिया गया है तथा रस, अभिनय और गायन तीनो का विवरण है।

३८ रसिक गोविन्द—इनका 'रसिक गोविन्दानन्दघन' नामक काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें गुणदोष, रस अलकार तथा नायक-नायिका-भेद का विशद वर्णन है।

३९ प्रतापसाहि—इन्होने 'काव्यविनोद' शृंगार-मञ्जरी, अलकार चिन्तामणि, काव्यविलास, व्यग्यार्थ कौमुदी आदि काव्यशास्त्र के ग्रन्थ लिखे हैं। व्यग्यार्थ कौमुदी में काव्य की आत्मा ध्वनि है इस विषय का स्पष्ट विवेचन है। यह काव्यत्व और आचार्यत्व दोनो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक काल के रीति परिपाटी के ग्रथ

आधुनिक काल के प्रारम्भ में काव्यशास्त्र के ग्रन्थो पर रीतिकाल का ही पूर्ण प्रभाव दिखाई पडता है। इसमें विशेपता केवल इस बात की है कि इनमें पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग किया गया है।

१. रामदास—इस काल का सबसे पहला ग्रन्थ रामदास का 'कविकल्पद्रुम' आता है। इसमें ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का विवेचन है।

२. ग्वाल कवि—इनके रसिकानन्द, रमरग, दूपणदर्पण, अलकार, 'भ्रम-भञ्जन' और 'कविदर्पण' ग्रन्थ प्रमुख हैं। प्रथम तीन क्रमश. अलकार रस और काव्य-दोप पर लिखे गए हैं। इनका विवेचन देव कवि के समान है।

३. लछिराम—काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं पर रावणेश्वर कल्पतरु और महेश्वर विलास अधिक प्रसिद्ध हैं। यह भी देव के ग्रन्थो के आधार पर लिखे गए हैं। लछिराम रीतिकाल की परम्परा के अन्तिम लेखक हैं। आधुनिकता के दर्शन कविराजा मुरारीदान से मिलते हैं।

४ कविराजा मुरारीदान-कृत 'जसवन्त-भूपण'—इसमें काव्यशास्त्र सम्बन्धी बातो का सक्षिप्त वर्णन है। इनकी विशेपता है कि इसमे अलकारो के नाम ही लक्षण रूप में दिए हैं किन्तु इसमें कोई विशेप चमत्कार नही है।

५ महाराज प्रतापनारायणसिंह का 'रस कुसुमाकर'—इसमें रस, विशेपकर शृगार रस, के अग-प्रत्यग का रोचक और विस्तृत विवेचन किया गया है। पुस्तक वैज्ञानिक और कवित्वपूर्ण है।

६. कन्हैयालाल पोद्दार—इनके 'काव्यकल्पद्रुम' के दो भाग 'रस मञ्जरी' और 'अलकार मञ्जरी' के नाम से प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में काव्य के अग, ध्वनि, रस, गुण, दोप आदि तथा दूसरे भाग में अलकार का इतिहास और विवेचन दिया गया है। यह दोनो ग्रन्थ आधुनिक काव्यशास्त्र के उत्तम गन्थ हैं।

७. जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'काव्य-प्रभाकर'—इसमें काव्यशास्त्र का विस्तृत विवरण है। वैज्ञानिक ढग का स्पष्ट विवेचन होने के कारण यह शास्त्रज्ञान के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी काव्यालकार, अलकार प्रश्नोत्तरी, नायिका-भेद शकावली, रसरत्नाकर, छद प्रभाकर आदि भी 'भानु' जी के अन्य प्रयास हैं।

८. भगवानदीन 'दीन' कृत 'अलकार-मजूपा'—इसमें अलकारो के लक्षण दोहे में दिए गए हैं। स्मरण अलकार की यह परिभापा देखिए—

"कछु लखि कछु सुनि, सोचि कछु सुधि आवै कछु खास।
सुमिरन ताको भाखिए, बुधवर सहित हुलास॥"

इसमें फारसी और अग्रेजी अलकारो के सदृश नाम भी दिए हैं।

९ डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' का 'अलंकार-पीयूष'—इस ग्रन्थ में अनेक नवीन बातें है जो अन्य ग्रन्थो में नही मिलती। यह डा० 'रसाल' की थीसिस 'हिन्दी अलंकार शास्त्र का विकास' का परिवर्द्धित भाग है।

१०. सीताराम शास्त्री का 'साहित्य-सिद्धान्त'—हिन्दी माध्यम से सम्कृत काव्य-

शास्त्र के विद्यार्थी के लिए उपयोगी पुस्तक है। इसकी शब्दावली और विवेचन ‌
गूढ हैं।

११ अर्जुनदास केडिया का 'भारती-भूपण'—यह अलकार का अच्छा ग्रन्थ
विवेचन, परिभाषा, उदाहरण सभी स्पष्ट है। अलकार लक्षण गद्य में ही दिए हैं।

१२ हरिऔध का 'रसकलस'—आधुनिक रसग्रन्थो में इसका महत्त्वपूर्ण स्
है। इसमें विषय सम्बन्धी अनेक नवीनताएँ हैं पर कोई नवीन रस सिद्धान्त नही मिलत

१३ बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्य-सागर'—इसमें काव्यशास्त्र के अनेक अ
का वर्णन अपनी विशेषता लिए हुए किया गया है। इसमें सर्वप्रथम साहित्य और क
शब्द की व्याख्या की गई है।

१४ मिश्रबन्धु का 'साहित्य-पारिजात'—इसमें काव्यशास्त्र के सभी अगो
विवेचन नही है। साहित्य की परिभाषा काव्य के भेद और अलकार का ही वर्णन ‌

आधुनिक ढग के काव्यशास्त्रीय ग्रथ

डा० श्यामसुंदरदास का 'साहित्यालोचन'—हिन्दी में इससे अधिक सुबोध, स
और विवेचनापूर्ण कोई भी शास्त्र ग्रंथ नही है। इसके विद्वान् लेखक ने साहित्य, क
काव्य, कविता तथा विविध गद्य विधाओ का विवेचन आचार्यत्व के साथ किया ‌
इस ग्रथ का महत्त्व इतने से ही समझा जा सकता है कि ज्ञान की नित नई अभिवृ
होने पर भी वह पुराना नही पडा है। साहित्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के ‌
आज भी इसका अध्ययन करना परमापेक्षित समझा जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के शास्त्र पक्ष
कोई स्वतत्र ग्रथ नही लिखा है। उन्होंने अपनी आलोचनाओ और निबधो के बीच-ब
में साहित्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषयो के सबध में अपने मौलिक विचार प्रकट किए ‌
यदि उन सबको व्यवस्थित रूप में सग्रहीत किया जाए तो एक बडा ही महत्त्व
साहित्यशास्त्र का ग्रथ तैयार हो सकता है।

बाबू गुलाबराय लिखित 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप'—ब
साहब ने दोनो ग्रंथो का प्रणयन कर अपने साहित्यशास्त्री होने का अच्छा परिचय दि
है। अभी तक लिखे गए हिंदी के शास्त्रीय ग्रथो में इन दोनो ग्रथो का स्थान ब
ऊँचा है। इसमें पाश्चात्य और प्राच्य दोनो ही साहित्यशास्त्रो के प्रकाश में हि
समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तो का निर्धारण किया गया है। बहुत सी दृष्टियो से यह दो
ग्रथ बेजोड कहे जा सकते हैं।

प० रामदहिन मिश्र लिखित 'काव्य-दर्पण'—काव्यशास्त्र के पाडित्यपूर्ण ग्रंथो
इसका स्थान सम्माननीय है। इसमें शब्द-शक्तियो और अलकारो आदि का अच
विवेचन किया है। लेखक ने कहीं-कही पर पाश्चात्य और प्राच्य काव्यशास्त्रीय सिद्ध
का तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है जिससे ग्रथ की उपयोगिता बढ़ गई है
जो भी हो यह अपने ढग का एक सुन्दर ग्रंथ है।

लक्ष्मीनारायण 'सुधाशु' लिखित 'जीवन के तत्त्व' और 'काव्य के सिद्धांत'—यह

ग्रन्थ लेखक की प्रतिभा का परिचायक है। इस ग्रन्थ में 'काव्य या साहित्य के मूल सिद्धान्तो का सम्बन्ध मानव-जीवन के उन शाश्वत तत्त्वो के साथ बताया गया है जिनका परिचय हमें थोडा-बहुत रहता ही है। किन्तु उनकी विशेषता का वर्णन हम साधारणतया नही कर पाते हैं।' विवेचना शैली, सूझ-बूझ, गूढ-चिंतन इन सभी दृष्टियो से यह ग्रन्थ अनुपम है।

बलदेव उपाध्याय लिखित 'भारतीय साहित्यशास्त्र'—सस्कृत के मान्य पडित द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में सस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का विवेचन बडे पाडित्य के साथ किया गया है। सस्कृत काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायो आदि का इस ग्रन्थ में अच्छा विवेचन किया गया है। भारतीय समीक्षाशास्त्र के सिद्धान्तो का जितना सुन्दर निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है उतना हिन्दी के किसी और अन्य ग्रन्थ में नही मिलता। अनेक दृष्टियो से यह ग्रन्थ बेजोड है।

सीताराम चतुर्वेदी लिखित 'समीक्षाशास्त्र'—ससार के विविध साहित्यशास्त्रो के सिद्धान्तो की यदि झाँकी देखनी हो तो यह ग्रन्थ पढना चाहिए। ग्रन्थ से लेखक के पाडित्य का अच्छा परिचय मिलता है। यह ग्रन्थ भी अपने ढग का एक ही है।

कुछ अन्य ग्रन्थ—उपर्युक्त ग्रथो के अतिरिक्त हिन्दी समीक्षा-शास्त्र के कुछ छोटे-छोटे ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। इनमें शिवनन्दनसहाय लिखित 'काव्यालोचन के सिद्धान्त', डा० सूर्यकात-लिखित 'साहित्य-मीमासा', रामनारायण यादवेन्द्र-प्रणीत 'साहित्य-लोचन के सिद्धान्त', तथा डा० सोमनाथ गुप्त प्रणीत 'आलोचना और उसके सिद्धान्त' तथा क्षेमचन्द्र 'सुमन' लिखित 'साहित्य-विवेचन' नामक ग्रन्थ विशेष दृष्टव्य हैं। ये सभी ग्रन्थ छात्रों और परीक्षार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं और बहुत सामान्य स्तर के हैं।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न अगो को लेकर उन पर स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। इनका निर्देश उन अगो के विवेचन के प्रसग में किया जायेगा। सक्षेप में वर्त्तमान साहित्यशास्त्र की प्रगति का यही रूप है।

ग्रन्थ लेखक की प्रतिभा का परिचायक है। इस ग्रन्थ में 'काव्य या साहित्य के मूल सिद्धान्तों का सम्बन्ध मानव-जीवन के उन शाश्वत तत्त्वों के साथ बताया गया है जिनका परिचय हमें थोडा-बहुत रहता ही है। किन्तु उनकी विशेषता का वर्णन हम साधारणतया नहीं कर पाते हैं।' विवेचना शैली, सूझ-बूझ, गूढ-चिंतन इन सभी दृष्टियो से यह ग्रन्थ अनुपम है।

बलदेव उपाध्याय लिखित 'भारतीय साहित्यशास्त्र'—सस्कृत के मान्य पडित द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में सस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का विवेचन बडे पाडित्य के साथ किया गया है। सस्कृत काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायो आदि का इस ग्रन्थ में अच्छा विवेचन किया गया है। भारतीय समीक्षाशास्त्र के सिद्धान्तो का जितना सुन्दर निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है उतना हिन्दी के किसी और अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। अनेक दृष्टियो से यह ग्रन्थ बेजोड है।

सीताराम चतुर्वेदी लिखित 'समीक्षाशास्त्र'—ससार के विविध साहित्यशास्त्रो के सिद्धान्तो की यदि झाँकी देखनी हो तो यह ग्रन्थ पढना चाहिए। ग्रन्थ से लेखक के पाहित्य का अच्छा परिचय मिलता है। यह ग्रन्थ भी अपने ढग का एक ही है।

कुछ अन्य ग्रन्थ—उपर्युक्त ग्रथो के अतिरिक्त हिन्दी समीक्षा-शास्त्र के कुछ छोटे-छोटे ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। इनमें शिवनन्दनसहाय लिखित 'काव्यालोचन के सिद्धान्त', डा० सूर्यकात-लिखित 'साहित्य-मीमासा', रामनारायण यादवेन्द्र-प्रणीत 'साहित्य-लोचन के सिद्धान्त', तथा डा० सोमनाथ गुप्त प्रणीत 'आलोचना और उसके सिद्धान्त' तथा क्षेमचन्द्र 'सुमन' लिखित 'साहित्य-विवेचन' नामक ग्रन्थ विशेष दृष्टव्य हैं। ये सभी ग्रन्थ छात्रों और परीक्षार्थियो को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं और बहुत सामान्य स्तर के हैं।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न अगो को लेकर उन पर स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। इनका निर्देश उन अगो के विवेचन के प्रसग में किया जायेगा। सक्षेप में वर्त्तमान साहित्यशास्त्र की प्रगति का यही रूप है।